तो यह मानना ही पड़ता है कि सांसारिक विषय परस्पर-विरोधी और अनित्य होने के कारण चरम सत्य और परमार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। उनका वास्तविक तत्त्व कुछ दूसरा ही है जिसका हमें अन्वेषण करना चाहिए। बुद्धि ही यह चाहती है कि हम अपने जीवन को युक्ति के आधार पर उच्चतम सत्ता के अनुरूप बनावें और परमार्थ को प्राप्त करें। जैसे बच्चा सयाना होता है तो अपने बदले हुए दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन बदल लेता है। जो खिलौने उसकी दृष्टि में सबसे अधिक मूल्यवान प्रतीत होते थे वे ही अब अन्य मूल्यवान पदार्थों के सामने तुच्छ मालूम होते हैं। अतएव जीवन का उच्चतर आदर्श के अनुरूप पुनः संगठन करना व्यावहारिक जीवन को क्षति नहीं पहुँचाता वरन् जीवन को और अधिक उच्च और पूर्ण बनाता है। पशु, बच्चे और असभ्य मनुष्य जिन वासनाओं से

[illegible] मान लिया जाए तो ठीक ही

[illegible] करने को कहता है। किंतु

[illegible] करता है जो जीवन में

[illegible]

रही जीवन-संघर्ष में सफलता की बात। वनस्पति-जीवन, पशु-जीवन और मनुष्य-जीवन के क्षेत्रों में योग्यता और सफलता के भिन्न-भिन्न मानदंड हैं। मानव-जीवन में [illegible]म, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयांधता की अपेक्षा अधिक मूल्य है। और इन सद्गुणों को वेदांत के इस सिद्धांत से कि 'सभी जीव एक हैं', 'सर्व भूतों में एक ही आत्मा और सत्ता है, जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी और किसी सिद्धांत में नहीं।' अतएव यह कहना कि व्यावहारिक जीवन पर वेदांत का बुरा असर पड़ता है सरासर भूल है। वेदांत जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधनों पर जोर देता है, उसका लक्षण है आत्मदर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् सब विषयों में ब्रह्म की सत्ता देखना। जीवन के अविचारित अनुभव हमें इस ज्ञान से दूर ले जाते हैं, परंतु शुद्ध विचार के द्वारा यह ज्ञान प्रतिष्ठित होता है।

शंकराचार्य का वेदांत उपनिषदों के एकत्ववाद का युक्तिसिद्ध परिणाम है। अपने सभी गुण-दोषों के साथ, यह मानव-चिंतन के इतिहास में सबसे अधिक संगत अद्वैतवाद है। जैसा विलियम जेम्स[२] स्वामी विवेकानंद के द्वारा प्रतिपादित शांकर वेदांत की प्रशंसा में कहते हैं—"भारतवर्ष का वेदांत संसार के सभी अद्वैतवादों का शिरोमणि है।" यह सत्य है कि जो लोग सांसारिक नाम-गुणों के विषय में अपनी अधूरी धारणाओं की पुष्टि के लिए दर्शन का मुँह जोहते हैं, उन्हें वेदांत से निराश होना पड़ेगा। आदि बौद्ध और जैन दर्शनों की ताईं शंकर का अद्वैतवाद भी उन प्रौढ़ विचारवालों के लिए है जो दृढ़तापूर्वक युक्ति-मार्ग का अवलंबन करते हैं, चाहे वह जिस परिणाम पर ले जाए। ऐसे इने-गिने साहसी लोगों के लिए ही वेदांत का दुर्गम मार्ग है जो सामान्य अनुभव को उलट देता है और व्यावहारिक मूल्यों को तुच्छ बनाता है। परंतु तथापि अद्वैतवाद का भी अपना एक खास आकर्षण और आनंद है। जैसा जेम्स[२] कहते हैं—

उपसंहार

२ देखिए, William Jams का Pragmatism (पृ० १५१-४)

"एक अद्वितीय परब्रह्म, और मैं वह परब्रह्म ! यहाँ एक ऐसा धार्मिक विश्वास उत्पन्न हो जाता है जिसमें मन को संतुष्ट करने की असीम शक्ति है, इसमें विश्वासी व्यक्ति को सुरक्षा का भाव निहित है। हम सभी यह अहंकार का मधुर संगीत सुन सकते हैं। यह अपूर्व शक्तिदायिनी और उद्धारकारिणी शक्ति है।"

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत

(१) सृष्टि-विचार

उपनिषदों में सृष्टि का जो वर्णन पाया जाता है उसे रामानुज अक्षरशः यथार्थ मानते हैं। उनका मत है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर अपनी इच्छा से, स्वयं अपने से, यह नानात्व-विषयात्मक संसार उत्पन्न करते हैं। सर्वज्ञ ब्रह्म में चित् और अचित् (जड़) ये दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। अचित् प्रकृति तत्त्व है जिससे सभी भौतिक विषय उत्पन्न होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी प्रकृति तत्त्व को संसार का बीज या मूल माना गया है।[1] स्मृति-पुराणों में भी यही बात कही गई है। रामानुज इन ग्रंथों को विशेष महत्त्व देते हैं। वे प्रकृति को अजा (अनादि) तथा सत्य मानते हैं (जैसा सांख्यवाले मानते हैं)। परन्तु सांख्य से रामानुज का यह भेद है कि (रामानुज) प्रकृति को ईश्वर का अंश और ईश्वर के द्वारा संचालित मानते हैं। ठीक उसी तरह, जिस तरह शरीर आत्मा के द्वारा संचालित होता है। प्रलय की अवस्था में यह प्रकृति सूक्ष्म अविभक्त रूप में रहती है। उसी बीज से ईश्वर जीवात्माओं के पूर्वकर्मानुसार नानात्व-विषयात्मक संसार की रचना करते हैं। सर्वशक्तिमान परमेश्वर की इच्छा से अविभक्त सूक्ष्म प्रकृति क्रमशः तीन प्रकार के तत्त्वों में विभाजित हो जाती है—तेज, जल, पृथ्वी। उनमें क्रमशः ये तीन गुण पाए जाते हैं—सत्त्व, रज और तम। धीरे-धीरे ये तीनों तत्त्व परस्पर सम्मिलित हो जाते हैं और उनसे समस्त स्थूल विषयों की उत्पत्ति होती है जो भौतिक संसार में दृष्टिगोचर होते हैं।[2] संसार के प्रत्येक विषय में तीनों द्रव्यों का सम्मिश्रण है। यह सम्मिश्रण-क्रिया त्रिवृत् करण कहलाती है।

सृष्टि का विकास

रामानुज का मत है कि सृष्टि वास्तविक है और यह जगत् उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। उपनिषद् के जो वाक्य नानात्व का निषेध और एकत्व का प्रतिपादन करते हैं उनके संबंध में रामानुज का कहना है कि वे वाक्य उनके विषयों की सत्ता अस्वीकार नहीं करते, केवल यही बतलाते हैं कि उन सबों के अंदर एक ही ब्रह्म निहित है, जिस पर वे अवलम्बित हैं (जिस प्रकार स्वर्ण के सभी आभूषण स्वर्ण ही हैं)। उपनिषदों में विषयों की स्वतंत्र स्थिति हो को अस्वीकार किया गया है, उनकी परतंत्र स्थिति को नहीं।

सृष्टि सत्य है

---

1 देखिए, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-५ "अजाम् एकाम् लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्" और ४।१० "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।"

2 देखिए, ब्रह्मसूत्र १।४।८ पर रामानुज भाष्य।

रामानुज इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषद् (श्वेताश्वतर) में ईश्वर को मायावी कहा गया है। इसका वे यह अर्थ लगाते हैं कि जिस अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करते हैं वह मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है। माया का अर्थ है ईश्वर की 'विचित्रार्थ-सर्गकरी' (अद्भुत विषयों की सृष्टि करनेवाली) शक्ति। कभी-कभी माया से अघटन-घटना पटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।[1]

माया का अर्थ

सृष्टि और जगत् भ्रममात्र है, रामानुज इस बात को स्वीकार नहीं करते। अपना इस समर्थन करने के लिए वे कहते हैं कि सभी ज्ञान सत्य होता है (यथार्थं सर्वविज्ञानम्) और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है। रज्जु-सर्प वाले भ्रम में भी यह बात है। जो तीनो तत्त्व (तेज, जल, पृथ्वी) सर्प में विद्यमान हैं वे ही रज्जु में भी। इसलिए जब वस्तुतः सत् समान तत्त्व परिलक्षित होता है तब हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वहाँ असत् पदार्थ की प्रतीति नही होती। प्रत्येक विषय के मूल उपादान सभी विषयों में वर्तमान रहते हैं, अतः उसी प्रकार से सभी भ्रमों की उत्पत्ति हो सकती है।

ज्ञान सभी सत्य है

मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकराचार्य के बहुत दिन बाद हुए। अतः उन्हें शंकर तथा उनके अनुयायियों की आलोचना करने का अवसर मिला है। ब्रह्मसूत्र पर रामानुज ने भाष्य लिखा है वह रामानुज-भाष्य अथवा श्री भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य में उन्होंने वेदांत के अनेक जटिल प्रश्नों की विवेचना की है। शंकर के मायावाद पर उन्होंने बहुत आक्षेप किए हैं। यद्यपि अद्वैतवाद की तरफ से उनका समाधान भी किया गया है, तथापि शंकर और रामानुज इन दोनो के दृष्टिकोण अच्छी तरह समझाने में उनसे बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ शंकर के मायावाद पर रामानुज के मुख्य आक्षेप और अद्वैतवाद की ओर से उनके संक्षिप्त उत्तर दिए जाते हैं।

अज्ञान-विषयक शंका-समाधान

जिस अविद्या या अज्ञान से संसार की उत्पत्ति होती है, उसका आधार क्या है अर्थात् वह कहाँ (किसमें) रहता है? यदि यह कहा जाए कि वह जीवाश्रित रहता है तो यह शंका उत्पन्न होती है कि जीवत्व तो स्वयं अविद्या का कार्य है, फिर जो कारण है वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है? यदि कहा जाए कि अज्ञान ब्रह्माश्रित है तो फिर ब्रह्म को शुद्ध ज्ञान-स्वरूप कैसे कह सकते है?

(१) अज्ञान का आधार क्या है?

शंकराचार्य के अद्वैतमत की तरफ से इसका समाधान यों हो सकता है। अज्ञान को जीवाश्रित मानने से उपर्युक्त दोष तभी लग सकता है जब अज्ञान को कारण और जीव को उसका कार्य माना जाए। परंतु यदि वे दोनो एक ही वस्तु के दो परस्परापेक्ष सहवर्त्ती अंग मान लिए जाएँ (जैसे वृत्त और परिधि, अथवा त्रिभुज और उसके कोण) तो वह आपत्ति

[1] देखिए ब्रह्मसूत्र १।४।८।१०, १।१।३ और २।१।१५ पर श्री भाष्य, वेदांतसार और वेदांत-दीपिका (यहाँ गीता के अनुसार गुणों को प्रकृति से उत्पन्न धर्म माना गया है प्रकृति का तत्त्व नहीं।)

(५) भाव-रूप अज्ञान का नाश कैसे हो सकता है?

यदि माया को भावरूप अज्ञान भी मान लिया जाए, तो यह प्रश्न उठता है कि तब ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होना कैसे संभव है? भावरूप सत्ता का ज्ञान के द्वारा नाश नहीं हो सकता।

इसके विषय में अद्वैतियों का यह कहना है कि दैनिक जीवन में हमें जो रज्जु-सर्प [illegible] (जैसे सर्प) भावरूप से [illegible] [illegible] नष्ट हो जाता है। अतएव [illegible] यहाँ कोई असंगति नहीं है। इसी प्रकार रामानुज के अनुयायियों की तरफ से भी इनके प्रत्युत्तर दिए गए हैं। यह उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला अभी तक जारी है।

(२) ब्रह्म-विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्त्वों से [illegible]। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतंत्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। परंतु उसमें जो जीव और प्रकृति हैं सो भी वास्तविक हैं। [illegible] ता है क्योंकि उसके [illegible] है। उसकी एकता [illegible]

(१) विजातीय भेद,—जैसे, गाय और भैंस में।
(२) सजातीय भेद—जैसे, एक गाय और दूसरी गाय में।
(२) स्वगत भेद—जैसे, गो के पुच्छ और सींग में।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय (विजातीय और सजातीय भेद) ब्रह्म में नहीं [illegible] जा सकते। क्योंकि ब्रह्म का विजातीय या सजातीय कोई अपर पदार्थ नहीं। परन्तु [illegible] में स्वगत भेद का होना रामानुज मानते हैं, क्योंकि उसमें चित् और अचित्, ये दोनों [illegible] एक दूसरे से भिन्न हैं।

ब्रह्म सगुण है

ब्रह्म अनंत गुणों का भंडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कृपालु है। अतएव ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में जीव के हेय गुण (रागद्वेष आदि) नहीं पाया जाता[1] है, ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले हैं। जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब भी ब्रह्म में चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ये दोनो तत्त्व अपनी बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणामस्वरूप विषय बनते-बिगड़ते और बदलते रहते हैं परंतु उनका आधारभूत द्रव्य सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों के शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं परंतु उनके चित् तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक प्रकृति) से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों तथा भौतिक विषयों में व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है।

१ श्रीभाष्य १।१।१, 'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात् उपपद्यन्ते।'

नहीं होती । यदि अज्ञान को ब्रह्माश्रित माना जाए तो भी कोई दोष नहीं लगता । क्योंकि ब्रह्म को माया का आधार मानने का अर्थ है कि वह मायावी की तरह जीवों से अविद्या या भ्रम उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है । परंतु जिस तरह मायावी (जादूगर) स्वयं अपनी माया से ठगा नहीं जाता, उसी तरह ब्रह्म भी अपनी माया से अभिभूत नहीं होता ।

(२) अज्ञान ब्रह्म का नाश करनेवाला है

माना जाता है कि अज्ञान ब्रह्म को आच्छादित करता है। परंतु ब्रह्म स्वप्रकाश माना जाता है। यदि माया से ब्रह्म पर आवरण पड़ जाता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है और इस तरह ब्रह्म का लोप हो जाता है।

इसके उत्तर में शंकर के अनुयायी कहते हैं कि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म का जो आवरण होता है उसके कारण अज्ञानी जीव को ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप नहीं दीखता । जैसे, मेघ से आच्छादित हो जाने से सूर्य का दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य का लोप हो जाता है। उसी तरह अज्ञान के कारण ब्रह्म का लोप नहीं हो जाता । स्वप्रकाशता का अर्थ यह नहीं है कि बाधा होने पर भी प्रकाश का आवरण नहीं हो। अंधा (नेत्र के अभाव में) सूर्य को नहीं देख सकता, इससे सूर्य की स्वयं-प्रकाशता नष्ट नहीं होती ।

(३) अज्ञान सत् है या असत्

अज्ञान का स्वरूप क्या है ? कभी-कभी अद्वैतवादी माया को सत् और असत् दोनों से विलक्षण, अनिर्वचनीय मानते हैं । यह असंभव है । क्योंकि अनुभव यही सिद्ध करता है कि सभी पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् । इन दो विरुद्ध कोटियों के अतिरिक्त तीसरी कोटि नहीं हो सकती।

इसके उत्तर में अद्वैती का कहना है कि माया (तथा प्रत्येक भ्रम के विषय) को न सत् कहा जा सकता है न असत् । उसकी प्रतीति होती है, इस कारण वह वंध्यापुत्र या आकाश-कुसुम की तरह असत् नहीं मानी जा सकती (जिसकी कभी प्रतीति नहीं हो सकती)। पुनश्च वह कालांतर के अनुभव से बाधित हो जाती है, अतएव वह ब्रह्म या आत्मा की तरह सत् भी नहीं मानी जा सकती (जो कभी बाधित नहीं हो सकता) । इसीलिए माया या भ्रम को सत् और असत् इन दो सामान्य कोटियों से विलक्षण समझा जाता है। माया को अनिर्वचनीय कहने का अर्थ है कि हम उसे किसी सामान्य कोटि में नहीं रख सकते। यहाँ विरोध का दोष भी नहीं लगता। क्योंकि 'सत्' का अर्थ यहाँ 'पूर्णतः सत्य' और 'असत्' का अर्थ 'पूर्णतः असत्य' है । परंतु इन दोनों के बीच में तीसरी कोटि भी संभव है, जैसे पूर्ण प्रकाश और पूर्ण अंधकार के बीच में ।

(४) अज्ञान भाव-रूप कैसे हो सकता है ?

अद्वैतवादी प्रायशः माया या अविद्या को भावरूप अज्ञान कहते हैं। परंतु ऐसा कहने का कुछ अर्थ नहीं होता । अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव। तब फिर वह भाव-रूप कैसे माना जा सकता है ?

इसका उत्तर अद्वैतवाद की तरफ से यों दिया जाता है कि अज्ञानमूलक भ्रम (जैसे रज्जु-सर्प भ्रम) में केवल वस्तु के ज्ञान का अभाव मात्र ही नहीं रहता, विपर्यय का आभास (सर्प का भाव) भी रहता है । इसी अर्थ में माया को भाव रूप अज्ञान कहा गया है ।

(५) भाव-रूप अज्ञान का नाश कैसे हो सकता है ?

यदि माया को भावरूप अज्ञान भी मान लिया जाए तो यह प्रश्न उठता है कि तब ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होना कैसे संभव है? भावरूप सत्ता का ज्ञान के द्वारा नाश नहीं हो सकता।

इसके विषय में अद्वैतियों का यह कहना है कि दैनिक जीवन में हमें जो रज्जु-सर्प रीखे भ्रम हुआ करते हैं उनमें हम देखते हैं कि मिथ्या विषय (जैसे सर्प) भावरूप से प्रकट होता है और पुनः यथार्थ वस्तु (जैसे रज्जु) का ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। अतएव यहाँ कोई असंगति नहीं है। इसी प्रकार रामानुज के अनुयायियों की तरफ से भी इनके प्रत्युत्तर दिए गए हैं। यह उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला अभी तक जारी है।

(२) ब्रह्म-विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनो तत्त्वों से युक्त है। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतंत्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। परंतु उसमें जो जीव और प्रकृति हैं सो भी वास्तविक हैं। रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैत कहलाता है क्योंकि उनके अनुसार चित् और अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। उसकी एकता भेद-रहित नहीं है। वेदांती तीन प्रकार के भेद मानते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

(१) विजातीय भेद,—जैसे, गाय और भैंस में।

(२) सजातीय भेद—जैसे, एक गाय और दूसरी गाय में।

(२) स्वगत भेद—जैसे, गो के पुच्छ और सींग में।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय (विजातीय और सजातीय भेद) ब्रह्म में नही माने जा सकते। क्योंकि ब्रह्म का विजातीय या सजातीय कोई अपर पदार्थ नही। परंतु उसमें स्वगत भेद का होना रामानुज मानते हैं, क्योंकि उसमें चित् और अचित्, वे दोनो अंश एक दूसरे से भिन्न हैं।

ब्रह्म अनंत गुणों का भंडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कृपालु है। अतएव ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में जीव के हेय गुण (रागद्वेष आदि) नही पाया जाता[1] है, ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले हैं। जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब भी ब्रह्म में चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ये दोनो तत्त्व अपनी बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणामस्वरूप विषय बनते-बिगड़ते और बदलते रहते हैं परंतु उनका आधारभूत द्रव्य सदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों के शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं परंतु उसके चित् तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक प्रकृति) से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों तथा भौतिक विषयों में व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है।

ब्रह्म सगुण है

---

[1] श्रीभाष्य १।१।१, 'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात् उपपद्यन्ते।'

करते हुए रामानुज ईश्वर और जीव के भेद पर इतना जोर देते हैं कि वे भेदवाद के समर्थ से जान पड़ते हैं।[1] बादरायण सूत्र २।१।२२ पर उनका भाष्य देखने पर (कि ब्रह्म शरीरी जीव से भिन्न है) यह बात और पुष्ट हो जाती है। परंतु जब सूत्र २।१।१५ पर उनका भाष्य देखते हैं (कि कारण रूप ब्रह्म से जीव-जगत् अनन्य है) तो यह विचार पलट जाता है। रामानुज में दोनो विचार परस्पर विरोधी से जँचते हैं।

भेद, अभेद और भेदाभेद

परंतु जब सूत्र २।३।४२ पर उनका भाष्य पढ़ते हैं (कि जीव ब्रह्म का अंश मात्र है) तब यह विरोध मिट जाता है। क्योंकि वहाँ रामानुज स्पष्ट कहते हैं कि जीव को ब्रह्म का अंश मानने पर परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले श्रुतिवाक्यों का इस तरह सामंजस्य हो जाता है कि दोनो में भेद भी है और अभेद भी है अर्थात् जिस प्रकार संपूर्ण और अंश में भेद और अभेद दोनो हैं उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में भी समझ चाहिए।

अतएव रामानुज का यह मत प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीव और ईश्वर का संबंध भिन्न-भिन्न है। ईश्वर पूर्ण और अनंत है, जीव अपूर्ण और अणु है, इस दृष्टि से दोनो में भेद का संबंध है। जीव ईश्वर से अपृथक् है (और ईश्वर जीवों का आत्मा रूप है), इस दृष्टि से दोनो में अभेद, तादात्म्य या अनन्यत्व[2] का संबंध है। जीव ब्रह्म का अंश है, इस दृष्टि से दोनो में भेदाभेद का संबंध है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शनसंग्रह में कहते हैं कि रामानुज भेद, अभेद और भेदाभेद ये तीनो ही मानते हैं। काश्मीरक सदानंद भी अपनी अद्वैतब्रह्मसिद्धि में (पृ० १४३, २७०) पुनः-पुनः रामानुज को भेदाभेदवादी कहते हैं।

परंतु इस सिद्धांत में भी शंका है। क्योंकि रामानुज ने कई जगह भेद, अभेद और भेदाभेद, इन तीनो का खंडन किया है।[3] इस तरह अंतिम मत भी विचलित हो जाता है।

रामानुज में पूर्ण अभेद और पूर्ण भेद का खंडन तो समझ में आ सकता है। परंतु भेदाभेद का वह क्यों खंडन करते हैं, यह शंका उदित होती है, क्योंकि वे तो स्वयं इस विचार को श्रुतियों से समर्थन करते हैं कि भेद और अभेद दोनो ही सत्य हैं। जान पड़ता है कि भेदाभेद का खंडन करते समय दो तरह के प्रतिपक्षी उनके मन में हैं—

(१) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश वस्तुतः सर्वव्यापी आकाश से भिन्न नहीं है (परंतु सर्वव्यापी आकाश का उपाधि-परिच्छिन्न कल्पित रूप मात्र है), उसी प्रकार जीव सर्वव्यापी ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न नहीं है, परंतु ब्रह्म का एक कल्पित उपाधियुक्त रूप है। अर्थात् भेद कल्पित है, अभेद ही सत्य है।

(२) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव ब्रह्म का वास्तविक परिच्छिन्न परिणाम है।[4]

---

१ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१।
२ ये सब शब्द स्वयं रामानुजाचार्य के हैं।
३ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ और १।१।४
४ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१

अर्थात् जीव पहले से नहीं था। ब्रह्म में पहले भेद नहीं था। उसके परिणाम से भेद की सृष्टि हुई है।

प्रथम पक्ष के विरुद्ध रामानुज का यह आक्षेप है कि जब उपाधि कल्पना मात्र है तब जीव वस्तुतः ब्रह्म है, अतएव जीव के सभी दोष यथार्थतः ब्रह्म पर लागू हो जाते हैं। द्वितीय पक्ष के विरुद्ध उनकी यह युक्ति है कि जब ब्रह्म वस्तुतः जीव के रूप में परिणत हो जाता है तब जीव के समस्त दोष यथार्थतः ब्रह्म ही के दोष हैं। इन आपत्तियों का निराकरण करने के लिए रामानुज इस मत का

रामानुज का आशय

प्रतिपादन करते हैं कि चित् और अचित् ये दोनो ब्रह्म में नित्य वर्त्तमान हैं और सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न स्वरूप होते हुए भी नित्य अविच्छेद्य रूप से ब्रह्म से संबद्ध हैं। उनका ब्रह्म से वैसा ही संबंध है जैसा अंश का पूर्ण से, कार्य का उपादान कारण से या गुण का द्रव्य से। रामानुज का आशय यह मालूम होता है कि जिस तरह पूर्ण कभी अंश नहीं हो सकता या द्रव्य कभी गुण नहीं हो सकता, उसी तरह ब्रह्म कभी जीव नहीं हो सकता। ब्रह्म नित्य ब्रह्म है और उसके अंतर्गत जो जीव हैं वे नित्य जीव हैं। परंतु यदि ऐसा मान लेते हैं तो फिर ब्रह्म जीव का (या जगत् का) कारण कैसे कहा जा सकता है? कारण का अर्थ है जिससे कार्य उत्पन्न हो। प्राय: 'कारण' से उनका अभिप्राय नियत पूर्ववर्त्ती नहीं होकर उपादान

[illegible] ी जीवों या भूतों का [illegible] (अर्थात् यह नही कि [illegible] अपने सकल अंशों के [illegible]हित नित्य सत् है, वह कभी अंशरूप विशिष्ट जीव नही बनता और इसलिए उनके दोषों [illegible] युक्त नहीं होता।

अंशी और अंश की इस उपमा से ब्रह्म जीवों के दोषों से मुक्त होते है या नही यह [क]हना तो कठिन है। परंतु इतना स्पष्ट है कि रामानुज का आक्षेप सभी भेदाभेदवाद [के] विरुद्ध (जिसका उन्होंने सूत्र २।३।४२ के भाष्य में खुद समर्थन किया है) नही है [ब]ल्कि विशेष प्रकार के भेदाभेद के विरुद्ध है। उनके स्वीकृत भेदाभेद का अर्थ है "एकं [व]स्तु द्विरूपं प्रतीयते।[१] प्रकारद्वयावस्थितत्वात् समानाधिकरण्य।[३] *(अर्थात् एक ही [व]स्तु दो रूपों में दिखाई देती है)* वे जिन मतों का खंडन करते हैं वे ये हैं। (१) एक [ही] वस्तु भ्रमवश दो रूपों में दिखाई पड़ती है और (२) एक ही वस्तु यथार्थतः दो बन [जा]ती है। पूर्ण और अंश का भेदाभेद इन अर्थों में सही नहीं है। इनसे पहले जो कहा [ग]या है उस अर्थ में भेदाभेद रामानुज को मान्य है। *संपूर्ण अंशी होते हुए भी अपने अंशों [से] भिन्न है, तथापि उसकी सत्ता प्रत्येक अंश में रहती है, परंतु फिर भी वह एक ही है, [अ]नेक नहीं! (नहीं तो विभाजित हो जाता और पूर्ण नहीं रहता)*।

रामानुज भेद और अभेद दोनो को सत्य मानते हैं। परंतु आधार द्रव्य के एकत्व [क]ा उन्होंने जो प्रतिपादन किया है या अनेकत्व को जो उसपर आश्रित माना है, उसे [दे]खते हुए जान पड़ता है कि उन्होने भेद से अधिक अभेद पर ही जोर दिया है।

देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ (पृ० १५०)
देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ (पृ० ६४)

उपर्युक्त विचार हमें रामानुज और निम्बार्क (ये भी भेदाभेदवादी हैं) का भेद समझने में भी सहायता पहुँचा सकता है। जैसा घाटे कहते हैं—"निम्बार्क और रामानुज के मतों में बहुत समानता है। दोनों भेद और अभेद को वास्तविक मानते हैं। परंतु निम्बार्क के लिए भेद और अभेद, इन दोनों ही का एक ही महत्त्व है, ये दोनों एक ही स्तर के हैं। परंतु रामानुज अभेद को मुख्य और भेद को गौण मानते हैं।"[1] इसलिए जहाँ निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत कहलाता है वहाँ रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

भेद, अभेद और भेदाभेद के संबंध में रामानुज के मत को स्पष्ट करने के लिए कुछ लोग उनके मत को सामान्य कोटियों से परे एक निराली कोटि में रखते हैं, जिनको वे 'अपृथक् स्थिति' का नाम देते हैं।

रामानुज के अनुसार मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य हैं। ब्रह्म के अचित् अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य होता है। वह भी ईश्वर का ही अंश है। शरीर और आत्मा दोनों ही अंश होने के कारण सीमित होते हैं। अतएव आत्मा को उपनिषदों में जो सर्वव्यापी कहा गया है उसका स्थूल अर्थ नहीं लेना चाहिए। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि आत्मा इतना सूक्ष्म है कि वह प्रत्येक अचित् या भौतिक तत्त्व में प्रवेश कर सकता है।[2] रामानुज आत्मा को सर्वव्यापी नहीं मानते। इसलिए वे उसे अणु मानते हैं क्योंकि यदि आत्मा को महत् या अणु—इन दोनों में कुछ भी नहीं माना जाए तो उसे सावयव वस्तुओं की तरह मध्यम-परिणामवाला और अतएव विनाशशील मानना पड़ेगा। आत्मा का चैतन्य औपाधिक नहीं अर्थात् शरीर संयोग पर आश्रित नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है और प्रत्येक अवस्था में उसमें विद्यमान रहता है। परंतु अद्वैतों के समान रामानुज ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते हैं। ज्ञान आत्मा का धर्म है, आत्मा धर्मी है। सुषुप्तावस्था में भी आत्मा को यह ज्ञान रहता है 'मैं हूँ'। इसी 'अहम्' (मैं) शब्द के द्वारा सूचित होनेवाले पदार्थ को रामानुज 'आत्मा' कहते हैं।[3]

शरीर और आत्मा

आत्मा का बंधन कर्म का परिणाम है। कर्म के फलस्वरूप आत्मा को शरीर प्राप्त होता है। शरीरयुक्त होने पर आत्मा का चैतन्य शरीर और इंद्रियों से बद्ध हो जाता है। यद्यपि आत्मा अणुरूप है तथापि वह शरीर के प्रत्येक भाग को चैतन्ययुक्त कर देता है। जैसे, छोटा-सा दीपक संपूर्ण कोठरी को प्रकाशित कर देता है। उस चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा अपना रूप मानने लगता है। अनात्म-विषय में इस आत्मबुद्धि को ही अहंकार कहते हैं। यही अविद्या है।[4]

बंधन कर्मज होता है

---

१ देखिए V. S. Ghate का The Vedanta (पृ० ३२)
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
महङ्कार. । सूक्ष्मतया" १।१।१

कर्म और ज्ञान द्वारा भक्ति का उदय होता है जिससे मुक्ति मिलती है। कर्म से ामानुज का अभिप्राय है वेदोक्त कर्मकाड (अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक र्म)। इनका आजीवन कर्त्तव्य-बुद्धि से (बिना स्वर्गादि प्राप्ति की कामना से) आचरण रना चाहिए। इस तरह का निष्काम कर्म पूर्वजन्मार्जित उन संस्कारों को दूर कर देता जो ज्ञान की प्राप्ति मे बाधास्वरूप होते हैं। इन कर्मों के विधिवत् संपादन के लिए मीमांसा दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। रामानुज वेदांत के अध्ययन से पहले मीमांसा का अध्ययन आवश्यक समझते हैं। मीमांसा के अध्ययन तथा कर्मकांड के विधिवत् अनुष्ठान के अनंतर यह ज्ञान हो ाता है कि इन कर्मों से स्थायी कल्याण या मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। तव ाधक को वेदांत की ओर प्रवृत्ति होती है। वेदांत उसे जगत् का वास्तविक तत्त्व तलाता है। तव उसे बोध होता है कि वह शरीर से भिन्न (आत्मा) है और वस्तुतः श्वर का अंश है जो उसके अंतर्यामी हैं। यही ईश्वर या परमात्मा जगत् की सृष्टि, ालन और संहार करनेवाले है। तव उसे यह भी अनुभव होता है कि मुक्ति केवल ध्ययन और तर्क से नहीं होती, किंतु ईश्वर की करुणा से होती है।

ोक्ष का साधन

कोरा वेदांत का अध्ययन केवल पुस्तकीय विद्या है और उससे मुक्ति नहीं मिल कती। उपनिषदों का ठीक कहना है कि ज्ञान से मुक्ति मिलती है। परंतु यहाँ ज्ञान का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द-ज्ञान नही है। यदि सो होता तो वेदांत पढ़ लेने के साथ ही लोग तुरत मुक्त हो जाते। यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुव स्मृति या निरंतर स्मरण को कहते हैं। यही ध्यान उपासना या भक्ति है।[1] ज्ञान के साधन को कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करते ए निरंतर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। ईश्वर में यह अनन्य भक्ति ही ईश्वर में पत्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण लाती है। भक्ति और प्रपत्ति को मोक्ष का साधन माना ाता है।[2] यही मुक्ति का चरम साधन है। इससे समस्त अविद्या और कर्मों का जिनके कारण शरीर की उत्पत्ति है) नाश हो जाता है। अतएव जिस आत्मा को मात्मा का साक्षात्कार हो जाता है वह सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह फिर र्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता। साधक की भक्ति प्रपत्ति से संतुष्ट होकर ईश्वर ही उसके र्ग से बाधाओं को हटा देते हैं और उसे मोक्ष देते है।[3] जो ईश्वर की शरण में अपना त्मसमर्पण कर देता है और उन्ही का अविरत चितन करते-करते उनमें तल्लीन हो ाता है, वह भवसागर को पार कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

ावर-भक्ति
ार प्रपत्ति

"अतो······ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यं ज्ञानम्।" "वेदनम् उपासनं स्यात्।"
"उपासनापर्यायत्वात् भक्तिशब्दस्य।"—श्रीभाष्य १।१।१

यतीन्द्र मतदीपिका (पृ० ४०) "भक्तिप्रपत्त्योरेव मोक्षसाधनत्वस्वीकारात्।"

तत्र (पृ०३८) "भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एव मोक्षं ददाति"

मुक्ति का स्वरूप

(ब्रह्मप्रकार) हो जाता है। उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, उसका यही अर्थ है।[१]

जैसा हम पहले देख चुके हैं, शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव का भेद-भाव नष्ट होकर उसका ब्रह्म हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा अपने को पूर्णतः परमात्मा में लीन कर देता है, जिससे अंततः केवल ब्रह्म या परम तत्त्व ही रह जाता है।

उपसंहार

इस विचार से अद्वैतवादी की धार्मिक भावना को संतोष होता है। किंतु रामानुज जैसे सगुण ईश्वर के उपासक को इतने ही से संतोष नहीं होता। भक्त के ईश्वर-प्रेम की पूर्ण संतुष्टि के लिए आत्मशुद्धि और आत्मसमर्पण तो आवश्यक है, परंतु आत्म-लय नहीं। भक्त के लिए सबसे बड़ा आनंद है ईश्वर की अनंत महिमा का अनवरत ध्यान; और इसी आनंद के उपभोग के लिए उसका अपना अस्तित्व आवश्यक है। समस्त प्रकार के अज्ञान और बंधनों से मुक्त हो जाने पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म-चिंतन का असीम आनंद अनुभव करता है।[२]

---

१ "ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारता उच्यते।" श्रीभाष्य (पृ० ७१)

२ देखिए, श्रीभाष्य, चतुर्थ अध्याय का चतुर्थपाद।

ग्रंथ-चयन

चार्वाक-दर्शन

दक्षिणारंजन शास्त्री	... A Short History of Indian Materialism (Book Company, Calcutta)
" "	... चार्वाक-षष्टि (Book Company)
माधवाचार्य	... सर्व-दर्शन-संग्रह (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना)—चार्वाक-प्रकरण
हरिभद्र	... षड्-दर्शन-समुच्चय
वात्स्यायन	... काम-सूत्र, अध्याय १–२
राधाकृष्णन	... Indian Philosophy खंड १, अध्याय ५

जैन-दर्शन

उमास्वामी	... तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (जैमिनीकृत अँगरेजी अनुवाद के सहित The Central Publishing House, Arrah India)
सिद्धसेन दिवाकर	... न्यायावतार (सतीश चंद्र विद्याभूषणकृत अँगरेजी अनुवाद और भूमिका के सहित; The Indian Research Society, Calcutta)
मल्लिसेन	... स्याद्वाद-मंजरी (हेमचंद्र की टीका के सहित; चौखंबा संस्कृत सिरीज, वाराणसी)
हरिभद्र	... षड्-दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका के सहित (Asiatic Society, Calcutta); मणिभद्र की टीका के सहित (चौखंबा)—जैन-प्रकरण।
Hermann Jacobi	... The Jaina Sutras (अँगरेजी अनुवाद, Sacred Books of the East Series)
नेमिचंद्र	... द्रव्य-संग्रह (घोषाल कृत अँग्रेजी अनुवाद सहित; Central Jaina Publishing House, Arrah)
S. Stevenson	... The Heart of Jainism (Oxford University Press)

बौद्ध-दर्शन

Rhys Davids	... Dialogues of the Buddha (दो भागों में अँगरेजी अनुवाद, Sacred Book of the Buddhists Series)
Mrs. Rhys Davids	... Buddhism (Home University Library)
H. C. Warren	... Buddhism in Translations (Harvard University Press)
Yamakami Sogen	... Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University)

D. T. Suzuki ... Outlines of Mahayana Buddhism (Luzac and Co.)

B. M. Barua ... A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy (Calcutta University)

S. Radhakrishnan ... The Dhammapada (अँगरेजी अनुवाद; George Allen And Unwin Ltd.)

न्याय-दर्शन

जीवानंद विद्यासागर ... न्याय-दर्शन, वात्स्यायन के 'भाष्य' विश्वनाथ की 'वृत्ति' सहित (कलकत्ता)

" " ... तर्कसंग्रह, तत्त्वदीपिका और विवृति सहित (कलकत्ता)

केशव मिश्र ... तर्क भाषा (मूल ग्रंथ, अँगरेजी अनुवाद सहित; Oriental Book Supplying Agency Poona)

जरे ... कारिकावली (भाषापरिच्छेद) सिद्धांत-मुक्तावली दिनकरी और रामरुद्री सहित (Nirnaya Sagar Press, Bombay)

माधवाचार्य ... सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय ११

उदयन ... न्यायकुसुमाञ्जलि (मूल ग्रंथ, चौखम्बा; Cowel कृत अँगरेजी अनुवाद के सहित)

धर्म राजाध्वरींद्र ... वेदांतपरिभाषा, अध्याय १—३ वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

ब्रजेंद्रनाथ शील ... The positive Sciences of the Ancient Hindus (Longmans)—अध्याय ७

गंगानाथ झा ... न्याय-सूत्र, भाष्य और वार्तिक सहित (अँगरेजी अनुवाद, Indian Thought Allahabad)

राधाकृष्णन ... Indian Philosophy खंड २ अध्याय २

हरिमोहन झा ... न्याय-दर्शन, पुस्तकभंडार, पटना

वैशेषिक-दर्शन

प्रशस्तपाद ... पदार्थधर्मसंग्रह (चौखम्बा, बनारस)

श्रीधर ... न्यायकंदली (विजयनगरम् संस्कृत सिरीज मेंजेरस एंड कंपनी, बनारस)

गंगानाथ झा ... पदार्थधर्मसंग्रह तथा न्यायकंदली का अँगरेजी अनुवाद (लैजेरस एंड कंपनी बनारस)

जगदीश तर्कालंकार ... तर्कामृत (कलकत्ता)

वल्लभाचार्य ... न्यायलीलावती (निर्णयसागर, बंबई)

लौगाक्षि भास्कर ... तर्क-कौमुदी (निर्णयसागर, बंबई)

माधवाचार्य ... सर्वदर्शनसंग्रह (वैशेषिकवाला अध्याय)

नंदलाल सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का अँगरेजी अनुवाद (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

प्रभुनाथ सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का हिंदी अनुवाद (बंबई)

J. C. Chatterjee ... The Hindu Realism (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

A. B. Keith ... Indian Logic and Atomism
हरिमोहन झा ··· वैशेषिक दर्शन, पुस्तकभंडार, पटना
बलदेव उपाध्याय ··· भारतीय दर्शन

सांख्य-दर्शन

कृष्णनाथ न्यायपंचानन ··· तत्त्व कौमुदी (कलकत्ता)
कालीवर वेदांत वागीश ··· सांख्य सूत्र (अनिरुद्ध वृत्तिसहित, कलकत्ता)
सूर्य नारायण शास्त्री ··· ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका का अँगरेजी अनुवाद (मद्रास युनिवर्सिटी)
R. C. Bhatta ··· सांख्य प्रवचन भाष्य (चौखम्बा, बनारस)
माधवाचार्य ··· सर्वदर्शन संग्रह (सांख्य प्रकरण)
नंदलाल सिंह ... The Samkhya Philosophy, Indian Press
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy Vol. I, Chap. IV
सुरेंद्रनाथ दास गुप्त ... History of Indian Philosophy, Vol. I, Chap. VII
A. B. Keith ... The samkhya System
A. K. Majumdar ... The Samkhya Conception of Personality (Calcutta University)
रामगोविंद त्रिवेदी ··· दर्शनपरिचय (सांख्यवाला अध्याय)
बलदेव उपाध्याय ··· भारतीय दर्शन

योग-दर्शन

पूर्णचंद्र वेदांतचंचु ··· योगसूत्र, भाष्य सहित (कलकत्ता)
कालीवर वेदांत वागीश ··· पातंजल सूत्र, भोजवृत्ति सहित (कलकत्ता)
माधवाचार्य ··· सर्वदर्शन संग्रह (योगवाला अध्याय)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy, Vol. II, Chap. V
सुरेंद्रनाथ दास गुप्त ... The Study of Patanjala Yoga as Philosophy and Religion (Kegan Paul)
G. Coster ... Yoga and Western Psychology (Oxford University Press)
N. K. Brahma ... The Philospphy of Hindu Sadhana (Kegan Paul)
हरिहरानंद आरण्य ··· पातंजल योगदर्शन
रामगोविंद त्रिवेदी ··· दर्शनपरिचय (योगवाला अध्याय)
बलदेव उपाध्याय ··· भारतीय दर्शन (योगवाला अध्याय)
कल्याण ··· योगांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)

मीमांसा-दर्शन

जैमिनी ··· मीमांसासा सूत्र (सावर भाष्य सहित)
कुमारिल भट्ट ··· श्लोक वार्त्तिक
गंगानाथ झा ··· जैमिनी के मीमासा सूत्र का अँगरेजी अनुवाद (प्रयाग)

गंगानाथ झा ... श्लोकवार्तिक का अंगरेजी अनुवाद (प्रयाग)
" ... Prabhakar School of Purva Mimamsa (Allahabad)
पार्थसारथि ... शास्त्रदीपिका, तर्कपाद (निर्णयसागर, बम्बई)
शालिकनाथ ... प्रकरणपंजिका (चौखम्बा, बनारस)
पशुपतिनाथ शास्त्री ... Introduction to the Purva Mimamsa (Calcutta)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosphy, Vol. II, Chap. VI
A. K. Keith ... Karma Mimamsa
बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन (मीमांसा प्रकरण)

वेदांत-दर्शन

V. L. Sastri ... One Hundred and Eight Upanishad (Nirnaya Sagar, Bombay)
Hume ... The Thirteen Principal Upanishad (English Translation)
R. D. Ranade ... A Constructive survey of Upanishad Philosophy (Poona)
Deussen ... The Philosophy of The Upanishads
शंकर ... ब्रह्मसूत्रभाष्य (निर्णयसागर, बंबई)
रामानुज ... " " (श्री वेंकटेश्वर कं०)
G. Thibut ... The Vedanta Sutras (With the Commentaries of Sankara and Ramanuja English Translation S. B. E. Series)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy, Vol. II, Chap. VII-IX
M. N. Sarkar ... The System of Vedantic Thought and Culture (Calcutta)
कोकिलेश्वर शास्त्री ... The Introduction to Advaita Philosophy (Calcutta)
S. K. Das ... A study of Vedanta (Calcutta)
W. S. Urquhart ... The Vedanta and Modern Thought (Oxford University Press)
R. Das ... The Essentials of Advaitism (Lahore)
V. S. Ghate ... The Vedanta (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona)
M. Hiryanna ... Outlines of Indian Philosophy
बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन (वेदान्तवाला अध्याय)
सूरजमल मिमाणी ... ज्ञानरत्नाकर
" ... दर्शनतत्त्वरत्नाकर (२ भाग)
गंगाप्रसाद उपाध्याय ... अद्वैतवाद
कल्याण ... वेदांतांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)

ारों के विरुद्ध जो आक्षेप किए गए हैं उनका समाधान भी ब्रह्म-सूत्र में किया गया है। -सूत्र ही वेदांत का सबसे पहला क्रम-बद्ध ग्रंथ है। इसी तरह मीमांसा के लिए जैमिनी याय के लिए गौतम ने, वैशेषिक के लिए कणाद ने, योग के लिए पतंजलि ने सूत्र-ग्रंथों रचना की है। कपिल सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'सांख्य-सूत्र' के रचयिता ल ही समझे जाते हैं। किंतु, सांख्य-सूत्र जो आजकल प्राप्त है वह कपिल का मूल नहीं माना जाता है। प्राप्य ग्रंथों में ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' ही सांख्य की े प्राचीन और प्रामाणिक रचना समझी जाती है।

सूत्र अत्यंत संक्षिप्त, सारगर्भित एवं व्यापक होते थे।[१] अनेक विषयों को सूचित करने ारण इन्हें "सूत्र" कहा गया है। परंतु उनका अर्थ सहज बोधगम्य नहीं होता था। :, उनकी व्याख्या के लिए टीकाएं हुईं। सूत्र-ग्रंथ की टीका को भाष्य[२] कहते हैं।

-ग्रंथों के भाष्य

भाष्यों के नामों तथा अन्य विशेषताओं के संबंध में आगे वर्णन किया जाएगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी अनेक भाष्यकारों द्वारा व्याख्या किए जाने के कारण एक सूत्र-ग्रंथ के भी अनेक ्य हुए। भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में अपने-अपने मतों की पुष्टि की। उदा- गार्थ शंकर, रामानुज, श्रीकंठ, मध्व, वल्लभ, निंबार्क, बलदेव आदि भाष्यकारों

्यों को ्वस्था तथा तंत्र ग्रंथ

ने ब्रह्म-सूत्र के भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे। भाष्य-भेद के अनुसार वेदांत के अनुयायियों की अलग-अलग गोष्ठियाँ बनीं। इस प्रकार वेदांत की अनेक शाखाएँ हो गईं। ये शाखाएँ आजकल भी विद्यमान हैं। भाष्य-युग के भाष्यों की भी व्याख्याएँ लिखी गईं। दर्शनों के संक्षिप्त विवरण के लिए तथा उनकी व्याख्या एवं आलोचना के लिए स्वतंत्र ा भी लिखे गए। आस्तिक दर्शनों के साहित्य का यही संक्षिप्त इतिहास है।

नास्तिक दर्शनों के विकास का इतिहास भी प्रायः इसी प्रकार है। किंतु, उनका कास सूत्र-भाष्य के क्रम से नहीं हुआ है। उनके विकास का विवरण यथास्थान आगे ा जाएगा।

मों तो भारतीय दर्शनों में सिद्धांतों की अनेक भिन्नताएँ हैं, फिर भी उनके अंतर्गत

ारतीय दर्शनों में

सामंजस्य भी है। सभी व्यक्ति सभी कार्यों के योग्य नहीं होते। विशेषतः धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक विषयों के लिए योग्यता-

धिकार का भेद

नुसार अधिकार भेद होता है। जितने भारतीय दर्शन हैं, सभी मानो व्यावहारिक जीवन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन हैं। ार्वाक के भौतिकवाद से लेकर शंकर के वेदांत तक जितने दर्शन हैं, सभी योग्यता तथा ्वभाव के अनुसार विचारमय जीवन बिताने के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इसी कारण भिन्न दर्शनों के अनुयायियों का अधिकार भेद निरूपित होता था। किंतु इससे यह

---

[१] अल्पाक्षरम् असन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

[२] सूत्रार्थो वर्ण्यते येन पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

स्पष्ट है कि सभी दर्शन व्यवहार के योग्य होते थे। इसके अतिरिक्त भी भारती दर्शनों में और अनेक बातें हैं जिन्हें हम भारतीय संस्कृति की विशेषता कह सकते हैं

(६) भारतीय दर्शनों की विशेषताएँ

दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्श की उत्पत्ति स्थान-विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः दर्शन में स्थानि विचारों की छाप अवश्य पाई जाती है। भारतीय दर्शनों मतभेद तो पाया जाता है, किंतु भारतीय संस्कृति की छाप के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। इस साम्य को भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य कह सकते हैं भली-भाँति समझने के लिए इसके मुख्य-मुख्य लक्षणों का विच करना परम आवश्यक है।

भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य

(१) भारतीय दर्शनों का सबसे महत्वपूर्ण तथा मूलभूत साम्य यह है कि सभी पुरुषार्थ-साधन के लिए हैं। इसका विचार अंशतः हम ऊपर कर चुके हैं भारत में सभी दर्शन मानते हैं कि दर्शन जीवन के लिए बहुत उपयोगी होता है अतः, जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए दर्शन का परिशील नितांत आवश्यक है। दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक कौतूह की निवृत्ति नहीं है बल्कि किस प्रकार मनुष्य दूर-दृष्टि, भवि दृष्टि तथा अंतर्दृष्टि के साथ जीवन-यापन कर सके—इसी शिक्षा देनी है। यही कारण है कि भारत के ग्रंथकार अपने-अपने ग्रंथों के आरंभ यह बता देते हैं कि उनके ग्रंथों से पुरुषार्थ साधन में क्या सहायता मिल सकती है

भारतीय दर्शनों का उद्देश्य

कुछ पाश्चात्य विद्वानों[1] का कथन है कि भारतीय दर्शन केवल नीति-शास्त्र, धर्म शास्त्र है। यह सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक उद्देश्य अवश्य है किंतु, हम इसका विचार नीति-शास्त्र में नहीं कर सकते। भारतीय दर्शनों में युक्ति विचार (Theories) की उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय तत्त्व-विज्ञान, प्रमाण-विज्ञा तथा तर्क-विज्ञान के विचारों की दृष्टि से किसी भी पाश्चात्य दर्शन से हीन नहीं है।

(२) भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वदा अंधकारमय बना रहता है। दुःखों के कारण मन में सर्वदा अशांति बनी रहती है। मानसि अशांति से विचार की उत्पत्ति होती है। वेदानुकूल या वेद-विरोध जितने भी दर्शन हैं सबमें दुःख-निवारण के लिए ही विचार उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है—इसे जानने लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश हो—इसके लि सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अंतर्निहित तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं।

आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति होती है।

---

१ Thilly का History of Philosophy पृष्ठ ३ तथा Stace का A Critica History of Greek Philosophy, पृष्ठ १४ देखिए।

नैराश्य मन की एक प्रवृत्ति है जो जीवन को विषादमय समझती है। कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय दर्शन पूरा नैराश्यवादी है। अतः व्यावहारिक जीवन पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। किंतु यह विचार सर्वथा असत्य है। हाँ, भारतीय दर्शन इस अर्थ में अवश्य नैराश्यवादी है कि यह संसार की वस्तुस्थिति को देखकर चिंतित और व्यथित हो जाता है। किंतु, वह यथार्थतः निराश नहीं होता वरं संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिए पूरा प्रयत्न करता है।

क्या भारतीय दर्शन नैराश्यवादी है ?

मनुष्य साधारणतः अपने उद्वेगों एवं तृष्णाओं के वशीभूत हो जीवन व्यतीत करता है। उसके उद्वेग अज्ञान से भरे होते हैं, तथा उसकी तृष्णाएँ सहज शांत नहीं होती हैं। फल यह होता है कि उसके दुःखों का अंत नहीं होता है। वे अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं। कोई भी दर्शन इस प्रकार जीवन को सर्वथा दुःखमय बताकर निश्चित नहीं हो सका। भारतवर्ष का प्राचीन नाटक भी शायद ही दुःखांत होता था। यह भी भारतीय दार्शनिक विचारधारा का ही प्रभाव जान पड़ता है। हम अज्ञानवश जिन दुःखों का भोग करते हैं उनका विशद वर्णन भारतीय दर्शनों में अवश्य किया गया है। किंतु, साथ-साथ उनसे आशा का संदेश भी मिलता है। इन विचारों का सारांश महात्मा बुद्ध के चार आर्य-सत्यों में पाया जाता है। महात्मा बुद्ध के समस्त ज्ञान का निचोड़ उनके आर्य-सत्यों में ही मिलता है। ये इस प्रकार हैं—(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का निरोध है। (४) दुःख-निरोध का मार्ग है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति नैराश्य से है, किंतु अंत में वह आशा ही का मार्ग दिखलाता है। युक्तिहीन आशावादी की अपेक्षा नैराश्यवाद का प्रभाव ही जीवन पर अधिक हितकर है।[1] एक प्रख्यात अमेरिकन अध्यापक[2] कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से आशावाद नैराश्यवाद की अपेक्षा हेय प्रतीत होता है। क्योंकि नैराश्यवाद विपत्तियों से सावधान कर देता है, किंतु आशावाद झूठी निश्चितता में सुला देता है।

भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा निराश नहीं होते, वरन् जिसके कारण उनमें आशा का संचार होता रहता है। इसे हम विलियम जेम्स (William James) के शब्दों में अध्यात्मवाद (Spiritualism) कह सकते हैं। जेम्स साहब के अनुसार अध्यात्मवाद उसे कहते हैं जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।[3]

हमारी जितनी आकांक्षाएँ हैं उनमें नैतिक व्यवस्था की आकांक्षा भी सम्मिलित है। दांते और वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवियों को नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व में पूरा-पूरा विश्वास था। यही कारण है कि उनकी कविताओं में एक अलौकिक शक्ति पाई जाती है जिससे पाठकों में स्फूर्ति बढ़ती है और उनके हृदय में आशा का संचार होता है। भारत के सभी दर्शनों में नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्तमान है।

जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था

---

१ विशद वर्णन के लिए प्रो० राधाकृष्णन् का Indian Philosphy प्रथम भाग, पृष्ठ ४६-५० देखिए।

२ G. H. Palmer in Contemporary American Philosophy.

३ Pragmatism, पृ० १०६-१०७ देखिए।

स्पष्ट है कि सभी दर्शन व्यवहार के योग्य होते थे। इसके अतिरिक्त भी भारतीय दर्शनों में और अनेक बातें हैं जिन्हें हम भारतीय संस्कृति की विशेषता कह सकते हैं

(६) भारतीय दर्शनों की विशेषताएँ

दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्शन की उत्पत्ति स्थान-विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः दर्शन में स्थानीय विचारों की छाप अवश्य पाई जाती है। भारतीय दर्शनों में मतभेद तो पाया जाता है, किंतु भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। इस साम्य को हम भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य कह सकते हैं। भली-भाँति समझने के लिए इसके मुख्य-मुख्य लक्षणों का विचार करना परम आवश्यक है।

भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य

(१) भारतीय दर्शनों का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मूलभूत साम्य यह है कि सभी पुरुषार्थ-साधन के लिए हैं। इसका विचार अंशतः हम ऊपर कर चुके हैं। भारत के सभी दर्शन मानते हैं कि दर्शन जीवन के लिए बहुत उपयोगी होता है, अतः, जीवन के सत्य को समझने के लिए दर्शन का परिशीलन नितांत आवश्यक है। दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति नहीं है बल्कि किस प्रकार मनुष्य दूर-दृष्टि, भविष्य-दृष्टि तथा अंतर्दृष्टि के साथ जीवन-यापन कर सके—इसी की शिक्षा देना है। यही कारण है कि भारत के ग्रंथकार अपने-अपने ग्रंथों के आरंभ में यह बता देते हैं कि उनके ग्रंथों से पुरुषार्थ साधन में क्या सहायता मिल सकती है

भारतीय दर्शनों का उद्देश्य

कुछ पाश्चात्य विद्वानों[1] का कथन है कि भारतीय दर्शन केवल नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र है। यह सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक उद्देश्य अवश्य है, किंतु, हम इसका विधान नीति-शास्त्र से नहीं कर सकते। भारतीय दर्शनों में युक्ति विचार (Theories) की उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय तत्त्व-विज्ञान, प्रमाण-विज्ञान तथा तर्क-विज्ञान के विचारों की दृष्टि से किसी भी पाश्चात्य दर्शन से हीन नहीं है।

(२) भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अंधकारमय बना रहता है। दुःखों के कारण मन में सर्वदा अशांति बनी रहती है। मानसिक अशांति से विचार की उत्पत्ति होती है। वेदान्तसूत्र या वेद-विरोधी जितने भी दर्शन हैं सबमें दुःख-निवारण के लिए ही विचार की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है—इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश हो—इसके लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के सर्वाङ्गीण तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं।

आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति होती है।

---

[1] Thilly का History of Philosophy पृष्ठ ३ तथा Stace का A Critical History of Greek Philosophy, पृष्ठ १४ देखिए।

नैराश्य मन की एक प्रवृत्ति है जो जीवन को विषादमय समझती है। कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय दर्शन पूरा नैराश्यवादी है। अतः व्यावहारिक जीवन पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। किंतु यह विचार सर्वथा असत्य है। हाँ, भारतीय दर्शन इस अर्थ में अवश्य नैराश्यवादी है कि वह संसार की वस्तु-स्थिति को देखकर चिंतित और व्यथित हो जाता है। किंतु, यह यथार्थतः निराश नहीं होता वरं संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिए पूरा प्रयत्न करता है।

क्या भारतीय दर्शन नैराश्य-वादी है ?

मनुष्य साधारणतः अपने उद्वेगों एवं तृष्णाओं के वशीभूत हो जीवन व्यतीत करता है। उसके उद्वेग अज्ञान से भरे होते हैं, तथा उसकी तृष्णाएँ सहज शांत नहीं होती हैं। फल यह होता है कि उसके दुःखों का अंत नहीं होता है। ये अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं। कोई भी दर्शन इस प्रकार जीवन को सर्वथा दुःखमय बताकर निश्चित नहीं हो सका। भारतवर्ष का प्राचीन नाटक भी शायद ही दुःखांत होता था। यह भी भारतीय दार्शनिक विचारधारा का ही प्रभाव जान पड़ता है। हम अज्ञानवश जिन दुःखों का भोग करते हैं उनका विशद वर्णन भारतीय दर्शनों में अवश्य किया गया है। किंतु, साथ-साथ उनसे आशा का संदेश भी मिलता है। इन विचारों का सारांश महात्मा बुद्ध के चार आर्य-सत्यों में पाया जाता है। महात्मा बुद्ध के समस्त ज्ञान का निचोड़ उनके आर्य-सत्यों में ही मिलता है। ये इस प्रकार हैं—(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का निरोध है। (४) दुःख-निरोध का मार्ग है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति नैराश्य से है, किंतु अंत में वह आशा ही का मार्ग दिखलाता है। युक्तिहीन आशावादी की अपेक्षा नैराश्यवाद का प्रभाव ही जीवन पर अधिक हितकर है।[१] एक प्रख्यात अमेरिकन अध्यापक[२] कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से आशावाद नैराश्यवाद की अपेक्षा हेय प्रतीत होता है। क्योंकि नैराश्यवाद विपत्तियों से सावधान कर देता है, किंतु आशावाद झूठी निश्चितता में सुला देता है।

भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा निराश नही होते, वरन् जिसके कारण उनमें आशा का संचार होता रहता है। इसे हम विलियम जेम्स (William James) के शब्दों में अध्यात्मवाद (Spiritualism) कह सकते हैं। जेम्स साहब के अनुसार अध्यात्मवाद उसे कहते हैं जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।[३]

हमारी जितनी आकांक्षाएँ हैं उनमें नैतिक व्यवस्था की आकांक्षा भी सम्मिलित है। दाँते और वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवियों को नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व में पूरा-पूरा विश्वास था। यही कारण है कि उनकी कविताओं में एक अलौकिक शक्ति पाई जाती है जिससे पाठकों में स्फूर्ति बढती है और उनके हृदय में आशा का संचार होता है। भारत के सभी दर्शनों में नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्तमान है।

जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था

१ विशद वर्णन के लिए प्रो० राधाकृष्णन् का Indian Philosphy प्रथम भाग, पृष्ठ ४६-५० देखिए।
२ G. H. Palmer in Contemporary American Philosophy.
३ Pragmatism, पृ० १०६-१०७ देखिए।

चार्वाक का भौतिकवाद ही इसका एकमात्र अपवाद है। चार्वाक के अतिरिक्त और जितने भारतीय दर्शन हैं—चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी—श्रद्धा एवं विश्वास की भावना से ओतप्रोत हैं।

यह नैतिक व्यवस्था सार्वभौम है। यही विश्व की शृंखला और धर्म का मूल है। यही देवताओं में, ग्रह-नक्षत्रों में तथा अन्यान्य वस्तुओं में वर्तमान है। वैदिक काल में भी इसके प्रति लोगों की श्रद्धा थी। ऋग्वेद की ऋचाएँ इसे प्रमाणित करती हैं। इस अनन्य नैतिक व्यवस्था को ऋग्वेद में 'ऋत' कहते हैं। वैदिक काल के बाद मीमांसा में इसे 'अपूर्व' कहते हैं। वर्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्ती जीवन में अपूर्व के द्वारा ही किया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक में इसे 'अदृष्ट' कहते हैं, क्योंकि यह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका प्रभाव परमाणुओं पर भी पड़ता

ऋत, अपूर्व, अदृष्ट तथा कर्म

वस्तुओं का उत्पादन तथा घटनाओं का उपक्रम इसी के अनुसार होता है। यही नैतिक व्यवस्था आगे चलकर कर्मवाद कहलाती है। कर्मवाद को प्रायः भारत के सभी दर्शन मानते हैं। कर्मवाद के अनुसार उत्कर्ष, अर्थात् कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वदा सुरक्षित रहते हैं। इसके अनुसार 'कृत-प्रणाश' तथा 'अकृताभ्युपगम' नहीं होता। अर्थात् किए हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता। हमारे कर्मों के फल का भी कभी नाश नहीं होता और हमारे जीवन की घटनाएँ हमारे अतीत कर्मों के अनुसार ही होती हैं। जैन तथा बौद्ध भी कर्मवाद को मानते हैं।

कर्म शब्द के दो अर्थ हैं। एक से कर्म के नियम का बोध होता है। दूसरे अर्थ से कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका बोध होता है। इसी शक्ति से प्राप्त कर्मफल उत्पन्न होते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं—(१) संचित कर्म, (२) प्रारब्ध कर्म तथा (३) संचीयमान कर्म। (१) संचित कर्म उस कर्म-शक्ति को कहते हैं जो अतीत कर्मों से उत्पन्न होती है, किन्तु जिसके फलों का आरम्भ नहीं हुआ रहता। (२) प्रारब्ध कर्म भी पूर्व जीवन में ही उत्पन्न होता है, किन्तु उसके फलों का आरम्भ इस जीवन में हो चुका रहता है। वर्तमान शरीर तथा धन-सम्पत्ति आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं। (३) संचीयमान या क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जिसका संचय वर्तमान जीवन में होता है।

डेनमार्क के प्रसिद्ध दार्शनिक हेराल्ड हॉफडिंग (Harold Hoffding) धर्म (Religion) की परिभाषा बताते हुए कहते हैं—'मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्मों का फल नष्ट नहीं होता' ऐसे विधान में विश्वास का नाम ही धर्म है।[1] इस तरह के विश्वास के कारण ही जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म अनीश्वरवादी होते हुए भी धर्म कहे जा सकते हैं।

नैतिक व्यवस्था से आशा की उत्पत्ति

'संसार में नैतिक व्यवस्था है' इस विश्वास होने से ही लोगों में आशा का संचार होता है। ऐसी हालत में मनुष्य अपने को ही अपना भाग्यनिर्माता समझते हैं। आशावादी अपने वर्तमान जीवन के दुःखों को अपने पूर्ववर्ती जीवन के दुष्कर्मों का परिणाम मानते हैं तथा वर्तमान जीवन के शुभकर्मों से अपने भविष्य जीवन को

१ देखिए, Hoffding का Philosophy of Religion पृष्ठ १-११.

सुखमय बनाने की आशा रखते हैं। मनुष्य जीवन में इच्छा की स्वतंत्रता तथा पुरुषकार दोनों ही संभव हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कर्मवाद का अर्थ भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है।[१]

पूर्व-जन्मकृत कर्म की पुंजीभूत शक्ति का नाम ही दैव है। इस जीवन के प्रबल प्रयत्नों के द्वारा उसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। जैसे—जीवन के बद्धमूल अभ्यासों को नवीन प्रबलतर अभ्यासों के द्वारा दबाया जा सकता है।

संसार मानों एक रंगमंच है

(४) भारतीय दर्शनों का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा संबंध है। इसके अनुसार संसार मानों एक रंगमंच है जिसमें मनुष्य को कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस तरह रंगमंच पर नाटक के पात्र सज-धजकर आते हैं और पात्र-भेद के अनुसार नाट्य करते हैं, उसी तरह मनुष्य इस संसार के रंगमंच पर शरीर, इंद्रिय आदि उपकरणों से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढंग से करे जिससे उसका वर्त्तमान तथा भविष्य सुखमय हो। शरीर, ज्ञानेंद्रिय, बाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं, किंतु उनकी प्राप्ति पूर्वार्जित कर्म के अनुसार ही होती है।

अज्ञान बंधन का कारण है। अतः तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है

(५) भारतीय दर्शनों की एक समानता यह भी है कि वे अज्ञान को बंधन का कारण मानते हैं। अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभाव से ही शरीर-बंधन होता है और दुःखों की उत्पत्ति होती है। इनसे मुक्ति तभी मिल सकती है जब संसार तथा आत्मा का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना तथा जीवन के दुःखों को सहना ही मनुष्यों के लिए बंधन है। पुनर्जन्म की संभावना का नाश मोक्ष से ही हो सकता है। जैन-मत, बौद्ध-मत, सांख्य तथा अद्वैत वेदांत के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती है। अर्थात् यथार्थ सुख जीवन-काल में भी प्राप्त हो सकता है।

बंधन से मोक्ष पाने की जो शिक्षा दी गई है उसका तात्पर्य यह नहीं कि हम संसार से पराङ्मुख होकर केवल परलोक-चिंता में लगे रहें। वरन् इसका तात्पर्य यह है कि हम केवल इहलोक तथा इहकाल को ही महत्त्व न दें। अपनी दृष्टि को केवल इस लोक में सीमित न रखें और अदूरदर्शिता से बचें।

मनुष्य के दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। अतः दुःखों को दूर करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति परमावश्यक है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दुःखों को दूर करने के लिए केवल तत्त्वज्ञान काफी है। तत्त्वज्ञान को स्थायी तथा सफल बनाने के लिए दो तरह के अभ्यासों की आवश्यकता

---

[१] विशद विवेचना के लिए योगवाशिष्ठ रामायण, द्वितीय प्रकरण, चतुर्थ एवं नवमसर्ग देखिए। महाभारत (शांतिपर्व) में भीष्म कहते हैं—'पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुह्यते' (मैं पुरुषकार को ही प्रधान मानता हूँ; केवल दैव पर निर्भर रहनेवाला निष्क्रिय बन जाता है)। भगवद्गीता (१८।१४) में कर्म की सफलता के लिए चेष्टा एवं दैव दोनों की आवश्यकता बतलाई गई है।

ारे कर्म राग-द्वेष से ही उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञानेंद्रिय[1] तथा कर्मेंद्रिय[2] राग- के अनुसार ही कार्य करते हैं। इन प्रवृत्तियों के अनुसार बराबर कार्य करते ने से ये और तीव्र हो जाते हैं। संसार संबंधी मिथ्याज्ञान का तथा राग-द्वेष ी प्रवृत्तियों का नाश तत्त्वज्ञान से ही हो सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के द ही इंद्रियों के पुराने अभ्यास दूर हो सकते तथा उनका विवेक-मार्ग पर चलना व हो सकता है। यह सही है कि इंद्रियों का विवेक-मार्ग पर चलना नितांत ठेन है, किंतु यह परम वांछनीय है। इसके लिए अखंड अभ्यास तथा सदाचार आवश्यकता है। अतः भारतीय दार्शनिक अभ्यास को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। चित दिशा में अखंड प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

मन, राग-द्वेष, ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों का नियंत्रण ही आत्म-संयम कहलाता है। ात्म-संयम का अर्थ इंद्रियों की वृत्तियों का केवल निरोध करना ही नहीं है, परंतु नकी कुप्रवृत्तियों का दमन कर उन्हें विवेक के मार्ग पर चलाना है।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय दर्शन आत्म-निग्रह तथा संन्यास ही सिखलाता और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उच्छेद आवश्यक समझता है। किंतु ह दोषारोपण युक्ति-सम्मत नहीं है। उपनिषद्-युग के समय से ही भारतीय दार्शनिक ह मानते आ रहे हैं कि यद्यपि मनुष्य जीवन में आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है तथापि नुष्य का अस्तित्व शरीर, प्राण, मन आदि पर भी निर्भर करता है। छांदोग्य पनिषद्[3] में हम पाते हैं कि श्वेतकेतु नामक एक शिष्य को पंद्रह दिन बिना अन्न रखकर गुरु ने समझाया कि शरीर की पुष्टि पर मन की क्रियाएँ भी निर्भर हैं। तः ब्रह्मलाभ करने के लिए भी शरीर, इंद्रिय, प्राण आदि की पुष्टि के लिए ार्थना की जाती है—"आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् न्द्रियाणि च सर्वाणि[4]।" वे यह नहीं कहते थे कि हमारी प्रवृत्तियों का नाश हो ाए, वरं वे उनके सुधार की शिक्षा देते थे जिसमें हम धार्मिक विचारों का नुशीलन कर सकें। प्रवृत्तियों को बुरे मार्ग से हटाने के साथ-साथ अच्छे कर्म करने ा भी निर्देश रहता था। ऐसा निर्देश हमें योग जैसे कट्टरपंथी मत में भी मिलता ै। योग दर्शन में योगांगों के नाम से 'यम' तथा 'नियम' दोनों का उपदेश है। म तो निवृत्तिमूलक हैं ही, साथ-साथ नियमों के पालन का भी निर्देश है। यम ांच हैं—(१) हिंसा नहीं करनी चाहिए। (२) झूठ नहीं बोलना चाहिए। (३) चोरी नहीं करनी चाहिए। (४) काम-वासना में नहीं पड़ना चाहिए। (५) लोभ नहीं करना चाहिए। इन पाँच यमों के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह है। किंतु इनके साथ-साथ नियमों के पालन का भी निर्देश । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। ये केवल ोगदर्शन में ही नहीं, वरं अन्यान्य आस्तिक दर्शनों, बौद्ध एवं जैन मतों में भी ए जाते हैं। *अन्य दर्शनों में भी मैत्री, करुणा तथा मुदिता (प्रसन्नता) के अनुशीलन*

---

[1] ज्ञानेंद्रिय—चक्षु, त्वचा, नासिका, जिह्वा तथा कर्ण।

[2] कर्मेंद्रिय—मुख, हस्त, पाद, पायु, तथा उपस्थ।

[3] छांदोग्य, ६. ६. १.

[4] छां० १. १. १.

है। (१) निदिध्यासन अर्थात् स्वीकृत सिद्धांतों का अनवरत चिंतन तथा (२) आत्म-संयम।

(६) जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिए एकाग्र चिंतन तथा ध्यान की इतनी अधिक आवश्यकता है कि भारतीय दर्शन में इनके लि एक बड़ी पद्धति का विकास हुआ है। इस पद्धति का विस्तृ वर्णन योग दर्शन में मिलता है। बौद्ध, जैन, सांख्य, वेदांत, तथ न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी इसका वर्णन किसी-न-किसी रूप मे पाया जाता है। केवल तार्किक युक्ति के द्वारा जो दार्शनिक सिद्धां स्थापित होते हैं, वे स्थायी नहीं होते। उनका प्रभाव क्षणि होता है। अतः कोरे तत्त्वज्ञान से ही अज्ञान का नाश नहीं होता भ्रांत संस्कारवश दैनिक जीवन बिताने के कारण हमारा अज्ञान और बद्धमूल ह जाता है। इसलिए हमारे विचार, वचन तथा कर्म, अज्ञान के रंग में रँग जाते हैं फल यह होता है कि विचार, वचन तथा कर्म से पुष्ट होने के कारण अज्ञान औ भी दृढ़तर होता जाता है। ऐसे प्रबल अज्ञान का निराकरण करने के लिए तत्त्वज्ञा का निरंतर अनुशीलन आवश्यक है। जिस प्रकार निरंतर सांसारिक प्रपंचों में संलग्न रहने से मिथ्या ज्ञान या कुसंस्कार की पुष्टि होती है, उसी प्रकार विपरीत दिशा दीर्घकालीन चिंतन एवं अभ्यास के द्वारा ही उनका क्षय तथा नाश हो सकता है अतः ज्ञान की परिपक्वता के लिए ज्ञान को शरीर, मन और वचन के द्वारा जीव में उतारने की साधना निरंतर करते रहने की आवश्यकता है। साधना के बिन न तो अज्ञान का नाश ही हो सकता है, न तत्त्वज्ञान के प्रति हमारा विश्वा ही जम सकता है।

अज्ञान को दूर करने के लिए निदिध्यासन आवश्यक है

(७) सिद्धांतों का एकाग्रचित्त से मनन करने के लिए तथा उन्हें जीवन चरितार्थ करने के लिए आत्मसंयम की आवश्यकता है। सोक्रेटिस (Socrates) क कथन है कि ज्ञान ही धर्म है। (Virtue is knowledge)। किंतु उनके अनुयायि का उनसे मतभेद था। उनके अनुयायियों का कथन था कि तत्त्वज्ञान प्राप्त होने ही धर्म नहीं होता है। हमारे कर्म स्वभावतः धार्मिक नहीं होते उनकी उत्पत्ति बहुधा वासनाओं तथा नीच प्रवृत्तियों के का होती है। अतः जबतक तृष्णाओं तथा नीच प्रवृत्तियों का नियंत्रण नहीं हो तबतक हमारे कर्म पूर्णतया नैतिक या धार्मि नहीं हो सकते। इस विचार को चार्वाक के अतिरिक्त और स भारतीय दर्शन मानते हैं। ठीक ही कहा है कि—

आत्म-संयम से वासनाओं का निरोध

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥"—पंचदशी, ६, १

सांसारिक वस्तुओं के मिथ्या-ज्ञान से वासनाओं तथा कुसंस्कारों की उत्प होती है। उनके वशीभूत होने के कारण कर्म तथा वचन हमारे सिद्धांतों के अनु नहीं होते। भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य की वासनाओं तथा संस्कारों का भिन्न-भि ढंग से वर्णन किया है किंतु सबों में राग तथा द्वेष को ही प्रमुख माना है। साधार

हमारे कर्म राग-द्वेष से ही उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञानेंद्रिय[1] तथा कर्मेंद्रिय[2] राग-द्वेष के अनुसार ही कार्य करते हैं। इन प्रवृत्तियों के अनुसार बराबर कार्य करते रहने से ये और तीव्र हो जाते हैं। संसार संबंधी मिथ्याज्ञान का तथा राग-द्वेष जैसी प्रवृत्तियों का नाश तत्त्वज्ञान से ही हो सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के बाद ही इंद्रियों के पुराने अभ्यास दूर हो सकते तथा उनका विवेक-मार्ग पर चलना संभव हो सकता है। यह सही है कि इंद्रियों का विवेक-मार्ग पर चलना नितांत कठिन है, किंतु यह परम वांछनीय है। इसके लिए अखंड अभ्यास तथा सदाचार की आवश्यकता है। अतः भारतीय दार्शनिक अभ्यास को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उचित दिशा में अखंड प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

मन, राग-द्वेष, ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों का नियंत्रण ही आत्म-संयम कहलाता है। त्म-संयम का अर्थ इंद्रियों की वृत्तियों का केवल निरोध करना ही नहीं है, परंतु की कुप्रवृत्तियों का दमन कर उन्हें विवेक के मार्ग पर चलाना है।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय दर्शन आत्म-निग्रह तथा संन्यास ही सिखलाता और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उच्छेद आवश्यक समझता है। किंतु दोषारोपण युक्ति-सम्मत नहीं है। उपनिषद्-युग के समय से ही भारतीय दार्शनिक मानते आ रहे हैं कि यद्यपि मनुष्य जीवन में आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है तथापि नुष्य का अस्तित्व शरीर, प्राण, मन आदि पर भी निर्भर करता है। छांदोग्य निषद्[3] में हम पाते हैं कि श्वेतकेतु नामक एक शिष्य को पंद्रह दिन बिना अन्न रखकर गुरु ने समझाया कि शरीर की पुष्टि पर मन की क्रियाएँ भी निर्भर हैं। तः ब्रह्मलाभ करने के लिए भी शरीर, इंद्रिय, प्राण आदि की पुष्टि के लिए र्थना की जाती है—"आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् न्द्रियाणि च सर्वाणि[4]।" वे यह नहीं कहते थे कि हमारी प्रवृत्तियों का नाश हो ाए, वरं वे उनके सुधार की शिक्षा देते थे जिसमें हम धार्मिक विचारों का नुशीलन कर सकें। प्रवृत्तियों को बुरे मार्ग से हटाने के साथ-साथ अच्छे कर्म करने ा भी निर्देश रहता था। ऐसा निर्देश हमें योग जैसे कट्टरपंथी मत में भी मिलता । योग दर्शन में योगांगों के नाम से 'यम' तथा 'नियम' दोनों का उपदेश है। म तो निवृत्तिमूलक है ही, साथ-साथ नियमों के पालन का भी निर्देश है। यम ांच हैं—(१) हिंसा नहीं करनी चाहिए। (२) झूठ नहीं बोलना चाहिए। ३) चोरी नहीं करनी चाहिए। (४) काम-वासना में नहीं पड़ना चाहिए। (५) लोभ नहीं करना चाहिए। इन पाँच यमों के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ह्मचर्य तथा अपरिग्रह है। किंतु इनके साथ-साथ नियमों के पालन का भी निर्देश । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। ये केवल ोगदर्शन में ही नहीं, वरं अन्यान्य आस्तिक दर्शनों, बौद्ध एवं जैन मतों में भी ाए जाते हैं। अन्य दर्शनों में भी मैत्री, करुणा तथा मुदिता (प्रसन्नता) के अनुशीलन

---

१ ज्ञानेंद्रिय—चक्षु, त्वचा, नासिका, जिह्वा तथा कर्ण।
२ कर्मेंद्रिय—मुख, हस्त, पाद, पायु, तथा उपस्थ।
३ छांदोग्य, ६. ६. १.
४ छां० १. १. १.

करने का उपदेश दिया गया है। गीता में भी इंद्रियों को निष्क्रिय बनाने की शि नहीं दी गई है, वर उन्हें विवेक के अनुसार परिचालित करने का उपदेश दिया गया है

"रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥"[1]

अर्थात् जो व्यक्ति इंद्रियों को राग-द्वेष से रहित कर तथा अपने वश में लाकर आत विजयी हो जाते हैं वे इंद्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते हुए भी प्रसाद या संतो प्राप्त करते हैं।

(८) चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का अंति लक्ष्य मानते हैं। किंतु भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यह तो स स्वीकार करते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुःखों का नाश ह जाता है। किंतु कुछ दर्शनों के अनुसार मोक्ष से केवल दुःखों क नाश ही नहीं होता वरं आनंद की भी प्राप्ति होती है। वेदां जैन आदि मतों के अनुसार मोक्ष से आनंद की प्राप्ति होती है कुछ विद्वानों का कथन है कि बौद्धों का भी यही मत था।

मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है

(७) भारतीय दर्शन में देश-काल का विचार

नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों की समानता के साथ-साथ भारतीय दर्शनों में य भी एक सादृश्य है कि वे देश तथा काल को अनादि और अत्यंत विशाल मानते हैं। इसक प्रभाव भारतीय दर्शनों के नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों पर बहुत अधिक पड़ा है

पाश्चात्य देशों के कुछ लोगों का मत था कि संसार की सृष्टि प्रायः छह हजार वर्ष पू हुई है तथा केवल मनुष्य के लिए ही हुई है। किंतु वह मत अत्यंत संकीर्ण है। इस म के अनुसार मनुष्य को अधिक महत्त्व दे दिया गया है। डारविन प्रभृति जीव-विज्ञान पंडितों के आविष्कारों के द्वारा सृष्टिवाद का खंडन हो जाता है। इन वैज्ञानिकों के अनुस संसार के सभी जीवों की सृष्टि एक साथ नहीं हुई है वरं उनका क्रमिक विकास हुआ है इनके विकास में लाखों वर्ष लगे हैं। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार विश्व बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। इसके व्यास की लंबाई करोड़ों किरण-वर्षों[2] की मानी जा है। निखिल विश्व में सूर्य एक कण मात्र है। पृथ्वी उस कण के दस लाख भागों में ए भाग-सा है। ज्योतिर्विज्ञान के विद्वानों का कथन है कि आकाश में जो वाष्पपुंज दृष्टिगोच होता है उसके एक-एक कण से एक-एक सौ करोड़ सूर्यों की सृष्टि हो सकती है।

देश-काल की इस विशालता को समझने में हमारी कल्पना-शक्ति पराभूत हो जा है। पुराणों में भी ऐसा ही वर्णन आया है। यदि इस विशालता का समर्थन आधुनि विज्ञान से नहीं हुआ होता तो संभव था कि हम इसे कपोल-कल्पना मात्र समझते।

---

१ गीता अध्याय २ श्लोक ६४।

२ एक किरणवर्ष ५,८७५,६४५,२००,००० मील के बराबर है। किरण की ग प्रति सेकेंड १८६३२५ मील है। इसलिए एक वर्ष में किरण की गति=६०×६० २४×३६५×१८६३२५ मील=५,८७५,६४५,२००,००० मील है।

विष्णुपुराणमें विश्व की वृहत्ता का विशद वर्णन किया गया है। इसके अनुसार यह पृथ्वी एक लोक है। चौदह लोकों का एक ब्रह्मांड होता है। दो लोकों के मध्य करोड़ों ब्रह्मांड सम्मिलित हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह भारतीय भी काल का वर्णन साधारण लौकिक ढंग से नहीं करते थे। सृष्टि-काल की माप के लिए ब्रह्मा का एक दिन मानदंड माना गया है। उनका एक दिन १००० युगों के अर्थात् ४३२,०००,००० वर्षों तक कायम रहता है। सृष्टि का अंत होने पर ब्रह्मा की रात का प्रारंभ होता है। इसे प्रलय कहते हैं। इस तरह के रात-दिन अर्थात् सृष्टि-प्रलय अनादि काल से होते आ रहे हैं।

सृष्टि का आदि-निर्णय नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि सृष्टि का प्रारंभ अमुक समय में हुआ। जो ही समय इसके लिए निर्धारित किया जाएगा वही संदिग्ध होगा, क्योंकि उससे भी पूर्व समय की कल्पना की जा सकती है; और तब क्या था यह प्रश्न भी उठ सकता है, और तब कुछ नहीं रहने से, शून्य से संसार की उत्पत्ति की कल्पना हम नहीं कर सकते हैं। अतः भारतीय पंडित सृष्टिक्रम को अनादि मानते हैं। वर्त्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई हैं तथा अनेक प्रलय भी हुए हैं। अर्थात् वर्त्तमान सृष्टि का प्रारंभ अनेक सृष्टियों तथा प्रलयों के बाद हुआ है। चूँकि सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है, इसलिए आदि सृष्टि का कालनिरूपण बिल्कुल व्यर्थ है। किसी भी अनादि क्रम में आदि का अन्वेषण सर्वथा निरर्थक होता है, क्योंकि अनादि में आदि का अस्तित्व ही नहीं रहता है।

अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी को अत्यंत नगण्य माना है। सांसारिक जीवन तथा लौकिक वैभव को भी नश्वर तथा महत्वहीन समझा है। अनंत आकाश में पृथ्वी एक विंदु-मात्र है। जीवन मानों काल-समुद्र में एक छोटी-सी लहरी है। इस समुद्र में जीवन रूपी अनेक लहरियाँ आती हैं और जाती हैं, किंतु विश्व की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। शताब्दियों तक कायम रहनेवाली सभ्यता भी कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। इस भू-तल पर एक ही सत्ययुग नहीं हुआ है। सृष्टि और प्रलय के अनादि क्रम में न मालूम कितने सत्ययुग आए हैं। सत्ययुग के बाद त्रेता, द्वापर, कलियुग भी आए हैं। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है।

इन विचारों का प्रभाव भारतीय तत्वविज्ञान पर बहुत अधिक पड़ा है। दार्शनिकों का मत है कि वर्त्तमान जगत् की उत्पत्ति पूर्ववर्त्ती जगत् से हुई है। अतः वर्त्तमान जगत् के ज्ञान के लिए पूर्ववर्त्ती जगत् का ज्ञान नितांत आवश्यक है। दूसरा प्रभाव यह भी पड़ा है कि दर्शन को अनंत के अनुसंधान की पूरी प्रेरणा मिली है। धार्मिक विषयों पर भी इन विचारों का काफी प्रभाव पड़ा है, जिससे भारतीय मनीषी जीवन को व्यापक और निर्लिप्त दृष्टि से देखते हैं। इसी व्यापक दृष्टि से प्रभावित होकर वे इस परिवर्त्तनशील संसार को शाश्वत नहीं समझते हैं तथा अनित्य की अपेक्षा नित्य पर ही उनका ध्यान लगा रहता है।

मनुष्य का क्षुद्र, क्षणस्थायी शरीर यद्यपि नगण्य है, तथापि इसके द्वारा आध्यात्मिक साधना करके वह देश-काल से अतीत एक शाश्वत शांति और आनंद की अवस्था भी प्राप्त

कर सकता है। अतः मनुष्य जन्म दुर्लभ-संपत्ति है। भगवान् बुद्ध कहते हैं, "किच्छो मनुस्स पटिलाभो"[1] भागवत में भी कहा गया है, 'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।'[2]

२. भारतीय दर्शनों का सिंहावलोकन

(१) चार्वाक दर्शन

चार्वाक जड़वादी को कहते हैं। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं, सभी संदिग्ध या भ्रममूलक हैं। अतः प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष के द्वारा हमें भौतिक जगत् का ज्ञान मिलता है। जड़ जगत् चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये ही चार प्रकार के भौतिक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों का ज्ञान हमें इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। संसार के जितने द्रव्य हैं, सभी इन्हीं चार तत्त्वों से बने हुए हैं। आत्मा के अस्तित्व के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। मनुष्य पूर्णतया भूतों से ही बना हुआ है। 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं क्षीण हूँ', 'मैं पंगु हूँ',—इन वाक्यों से यह बिलकुल साफ है कि मनुष्य और उसके शरीर में कोई भेद नहीं है। मनुष्य में चैतन्य है, किंतु चैतन्य मनुष्य शरीर का विशेष गुण है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों से ही होती है। कुछ लोग कहते हैं कि भौतिक तत्त्व अचेतन होता है। अतः उससे बनी चीजें चेतन नहीं हो सकतीं। किंतु यह सत्य नहीं है। कई वस्तुओं के मिलाने से एक नई वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है। इस तरह से उत्पन्न वस्तुओं में नए गुणों का भी आविर्भाव हो सकता है। एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नए-नए गुणों की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रंग न तो पान में, न सुपारी में, न चूने में है, फिर भी उनको एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड़ में मादक गुण नहीं है, फिर भी गुड़ के सड़ जाने से उसमें मादक गुण की उत्पत्ति हो सकती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है, तब जीव-शरीर का निर्माण होता है और उसमें चैतन्य का भी संचार हो जाता है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल-भोग की कोई संभावना ही नहीं है।

यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि मृत्यु के बाद मनुष्य का कुछ भी अवशिष्ट रहता है। ईश्वर का अस्तित्व भी सत्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ईश्वर का अस्तित्व अप्रमाणित होने पर संसार की सृष्टि का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। चार्वाक मत के अनुसार संसार का निर्माण भूतों के सम्मिश्रण से स्वतः होता है। इन विचारों से यह भी स्पष्ट है कि ईश्वर की आराधना तथा स्वर्ग की कामना निरर्थक बातें हैं। वेदों में तथा पुरोहितों में किसी प्रकार की श्रद्धा रखना मूर्खता है। पुरोहित तो मनुष्य की श्रद्धा-भावना से अनुचित लाभ उठाकर अपनी जीविका निर्वाह करते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्यों

१ धम्मपद १४. ४। २ भागवत ११. २. २६।

चाहिए कि अधिक-से-अधिक सुख-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनावें। अन्य लक्ष्यों अपेक्षा सुख-प्राप्ति ही अधिक निश्चित है। सुखों का परित्याग इसलिए नहीं करना हिए कि वे दुःखों से मिले रहते हैं। भूसे के कारण अन्न का परित्याग नहीं किया जा ता है। पशुओं के द्वारा चरे जाने के डर से अनाज का बोना नहीं छोड़ा जाता है। वन को अधिक-से-अधिक सुखमय बनाने का तथा दुःखों से अधिक-से-अधिक दूर रहने का त्न करना चाहिए। संक्षेप में उनका सिद्धांत है—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्।"

(२) जैन-दर्शन

जैन-मत का आरंभ ऐतिहासिक युग के पूर्व ही हुआ है। जैनमत के प्रवर्त्तकों का नंवा क्रम था। उसमें २४ तीर्थंकर थे। ये मुक्त होते थे। ये अपने मत का ार भी किया करते थे। वर्द्धमान इस क्रम के २४वें तीर्थंकर थे। वे महावीर नाम से भी विख्यात हैं। ये गौतम बुद्ध के समसामयिक थे।

हम देख चुके हैं कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इनका कथन है अनुमान और शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनसे कभी-कभी यथार्थ-न नहीं मिलता है। जैन दार्शनिक इन विचारों को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि र्युक्त युक्ति के अनुसार तो प्रत्यक्ष को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष कभी-कभी भ्रमपूर्ण होता है। चार्वाक अनुमान का विरोध तो करते हैं, किंतु स्वयं ुमान का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि कुछ अनुमान भ्रममूलक हैं। अतः सभी ुमान भ्रममूलक हैं। क्या यह अनुमान नहीं है? वे यह भी कहते हैं कि हम जिन तुओं को नहीं देख पाते हैं उनका अस्तित्व नहीं है। अर्थात् अमुक वस्तु दृष्टिगोचर ें है, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। क्या यह अनुमान नहीं है? जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष अतिरिक्त अनुमान और शब्द को भी प्रमाण मानते हैं। अनुमान जब तर्क-विज्ञान के यमों के अनुसार होता है तब उससे यथार्थज्ञान की प्राप्ति होती है। शब्द-प्रमाण तब ा होता है जब वह साप्त अर्थात् विश्वासयोग्य पुरुषों का वाक्य होता है। जैनों के सार आध्यात्मिक विषयों का यथार्थज्ञान प्रारंभ में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा नहीं त हो सकता। इसके लिए सर्वज्ञ तथा मुक्त जिनों या तीर्थंकरों के उपदेश ही प्रमाण हैं।

इन्हीं तीन प्रमाणों के आधार पर जैन-दर्शन अवलंबित है। प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक ां का ज्ञान होता है। चार्वाक की तरह जैन भी मानते हैं कि भौतिक द्रव्य चार प्रकार त्वों के मिश्रण से बनते हैं। इन तत्त्वों के अतिरिक्त अनुमान के द्वारा आकाश, काल, तथा अधर्म का ज्ञान होता है? भौतिक द्रव्यों की स्थिति के लिए स्थान आवश्यक है। युक्ति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। द्रव्यों की अवस्थाओं का क्रमिक र्त्तन काल के बिना नहीं हो सकता। इस युक्ति से काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। तथा अधर्म क्रमशः गति तथा स्थिति के कारण हैं। इनका भी अस्तित्व निर्विवाद है, कि किसी अनुकूल कारण के बिना द्रव्यों में गति या स्थिति नहीं आ सकती। धर्म और को यहाँ सामान्य अर्थ में नहीं लेना चाहिए। वरं एक विशेष अर्थ लेना चाहिए। यहाँ और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति के कारण के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। भौतिक पुद्गल), आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त और भी एक प्रकार का द्रव्य

हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित है कि प्रत्येक सजीव द्रव्य में एक चेतन या जीव है। नारंगी के गुणों—अर्थात् उसके रंग, आकार, गंध—को देखकर हम क कि हम नारंगी को देख रहे हैं। उसी प्रकार जब हम सुख, दुःख आदि अनेक आं गुणों का अनुभव करते हैं तो हम कह सकते हैं कि हमें अपने जीव होता है। चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से नहीं हो सकती। ऐ- कि जड़ पदार्थों के संयोग से चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ हो। हम इसे नहीं मान सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है और ऐसा एक भा दृ नहीं है जिसमें भौतिक पदार्थों के योग से चेतना की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ हो। के अस्तित्व को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। यदि कोई चेतनशक्ति नहीं होत केवल भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से सजीव शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। साथ बिना जीव के परिचालन से शरीर तथा इंद्रिय नियमित ढंग से कार्य भी नहीं कर सकते

अतः जितने सजीव शरीर हैं उतने ही जीव हैं। जैनों के अनुसार केवल म तथा पशु-पक्षियों में जीव नहीं है, वरं पेड़-पौधों तथा धूलि-कणों में भी जीव आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी धूलिकणों तथा अन्यान्य भौतिक पदार्थों मे जीवाणु पाए जाते हैं। सभी जीव समान प्रकार से चेतन नहीं हैं। वनस्पतियों मिट्टी के टुकड़ों में जो जीव पाए जाते हैं, वे एकेंद्रिय होते हैं। उन्हें केवल स्प होता है। अतः उनको केवल स्पर्श बोध होता है। कुछ निम्न श्रेणी के जीवों दो इंद्रिय होते हैं। कुछ को क्रमशः तीन तथा चार इंद्रिय भी होते हैं। म को तथा उच्च वर्ग के जंतुओं को पाँच इंद्रिय होते हैं। इन्हीं इंद्रियों के वस्तुज्ञान प्राप्त होता है। किंतु इंद्रिय जितना भी समृद्ध क्यों न हों, शरीर- में फँसे हुए जीव का ज्ञान सीमित ही होगा। इसके चलते जीव की शक्ति कम रहती है तथा यह नाना प्रकार के दुःखों से आक्रांत भी रहता है।

प्रत्येक जीव को अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत सुख पाने की श हैं। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। जिस तरह मेघों के द्वारा सूर्य का प्रकाश आ हो जाता है, उसी तरह जीव का आंतरिक स्वरूप कर्मों के कारण छिप जाता है। क कर्म तथा उसकी इच्छाएँ पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इसका होता है कि जिस तरह किसी दीपक या सूर्य का प्रकाश धूलिकणों से आच्छादित सकता है उसी तरह जीव का स्वरूप पुद्गल के संपर्क से छिप जाता है। अतः संक्षेप कह सकते हैं कि कर्म के अनुसार पुद्गल योग से जीव का बंधन होता है। कर्मों को ह जीव बंधन-मुक्त हो सकता है तथा अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित कर सकत

तीर्थंकरों के जीवन तथा उनके उपदेश इस बात के प्रमाण हैं कि मोक्ष-प्राप्ति संभव है। ये मोक्षप्राप्ति के लिए मार्ग-प्रदर्शक का भी काम करते हैं। बंधनमु के लिए तीन उपायों की आवश्यकता है: (१) सम्यक् दर्शन अर्थात् जैन महात्म उपदेशों के प्रति श्रद्धा का भाव। (२) सम्यक् ज्ञान अर्थात् उनके उपदेशों का यथार्थ

३) सम्यक् चरित्र अर्थात् नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण। सम्यक् चरित्र का अर्थ यह है कि जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पालन करना।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् शास्त्र के सम्मिलित प्रयोग से वासनाओं का नियंत्रण होता है तथा उन कर्मों का भी नाश होता है जो जीव को पुद्गल-बद्ध किए रहते हैं। इस तरह विघ्नों के हट जाने पर जीवन का अनंत-चतुष्टय—अर्थात् उसका अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति तथा अनंत आनंद प्रस्फुटित हो उठता है। यही मोक्ष की अवस्था है।

जैन ईश्वर को नहीं मानते। ईश्वर के स्थान पर ये लोग तीर्थंकरों को मानते हैं। क्योंकि तीर्थंकर भी ईश्वर की तरह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हैं। जैन इन्हें जीवन के आदर्शस्वरूप समझते हैं।

सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना जैन धर्म का एक विशेष गुण है। इसके साथ-साथ जैन दर्शन में अन्यान्य मतों के प्रति समादर का भाव भी विद्यमान है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मक होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर मालूम होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्म हैं। कोई वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तथा दूसरी दृष्टि से अभावात्मक है। किसी वस्तु के संबंध में हम जो कुछ विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। अतः हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा हमारे विचार किस तरह सीमित हुआ करते हैं। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि किसी विषय का कोई एक मत ही एकांत सत्य है। हमलोगों को बहुत सतर्क होकर ही किसी विचार को प्रकट करना चाहिए, जिससे उसमें कोई असत्यता आ जाने की आशंका न रहे। बल्कि हमें अपनी उक्तियों के साथ 'स्यात्' जोड़ देना चाहिए, जिससे अशुद्धि की कोई संभावना न रहे। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों के मत भी सत्य हो सकते हैं।

जैन-दर्शन वस्तुवादी है क्योंकि यह बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानता है। वह बहुसत्तावादी है क्योंकि वह अनेक तत्त्वों को मानता है। वह अनीश्वरवादी है, क्योंकि यह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता।

(३) बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध-दर्शन की उत्पत्ति हुई है। गौतम मनुष्य के रोग, जरा, मृत्यु तथा अन्यान्य दुःखों को देखकर अत्यंत पीड़ित हुए थे। इन के दुःखों के कारण को समझने तथा उनको दूर करने के उपायों को जानने के लिए उन्होंने वर्षों तक अध्ययन, तप और चिंतन किया। अंत में उन्होंने बोधि या ज्ञान प्राप्त किया, जिसका सार उनके चार आर्यसत्यों में पाया जाता है। वे सत्य ये हैं—(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का अंत है। (४) दुःख दूर करने का उपाय है।

१ 'दुःख है' इस सत्य को किसी-न-किसी रूप में सभी मानते हैं। किंतु बुद्धदेव को दिव्यदृष्टि के द्वारा यह अनुभव हुआ कि दुःख केवल विशेष अवस्थाओं में ही नहीं, बल्कि संसार के सभी जीवों की सभी अवस्थाओं में विद्यमान है। जो वस्तु या जो अनुभूति सुखद मालूम पड़ती है, वह भी वास्तव में दुःखद ही है।

दूसरा सत्य है कि दु:ख का कारण है। कारण तत्त्व के अनुसंधान के द्वारा महात्मा बुद्ध इस सिद्धांत पर पहुंचे हैं। उनका कथन है कि संसार में भौतिक या आध्यात्मिक, जो भी वस्तु है, वह किसी कारण ही से उत्पन्न है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कारण से उत्पन्न न हो।

अत: संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। सभी परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार हमारे जन्म-मरण का भी कारण है। हमारा जन्म ग्रहण करना ही उसका कारण है। हमारे जन्म का कारण हमारी तृष्णा है जो हमें सांसारिक विषयों की ओर खींचती है। हमारी तृष्णा ही हमें विषयलोलुप बनाती है। इसका कारण हमारा अज्ञान है। यदि विषयों का ठीक-ठीक ज्ञान हो और यदि हम समझें कि ये कितने क्षणिक दु:खद हैं, उनके प्रति हमारी तृष्णा ही न जगे। तब हमारा पुनर्जन्म न हो और इस तरह दु:खों का भी अंत हो जाए।

तीसरा सत्य है कि दु:खों का अंत है। यह तो स्पष्ट है। दु:खों के जब कारण हैं तो कारणों के नष्ट होने पर दु:खों का अंत होना निश्चित है।

चौथा सत्य है कि दु:ख को दूर करने के उपाय हैं। इसे अष्टमार्ग कहते हैं। क्योंकि इसमें आठ साधन हैं। जैसे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मांत, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि। ये आठ साधन अविद्या तथा तृष्णा को दूर करते हैं। इनके द्वारा निर्मल बुद्धि, दृढ़ता तथा शांति मिलती है। इस प्रकार दु:ख का पूर्ण विनाश होता है और पुनर्जन्म की संभावना नहीं रह जाती है। ऐसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश इन्हीं चार आर्य सत्यों में निहित हैं। इन उपदेशों से पता चलता है कि महात्मा बुद्ध का ध्यान दार्शनिक समस्याओं के समाधान पर उतना नहीं था जितना जीवन के दु:खों को दूर करने पर था। जब मनुष्य जरा-मरण के दु:खों से पीड़ित रहता है, उस समय अप्रत्यक्ष तत्त्वों की विवेचना करना केवल समय को नष्ट करना है। लेकिन शुष्क तर्क से दूर रहते हुए भी वे दार्शनिक विचार से अलग नहीं रहे। प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों से भी पता चलता है कि महात्मा बुद्ध ने ही निम्नोक्त दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। (१) सभी विषयों का कारण है अर्थात् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो स्वयंभूत हो। (२) सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। ज्यों-ज्यों उनके कारणों में परिवर्तन आता जाता है त्यों-त्यों उन वस्तुओं में भी परिवर्तन होता जाता है। कुछ भी नित्य नहीं है। (३) अत: इन परिवर्तनशील धर्मों के अतिरिक्त किसी द्रव्य के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है। (४) किंतु वर्तमान जीवन का क्रम चलता रहता है। वर्तमान जीवन से कर्म के अनुसार आगामी जीवन की उत्पत्ति होती है। जिस तरह एक वृक्ष अपने बीज के द्वारा दूसरे बीज को उत्पादित करता है, स्वयं सूख जाता है, किंतु दूसरा कायम रहता है, उसी तरह एक जीवन के कर्म के द्वारा दूसरे जीवन की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म का अविरल प्रवाह चलता रहता है।

भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी महात्मा बुद्ध के अनेक अनुयायी हुए थे। अनुयायियों ने बुद्ध की शिक्षाओं के अंतर्निहित दार्शनिक विचारों की पूरी-पूरी व्याख्या की।

प्रागे चलकर इन अनुयायियों के अनेक संप्रदाय बन गए। उनमें भारत के चार संप्रदाय विख्यात हैं। हम यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) माध्यमिक मत या शून्यवाद। इस मत के अनुसार यह संसार शून्य है। ाह्य तथा अंतर, सभी विषय असत् हैं, इसलिए इस मत को शून्यवाद कहते हैं।

(२) योगाचार मत या विज्ञानवाद। इस मत के अनुसार सभी वाह्य पदार्थ असत्य । जो वस्तु बाह्य दीख पड़ती है वह चित्त की एक प्रतीति मात्र है। किंतु चित्त के स्तित्व में कोई संदेह नहीं हो सकता। चित्त का अस्तित्व नहीं है—यह कथन ही रोधात्मक है। क्योंकि यह स्वयं चित्त का एक विचार है। चित्त का विचार चित्त के ना नहीं हो सकता। यदि आभ्यंतर कोई वस्तु नहीं है तो विचार भी नही हो सकता। तः चित्त को अस्वीकार करने से वदतोव्याघात हो जाता है। इस मत को विज्ञानवाद हते हैं।

(३) सौत्रांतिक मत। इस मत के अनुसार वाह्य और आभ्यंतर दोनो सत्य हैं। ितनी वस्तुएँ वाह्य प्रतीत होती हैं, वे यदि असत्य हों तो किसी भी वस्तु को देखने के ाए हमें वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, वल्कि मन ही उसके लिए पर्याप्त होता। तु अपनी इच्छानुसार मन किसी वस्तु का अवलोकन नहीं कर सकता। हम जहाँ कहीं ास समय में बाह्य को देखना चाहें तो संभव नही हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि ाह्य को देखने के समय हमारे मन में जो वाह्य की एक प्रतीति है वह कल्पित नहीं है, वरं सका अस्तित्व वहिः स्थित (किसी विषय) पर निर्भर करता है। किसी वृक्ष को जब म देखते हैं तब वस्तुतः वृक्ष के मानसिक आकार ही को प्रथमतः प्रत्यक्ष रूप से देखते । उस आकार से उसके कारण अर्थात् बाह्य वृक्ष का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार म वाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। इसे बाह्यानुमेयवाद कहते हैं।

(४) वैभाषिक मत। इस मत में तथा सौत्रांतिक मत में बहुत कुछ समानता है। ोनो मतों के अनुसार मानसिक प्रतीतियाँ तथा वाह्य सत्ताएँ, सभी सत्य हैं। किंतु किस कार वाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है—इसमें दोनो में मतभेद है। वैभाषिकों के अनुसार ाह्य वस्तुओं को ही हम प्रत्यक्ष देखते हैं। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें मानसिक चित्रों या तिरूपों के द्वारा अनुमान से नही होता। यदि कभी किसी बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ान नहीं होता हो तो यह कभी संभव नहीं है कि मानसिक प्रतिरूपों के द्वारा हमें उनका ानुमानिक ज्ञान भी हो सके। इस मत को वाह्य प्रत्यक्षवाद कहते है, क्योंकि इसके अनुसार ाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

धार्मिक प्रश्नों को लेकर बौद्ध मत में दो प्रसिद्ध संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। (१) हीनयान तथा (२) महायान। हीनयान अधिकतर दक्षिण भारत, लंका, ब्रह्मा, याम में प्रचलित है। महायान मुख्यतः तिब्बत, चीन तथा जापान में प्रचलित है। शून्य-ाद तथा विज्ञानवाद महायान के अंतर्गत है और सौत्रांतिक तथा वैभाषिक हीनयान के ंतर्गत हैं। दोनो संप्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि निर्वाण का क्या उद्देश्य है? ीनयान के अनुसार निर्वाण इसलिए अभीष्ट कि है उसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने दुःखों का

अंत कर सकता है। किंतु, महायान के अनुसार निर्वाण का उद्देश्य केवल अपना दुःख अंत करना नहीं है, वरं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है, जिसकी सहायता से दुःखग्रस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त किया जा सके।

(४) न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम हैं। न्याय वस्तुवादी दर्शन है। इसका प्रतिपादन विशेषतः युक्तियों के द्वारा हुआ है। इसके अनुसार चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। वस्तुओं के साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसकी उत्पत्ति वस्तु तथा ज्ञानेंद्रिय के संयोग से होती है। प्रत्यक्षज्ञान बाह्य या अंतर हो सकता है। जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है उसका संयोग यदि आँख, कान जैसी बाह्य इंद्रियों से हो तो उसे बाह्य-प्रत्यक्ष कहते हैं। किंतु यदि केवल मन से संयोग हो तो उसे आंतर या मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमान केवल इंद्रिय के द्वारा नहीं होता। यह कि ऐसे लिंग या साधन के ज्ञान पर निर्भर करता है, जिससे अनुमित वस्तु या साध्य का नियत संबंध रहता है। साधन तथा साध्य के नियत या अव्यभिचारी संबंध को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान में कम-से-कम तीन वाक्य होते हैं; तथा अधिक-से-अधिक तीन होते हैं। इन पदों को पक्ष, साध्य तथा साधन (या लिंग) कहते हैं। पक्ष उसे कहते जिसमें लिंग का अस्तित्व मालूम है और साध्य का अस्तित्व प्रमाणित करना है। साध्य उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व पक्ष में सिद्ध करना है। साधन उसे कहते हैं जिसका साध्य के साथ नियत साहचर्य्य हो और जो पक्ष में वर्तमान रहे। जैसे—

"यह पर्वत वह्निमान है, क्योंकि यह धूमवान है। जो धूमवान है वह वह्निमान है" यहाँ 'पर्वत' पक्ष है, 'वह्नि' साध्य है तथा 'धूम' साधन है।

उपमान में संज्ञा तथा संज्ञी के संबंध का ज्ञान होता है। सादृश्य-ज्ञान के द्वारा संज्ञा और संज्ञी अर्थात् नाम और नामी का संबंध स्थापित होता है उसे उपमान कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि 'गवय' का केवल नाम रहे तथा यह विदित रहे कि गवय का आकार-प्रकार गाय के सदृश होता है, तो गवय को प्रथम बार भी देखकर समझा जा सकता है कि यह गवय है। ऐसा ज्ञान उपमान के द्वारा होता है।

आप्त अर्थात् विश्वासयोग्य पुरुषों की उक्तियों से अज्ञात वस्तुओं के संबंध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। ऐतिहासिक कहते हैं कि महाराज अशोक भारत के सम्राट् थे। इस कथन को हम स्वीकार करते हैं, यद्यपि हमारा उनके साथ कोई साक्षात्कार नहीं हुआ है। यहाँ शब्द ही प्रमाण है। नैयायिक इन चार के अतिरिक्त और किसी प्रमाण को नहीं मानते। उनके अनुसार अन्य सभी प्रमाण इन्हीं चार प्रमाणों के अंतर्गत हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार निम्नोक्त विषय प्रमेय कहे जाते हैं—आत्मा, देह, तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग। अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह न्याय का भी लक्ष्य आत्मा को इंद्रियों तथा सांसारिक विषयों के बंधन से मुक्त करना है। आत्मा शरीर और मन से भिन्न है। शरीर का निर्माण भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण से होता है। मन अणु है—सूक्ष्म, नित्य तथा अविभाज्य। मन आत्मा के लिए सुख, दुःख आदि मानसिक गुणों के अनुभव

निमित्त एक करण है। अतः मन को अंतरिंद्रिय कहते हैं। अब आत्मा को इंद्रियों के द्वारा किसी वस्तु से संबंध होता है तो उसमें चैतन्य का संचार होता है। चैतन्य आत्मा का कोई नित्य गुण नहीं है। यह आगंतुक गुण है। जब मन और इंद्रियों के द्वारा आत्मा किसी विषय से संबद्ध होता है तभी उस विषय का चैतन्य या ज्ञान आत्मा को होता है। मुक्त होने पर आत्मा इन संपर्कों से रहित हो जाता है। ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। मन परमाणु के सदृश सूक्ष्मतम है, किंतु आत्मा विभु, अमर तथा नित्य है। आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त या उनसे अनासक्त होता है। यही विषयों से राग या द्वेष करता है। कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का उपभोग इसीको करना पड़ता है। मिथ्या-ज्ञान, राग-द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर आत्मा अच्छा या बुरा कर्म करता है। उन्हीं के कारण आत्मा को पापमय या दुःखग्रस्त होना पड़ता है। उन्ही के कारण उसे जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा जब सभी दुःखों का अंत हो जाता है तो मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि यह अवस्था आनंदमय होती है। किंतु नैयायिक इसे नहीं मानते। मुक्त होने पर आत्मा तो चैतन्य-हीन ही हो जाता है। तब सुख या दुःख किसी की अनुभूति नही रह सकती।

नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को अनेक युक्तियों से सिद्ध करते हैं। ईश्वर संसार के सृजन, पोषण तथा संहार के आदि प्रवर्तक हैं। ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया, बल्कि परमाणु, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने-अपने पुण्यमय या पापमय कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपभोग कर सकें, इसके लिए संसार की सृष्टि हुई है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए निम्नोक्त युक्ति दी जाती है—पर्वत, समुद्र, सूर्य, चंद्र आदि संसार के जितने पदार्थ हैं, सभी परमाणुओं में विभाजित हो सकते हैं। अतः उन पदार्थों का निर्माण किसी कर्त्ता के द्वारा अवश्य हुआ है पर मनुष्य संसार का निर्माता नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि तथा शक्ति सीमित है। वह परमाणु जैसी सूक्ष्म तथा अदृश्य वस्तुओं का सम्मिश्रण नहीं कर सकता। इस संसार का निर्माता अवश्य कोई चेतन आत्मा है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा संसार की नैतिक व्यवस्था का संरक्षक है। वही ईश्वर है। ईश्वर ने इस संसार को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं बनाया है, बल्कि अन्य प्राणियों के कल्याण के लिए बनाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में केवल सुख ही सुख है एवं दुःख का सर्वथा अभाव है। मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता है। अतः वह अच्छा या बुरा दोनों प्रकार के कर्म कर सकता है तथा तदनुसार सुख या दुःख का भागी होता है। किंतु परमात्मा की दया तथा उसके मार्ग-प्रदर्शन से मनुष्य अपने आत्मा तथा विश्व का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर सकता है और तत्पश्चात् अपने दुःखों से मुक्ति पा सकता है।

(५) वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद थे। उनका दूसरा नाम उलूक था। न्याय-दर्शन के साथ वैशेषिक की बड़ी समानता है। उसका भी उद्देश्य प्राणियों को अपवर्ग प्राप्त कराना है। यह सभी प्रमेयों को अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं को कुल सात पदार्थों में विभक्त करता है। ये पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव।

द्रव्य गुणों तथा कर्मों का आश्रय है तथा उनसे भिन्न है। द्रव्य नौ प्रकार के हैं—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। इनमें प्रथम प भौतिक हैं। उनके गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द हैं। क्षिति, जल, अ तथा वायु क्रमशः चार प्रकार के परमाणुओं से बने हुए हैं। ये परमाणु भौतिक हैं। इ विभाजन तथा नाश नहीं हो सकता। परमाणुओं की सृष्टि नहीं होती। ये आत्म किसी भौतिक पदार्थ के सबसे छोटे-छोटे टुकड़ों को, जिनका और अधिक विभाजन हो सकता, परमाणु कहते हैं। आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं। ये एक हैं, नित्य हैं तथा विभु[1] हैं। मन नित्य है किंतु विभु नहीं है। यह परमाणु की निरवयव है। यह अंतरिंद्रिय है। यह बुद्धि, भावना तथा संकल्प जैसी मानसिक क्रि का सहायक होता है। मन से एक साथ एक ही अनुभूति हो सकती है, क्योंकि यह प की तरह अत्यंत सूक्ष्म होता है। आत्मा शाश्वत तथा सर्वव्यापी द्रव्य है। यह की सभी अवस्थाओं का आश्रय है। मनुष्य को मन के द्वारा अपने आत्मा की भ होती है। सांसारिक वस्तुओं के निर्माता के रूप में ईश्वर अर्थात् परमात्मा का अ अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है।

गुण उसे कहते हैं जो केवल द्रव्यों में पाया जाता है; गुण को गुण नहीं होता, न कर्म ही होता है। द्रव्य निरपेक्ष हैं, किंतु गुण को द्रव्य की अपेक्षा रहती है। कुल प्रकार के गुण हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वि परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार तथा अधर्म।

✓कर्म गत्यात्मक होता है। गुण के सदृश यह भी केवल द्रव्यों में पाया जाता है। प्रकार के कर्म होते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

सामान्य किसी वर्ग के साधारण धर्म को कहते हैं। सभी गौओं में एक समा जिसके कारण उन सबों की एक जाति होती है तथा उन्हें अन्य जातियों से पृथक् जाता है। इस सामान्य को गोत्व कहते हैं। किसी गौ के जन्म से न तो 'गोत्व' की उ होती है, न उसके मरण से उसका विनाश ही होता है। अतः 'गोत्व' नित्य है

नित्य द्रव्यों के पार्थक्य के मूल कारण को 'विशेष' कहते हैं। साधारणतः वस्तु भिन्नता उनके अवयवों तथा गुणों के द्वारा की जाती है। किंतु एक प्रकार के परमाणु पारस्परिक विभेद किस तरह किया जाएगा? प्रत्येक परमाणु की अपनी विशेषता है। अन्यथा सभी पार्थिव परमाणुओं के पार्थिव होने के कारण विभेद संभव होता। परमाणुओं की जो अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, उन्हें विशेष कहते हैं। विशे मानने के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहते हैं।

समवाय स्थायी या नित्य संबंध को कहते हैं। अवयवी का अवयवों के साथ या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्तियों के साथ समवाय का संबंध पाया जा वस्त्र का अस्तित्व उसके धागों में है। धागों के बिना वस्त्र नहीं रह सकता है। वर्ण, मधुर स्वाद, सुगंध आदि गुण तथा सभी प्रकार के कर्म या गति द्रव्य ही में पाय

१ विभु = सर्वव्यापी।

द्रव्य के बिना गुण तथा कर्म नहीं टिक सकते हैं। इस तरह के नित्य संबंध को समवाय कहते हैं।

नहीं रहने को 'अभाव' कहते हैं। 'यहाँ कोई सर्प नहीं है', 'वह गुलाब लाल नहीं है', 'शुद्ध जल में गंध नहीं होती'—ये वाक्य क्रमशः सर्प, लाल रंग और गंध का उपर्युक्त स्थानों में अभाव व्यक्त करते हैं। अभाव चार प्रकार का होता है–प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। प्रथम तीन प्रकार के अभावों को संसर्गाभाव कहते हैं। संसर्गाभाव में दो वस्तुओं के संसर्ग का अभाव रहता है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उपादान में जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। कुंभकार के द्वारा बर्तन निर्माण के पहले मिट्टी में बर्तन का अभाव रहता है। किसी वस्तु के ध्वंस हो जाने के बाद जो उस वस्तु का अभाव हो जाता है, उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे—घड़े के फूट जाने पर उसके टुकड़ों में घड़े का अभाव होता है। दो वस्तुओं में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य अर्थात् सर्वदा के लिए जो संबंध का अभाव रहता है, उसे अत्यंताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूप का अभाव। जब दो वस्तुओं में पारस्परिक भेद रहता है, तो उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घट और पट दो पृथक् वस्तुएं हैं। घट पट नहीं है न पट ही घट है। एक का दूसरा नहीं होने का नाम अन्योन्याभाव है।

ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय मतों में पूरा साम्य है।

(६) सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन द्वैतवादी है। कहा जाता है कि महर्षि कपिल इसके प्रवर्त्तक थे। सांख्य के अनुसार दो प्रकार के तत्व हैं। पुरुष और प्रकृति। अपने-अपने अस्तित्व के लिए पुरुष और प्रकृति परस्पर निरपेक्ष हैं। पुरुष चेतन है। चैतन्य इसका आगंतुक गुण नहीं, वरं स्वरूप ही है। वस्तुतः पुरुष शरीर, मन तथा इंद्रिय से भिन्न है। यह नित्य है। यह सांसारिक वस्तुओं तथा व्यापारों का अवलोकन अलग से ही करता है। यह स्वयं न तो कोई कार्य करता, न इसमें कोई परिवर्त्तन ही होता है। जिस तरह कुर्सी, पलंग आदि भौतिक वस्तुओं के उपयोग के लिए मनुष्य भोक्ता है, उसी तरह प्रकृति के परिणामों के उपयोग के लिए भोक्ताओं की आवश्यकता है। ये भोक्ता पुरुष हैं जो प्रकृति से भिन्न हैं। प्रत्येक जीव के शरीर से संपर्कित एक-एक पुरुष है। जिस समय कुछ मनुष्य सुखी पाए जाते हैं, उस समय कुछ मनुष्य दुःखी भी रहते हैं। कुछ का देहांत हो जाता है, फिर भी कुछ जीवित रहते हैं। अतः पुरुष एक नहीं, अनेक हैं।

प्रकृति इस संसार का आदि कारण है। यह एक नित्य और जड़ वस्तु है। वह सर्वदा परिवर्त्तनशील है। इसका लक्ष्य पुरुष के उद्देश्य-साधन के सिवा और कुछ नहीं है। सत्त्व, रज तथा तम, ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं। सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं। इन्हें साधारण अर्थ में गुण नहीं समझना चाहिए। ये विशेष अर्थ में गुण कहलाते हैं। जिस प्रकार कोई तिगुनी रस्सी तीन डोरियों की बनी होती है, उसी प्रकार प्रकृति तीन तरह के मौलिक तत्त्वों से बनी हुई है। संसार के विषय सुख, दुःख या मोह के जनक हैं। वस्तुओं के प्रति सुख, दुःख या विषाद होने के कारण हम वस्तुओं के तीन गुणों का अनुमान करते हैं। मीठे भोजन में एक ही व्यक्ति को कभी रुचि होती, कभी

अरुचि होती या कभी उदास भाव, अर्थात् रुचि तथा अरुचि दोनों का अभाव ... है। एक ही व्यंजन में किसी व्यक्ति को अच्छा स्वाद मिलता, किसी को बुरा स्वा मिलता तथा किसी को कोई स्वाद नहीं मिलता है। कारण तथा कार्य में वस्तुः ऐक्य होता है। कार्य कारण का विकसित रूप है। तैल तिल आदि विशेष प्रका के बीजों का विकसित रूप है। संसार के सभी विषय परिणाम हैं जिनके कार सुख, दुःख या विषाद का अनुभव होता है। हम ऊपर कह आए हैं कि प्रकृ जिसका दूसरा नाम प्रधान है, सांसारिक वस्तुओं का मूल कारण है। अतः सत्कार्य के सिद्धांत के अनुसार उसमें सुख, दुःख तथा विषाद के कारण अवश्य होंगे। सु दुःख तथा विषाद का कारण क्रमशः सत्त्व, रज तथा तम है। इस तरह प्रकृति के अंतर्गत सत्त्व, रज तथा तम का अस्तित्व प्रतिपादित होता है। सत्त्व प्रकाशक है रज गतिशील है और कर्म करता है। तम अचल तथा वरणक या आवरणकारी है।

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से (अर्थात् वासना के बंधन से) सृष्टि का प्रारंभ हो है। प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग होने से नष्ट होती है। जग की सृष्टि इस क्रम से होती है। सत्त्व का आधिक्य होने से प्रकृति से महत् की उत्पत्ति हो है। महत् इस विश्व का महान् अंकुर है। पुरुष का चैतन्य-प्रकाश महत् के सत्त्व गुण प पड़ता है अतः महत् भी चेतन मालूम पड़ता है। इस घटना के कारण मालूम पड़ता है प्रकृति मानो सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आई हो। इसी के साथ-साथ चिंतन का प्रादुर्भाव होता है। अतः महत् को बुद्धि भी कहते हैं। यही जगत् की सृष्टिकारि बुद्धि है। बुद्धि का रूपांतर अहंकार में होता है। अहंकार अहंभाव या अभिमान को कहते हैं। आत्मा अभिमान के संयोग होने से अपने को 'कर्त्ता' समझता है। किंतु वस्तु आत्मा स्वयं कर्त्ता नहीं है। अहंकार में जब सत्त्व का बाहुल्य होता है तो उससे पाँच ज्ञानेंद्रियों, पाँच कर्मेंद्रियों तथा मन की सृष्टि होती है। मन उभयेंद्रिय है, क्योंकि ... द्वारा ज्ञान तथा कर्म दोनों संभव होते हैं। अहंकार में जब तम की प्रचुरता रहती है त उससे तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप तथा गंध पाँच तन्मात्र हैं। पाँ तन्मात्रों से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप अग्नि, रस से जल तथा गंध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य में ग मिलाकर २५ तत्त्व हैं। इनमें पुरुष को छोड़कर सभी तत्त्व प्रकृति के अंतर्गत हैं, क्यों सभी भौतिक तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति ही है। प्रकृति का कोई कारण नहीं है। मह अहंकार तथा पंच तन्मात्र अपने-अपने कारणों के परिणाम या कार्य भी हैं, और अपने का के कारण भी हैं। ग्यारह इंद्रियाँ तथा पाँच महाभूत अपने-अपने कारणों के केवल कार्य ही हैं ये स्वयं किसी ऐसे परिणाम के कारण नहीं हैं जिनका स्वरूप इनसे भिन्न हो। पुरुष न त किसी का कारण है न किसी का परिणाम ही है। अर्थात् पुरुष न तो प्रकृति न विकृति है।

पुरुष निरपेक्ष तथा नित्य है। किंतु अविद्या के कारण यह अपने को शरीर, इंद्रि तथा मन से पृथक् नहीं समझता। पुरुष और प्रकृति में अविवेक (अर्थात् विभेद नहीं करने के कारण हमें दुःखों से पीड़ित होना पड़ता है। शरीर के घायल होने से या अस्वस्थ होने से हम अपने को घायल या अस्वस्थ समझते हैं। हमारे मनोगत सुख तथा दुःख मालूम

भी प्रभावित करते हैं, क्योंकि हम मन तथा आत्मा के भेद को भली-भाँति समझ नहीं ते। ज्योंही हमें विवेक होता है अर्थात् ज्योंही हम पुरुष का शरीर, इंद्रिय, मन, कार तथा बुद्धि से भेद समझने लगते हैं, त्योंही हमारे सुखों तथा दुःखों का अंत हो ता है। तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग नहीं रहता और यह संसार के ना-क्रम का साक्षी या द्रष्टामात्र रह जाता है। इस अवस्था को मुक्ति या कैवल्य हते हैं। शरीर रहते हुए भी मुक्त पुरुष इससे ममत्व हटा लेते हैं। इसे जीवन्मुक्ति हते हैं। वेदांत के बाद जो मुक्त पुरुष का शरीर भी नष्ट हो जाता है उसे विदेह-मुक्ति हते हैं। केवल विवेक ज्ञान होने से ही हमें आत्मज्ञान नहीं होता और न हम अपने दुःखों ही पूर्णतया मुक्त होते हैं। इसके लिए सतत आध्यात्मिक अभ्यास या साधना की वश्यकता होती है। इस अभ्यास के लिए तत्वज्ञान के प्रति पूरी श्रद्धा तथा उसके अनवरत तन की आवश्यकता है। विवेक-ज्ञान होने पर हम पुरुष को विशुद्ध चैतन्य एवं तन-ा, देश-काल तथा कार्य-कारण से पूर्णतया पृथक् समझने लगते हैं। पुरुष अनादि और ंत है। यह निरपेक्ष, अमर तथा नित्य है। आत्मज्ञान के लिए जो साधना की ावश्यकता है उसका सांगोपांग वर्णन योग-दर्शन में दिया जाएगा।

सांख्य-दर्शन निरीश्वर है। इसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व किसी प्रकार सिद्ध हीं किया जा सकता है। संसार की सृष्टि के लिए ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक नहीं है, योंकि पूरे संसार के निर्माण के लिए प्रकृति ही पर्याप्त है। शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील श्वर संसार की सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कारण तथा परिणाम वस्तुतः ाभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत हो जाता है। ईश्वर संसार में परिणत हीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर परिवर्तनशील नहीं माना जाता है। सांख्य के भाष्यकार वज्ञान-भिक्षु यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट ुरुष के रूप में मानता है। उनका कथन है कि ईश्वर प्रकृति का द्रष्टामात्र है, स्रष्टा नहीं।

(७) योग-दर्शन

महर्षि पतंजलि योग के प्रवर्त्तक हैं। योग तथा सांख्य में बहुत अधिक साम्य है। ोग सांख्य के प्रमाणों और तत्त्वों को मानता है। यह सांख्य के २५ तत्त्वों क साथ-ाथ ईश्वर को भी मानता है। योग-दर्शन का प्रमुख विषय योगाभ्यास है। सांख्य े अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक ज्ञान है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति प्रधानतः ोगाभ्यास से ही हो सकती है। योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं। चित्त की पाँच कार की भूमियाँ हैं। पहली भूमि 'क्षिप्त' कहलाती है। क्योंकि इसमें चित्त सांसारिक स्तुओं में क्षिप्त अर्थात् चंचल रहता है। दूसरी भूमि 'मूढ़' कहलाती है। क्योंकि इसमें चेत्त की अवस्था निद्रा के सदृश अभिभूत रहती है। तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' कहलाती है। यह क्षिप्त से अपेक्षाकृत शांत अवस्था है, किंतु बिलकुल शांत नहीं है। इन चित्त-भूमियों में योगाभ्यास संभव नहीं है। चौथी तथा पाँचवीं भूमियाँ 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध' कहलाती हैं। एकाग्र अवस्था में चित्त किसी ध्येय में निविष्ट या केंद्रीभूत रहता है। निरुद्धावस्था में चिंतन का भी अंत हो जाता है। एकाग्र तथा निरुद्ध योगाभ्यास में सहायक हैं। योग दो प्रकार का होता है। संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात उस योग या समाधि

को कहते हैं जिसमें चित्त ध्येय विषय में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, जिससे चित्त
उस विषय का पूर्णतया स्पष्ट ज्ञान होता है। असंप्रज्ञात उस योग को कहते हैं जि
मन की सभी क्रियाओं का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप, ध्येय विषय के साथ-साथ
सभी विषयों के ज्ञान का लोप हो जाता है। केवल स्वप्रकाश आत्मा ही अव
रह जाता है।

योगाभ्यास के आठ अंग हैं जो 'योगांग' कहलाते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणा
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरि
का अभ्यास करना ही 'यम' है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान,
आचारों का अभ्यास 'नियम' कहलाता है। आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को 'आ
कहते हैं। नियंत्रित रूप से श्वासग्रहण, धारण तथा त्याग को 'प्राणायाम' कहते
इंद्रियों को विषयों से हटाने का नाम 'इंद्रियसंयम' अर्थात् 'प्रत्याहार' है। चित्त
शरीर के अंदर या बाहर की किसी वस्तु पर केंद्रीभूत करने को 'धारणा' कहते हैं। वि
विषय का सुदृढ़ तथा अविराम चिंतन 'ध्यान' कहलाता है। 'समाधि' चित्त की वह अव
है जिसमें ध्यानशील चित्त ध्येय विषय में तल्लीन हो जाता है।

योग-दर्शन को सेश्वर-सांख्य कहते हैं और कपिलकृत सांख्य को निरीश्वर-सां
योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिए तथा आत्म-ज्ञान के लिए ईश्वर ही ध्यान
सर्वोत्तम विषय है। ईश्वर पूर्ण, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वदोषरहित है। योग
अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के लिए निम्नोक्त प्रमाण दिए जाते हैं—जहाँ तारतम्य है
सर्वोच्च का होना नितांत आवश्यक है। ज्ञान में न्यूनाधिक्य है। अतः पूर्ण ज्ञान
सर्वज्ञता का होना निःसंदेह है। जो पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ है वही ईश्वर है। प्रकृति
पुरुष के संयोग से संसार की सृष्टि का आरंभ होता है। संयोग का अंत होने पर प्र
होता है। पारस्परिक संयोग या वियोग पुरुष और प्रकृति के लिए स्वाभाविक नहीं
अतः एक पुरुष-विशेष का अस्तित्व परमावश्यक है जो पुरुषों के पाप तथा पुण्य के अनु
पुरुष तथा प्रकृति में संयोग या वियोग स्थापित करता है।

(८) मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि थे। मीमांसा को पूर्व मीमांसा भी कहते
इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक-कर्मकांड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करना है। कर्मकांड
आधार वेद है। मीमांसा के अनुसार वेद मनुष्य-रचित नहीं; वह अपौरुषेय तथा नित्य
इसलिए वेद पुरुषकृत दोषों से रहित है। वेद का प्रकाश ऋषियों के द्वारा हुआ है।
की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए मीमांसा-दर्शन में प्रमाणों का सविस्तर विचार
है। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं। पर्या
सामग्री रहने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इंद्रियों के निर्दोष होने से, वस्तुओं के सा
रहने से तथा अन्य सहकारी कारणों के उपस्थित रहने से ही प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता
पर्याप्त सामग्री रहने से अनुमान भी हो जाता है। जब हम भूगोल की कोई पुस्तक प
हैं तो हमें उस समय शब्द-प्रमाण के द्वारा परोक्ष देशों का भी ज्ञान हो जाता है। इन प्रम
के द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उस

्यता हम निर्विवाद मान लेते हैं, इसके लिए हम किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा हीं करते। यदि ज्ञान में कोई संदेह रहे तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता है। कि ज्ञान में विश्वास का होना परमावश्यक है। बिना विश्वास का ज्ञान यथार्थतः नहीं है। वेद के अध्ययन से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसमें हमारा विश्वास भी रहता है। अतः वैदिक ज्ञान अन्य ज्ञानों की तरह स्वयं प्रमाण उसमें यदि कहीं कोई संदेह की उत्पत्ति होती है तो उसका निराकरण मीमांसा युक्तियों के द्वारा होता है। बाधाओं के दूर हो जाने पर वैदिक ज्ञान स्वयं ठित हो जाता है। अतः वेद की प्रामणिकता असंदिग्ध है।

वेद का विधान ही धर्म है। वेद जिसका निषेध करता है वह अधर्म है। विहित का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है। धर्म का आचरण व्य समझकर निष्काम भाव से करना चाहिए। वेद-विहित कर्मों को किसी फल पुरस्कार की प्रत्याशा में नहीं करना चाहिए। वरं, उन्हें वेद का आदेश समझकर करना चाहिए। नित्यकर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वाजित कर्मों का नाश होता और देहांत होने पर मुक्ति मिलती है। इस तरह का निष्काम आचरण ज्ञान ा संयम की सहायता से हो सकता है। प्राचीन मीमांसा के अनुसार स्वर्ग या ुद्ध सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। किंतु आगे चलकर मोक्ष केवल जन्म-नाश तथा दुःख का अंत समझा जाने लगा है।

आत्मा नित्य है। इसका नाश नहीं हो सकता। वेद के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति के ए धर्म का आचरण करना चाहिए। यदि आत्मा की मृत्यु हो जाए तो स्वर्ग की मना या स्वर्ग-प्राप्ति निरर्थक हो जाती है। जैन दार्शनिकों की तरह मीमांसक भी त्मा की नित्यता के लिए स्वतंत्र युक्तियाँ देते हैं। मीमांसक चार्वाक के इस मत (कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है) नहीं मानते हैं। किंतु वे यह भी नहीं ीकार करते कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है। चैतन्य की उत्पत्ति शरीर -साथ आत्मा के संयोग से होती है। विशेषतः जब किसी विषय का ज्ञानेंद्रिय साथ सहयोग होता है तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह ता है तथा चेतनाविहीन होता है। किंतु उसमें चैतन्य की शक्ति रहती है।

आत्मा जब देहयुक्त रहता है तब उसे कई प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं। मीमांसा ी एक शाखा के प्रवर्त्तक प्रभाकर थे। प्रभाकर-मीमांसा के अनुसार पाँच प्रकार के प्रमाण —प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा ब्द की व्याख्या न्याय तथा मीमांसा में प्रायः एक-सी है। उपमानसंबंधी केवल एक न्नता है। मीमांसा के अनुसार उपमान निम्नोक्त ढंग से होता है। कोई व्यक्ति जिसने नुमान देखा है, जंगल जाता है। वह जंगल में बंदर देखता है और कहता है कि यह दर हनुमान के सदृश है। यह उक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणित होती है। तत्पश्चात् दि वह व्यक्ति कहे कि "मैंने जो अतीत में हनुमान देखा है, वह इस बंदर के समान है" ो इसे हम प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कह सकते। यह ज्ञान उपमान के द्वारा होता है क्योंकि हनुमान हाँ उपस्थित नहीं है। जब हम किसी आपात विरोधी का समाधान नहीं कर सकते हैं तो

हम अर्थापत्ति की सहायता लेते हैं। यदि कोई मनुष्य दिन में भोजन नहीं करे और मोटा होता जाए तो हम अर्थापत्ति से जान पाते हैं कि वह रात में अवश्य भोजन करता है। यदि कोई मनुष्य जीवित हो और घर पर न रहे तो अर्थापत्ति के द्वारा जाना जा सकता है कि वह कहीं अन्यत्र है।

मीमांसा की दूसरी एक शाखा कुमारिल भट्ट ने स्थापित की है। भट्ट-मीमांसा के अनुसार उपर्युक्त पांच प्रमाणों के अतिरिक्त एक और प्रमाण है। इस छठे प्रमाण को अनुपलब्धि कहते हैं। किसी घर में प्रवेश करने पर तथा चारों तरफ देख लेने पर यदि कोई व्यक्ति कहे कि इस घर में वस्त्र नहीं है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वस्त्राभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हुआ। किसी विषय का प्रत्यक्ष तब होता है जब उस विषय का इंद्रिय के साथ संयोग होता है। उपर्युक्त उदाहरण में वस्त्राभाव का ज्ञान हुआ। अभाव के साथ इंद्रिय का संयोग नहीं हो सकता। अतः अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा ही होता है।

मीमांसा भौतिक जगत् को मानती है। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। संसार के अतिरिक्त यह आत्माओं के अस्तित्व को भी मानती है। किंतु यह किसी जगत्-स्रष्टा, परमात्मा या ईश्वर को नहीं मानती। जगत् अनादि तथा अनंत है; न इसकी कभी सृष्टि हुई, न प्रलय होता है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म स्वतंत्र शक्ति है जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इस अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किए गए कर्मों के फल का उपभोग परलोक में किया जा सकता है।

(९) वेदांत-दर्शन

वेदांत-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पर पहुँच गई है। अतः उपनिषदों को वेदांत कहना अर्थात् वेदों का अंत कहना बहुत ही यथार्थ है। जैसा हम पहले भी कह आए हैं, वेदांत-दर्शन का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसके मूल सिद्धांत को पहले उपनिषदों में पाते हैं। फिर उन्हें बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में संकलित किया है। उसके बाद भाष्यकारों ने उन पर अपने भाष्य लिखे हैं। भाष्यों में शंकर तथा रामानुज के भाष्य अधिक विख्यात हैं। अन्य दर्शनों की अपेक्षा वेदांत-दर्शन से, विशेषतः शांकर वेदांत से भारतीयों का जीवन बहुत अधिक प्रभावित हुआ है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ऐसे पुरुष की कल्पना की गई है कि जो समूचे ब्रह्मांड में व्याप्त है तथा ब्रह्मांड से भी परे है। इस सूक्त में संसार के जड़ तथा चेतन सभी पदार्थों, मनुष्यों को तथा देवताओं को उस परम पुरुष का अंग माना गया है। इस ऐक्य भाव का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उसका पुरुष रूप नहीं रह गया। उपनिषदों में उसे सत्, आत्मन, या ब्रह्मन् कहते हैं। यहाँ सत्, आत्मन् तथा ब्रह्मन् एकार्थक शब्द हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने

इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व असत्य है। उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन। उपनिषदों के ये वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि संसार में एक ही सत्ता है और इसका नानात्व असत्य है। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह अनंत ज्ञान तथा अनंत आनंद है।

शंकर ने उपनिषदों की व्याख्या विस्तार से की है। उनके अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गई है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है। इसका अर्थ केवल यह नहीं कि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है, बल्कि ईश्वर के अंतर्गत भी कोई दूसरी सत्ता नहीं है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन, तत् त्वम् असि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खलु इदं ब्रह्म इत्यादि उक्तियाँ उपनिषद् की उक्तियाँ हैं। यदि ब्रह्म के अंतर्गत अनेक सत्ताओं का समावेश माना जाए तो इन उक्तियों की, उपनिषदों की, समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह सही है कि कुछ उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है। किंतु अन्य उपनिषदों में, यहाँ तक कि वेदों में भी, संसार की सृष्टि की तुलना इंद्रजाल से की गई है। ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया-शक्ति से संसार की रचना करता है।

शंकर का कथन है कि यदि पारमार्थिक सत्ता एक है तो संसार की सृष्टि वस्तुतः सृष्टि नहीं है। ईश्वर अपनी माया-शक्ति के द्वारा संसार का इंद्रजाल रचता है। बुद्धिवालों के लिए मायावाद को बोधगम्य बनाने के निमित्त शंकर दनिक जीवन के साधारण भ्रमों की सहायता लेते हैं। कभी-कभी रस्सी साँप के रूप में मालूम पड़ती है। सीप को देखकर चांदी का धोखा हो जाता है। ऐसे अनुभव भ्रम कहलाते हैं। सभी प्रकार की भ्रांतियों में एक अधिष्ठान रहता है जो सत्य होता है। ऊपर के उदाहरणों में रस्सी तथा सीप ऐसे अधिष्ठान हैं। अज्ञान के कारण ऐसे अधिष्ठानों पर अन्य वस्तुओं का अभ्यास या आरोप होता है। अध्यस्त वस्तु सत्य नहीं होती। ऊपर के उदाहरणों में साँप तथा रजत अध्यस्त हैं। अज्ञान से अधिष्ठान का केवल आवरण ही नहीं होता वरं विक्षेप भी होता है। विश्व की अनेकरूपता की व्याख्या इसी प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म एक है, अतः अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है। अविद्या के कारण हम ब्रह्म का सच्चा स्वरूप नहीं जान सकते हैं। हम उसे नाना रूपों में देखते हैं। बाजीगर एक मुद्रा को कई मुद्राओं में परिणत हुआ दिखलाता है। इस भ्रमात्मक प्रतीति का कारण जादूगर के लिए तो उसकी जादू दिखलाने की शक्ति है। किंतु हमारे लिए उसका कारण हमारा अज्ञान है। अज्ञानवश हम एक मुद्रा को कई मुद्राओं के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक है, फिर भी माया-शक्ति के कारण उसके अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। साथ-ही-साथ हमारा अज्ञान भी ब्रह्म की अनेकरूपता का कारण है। हमें यदि अज्ञान न हो तो हम ब्रह्म की अनेकरूपता के भ्रम में न पड़ें। अतः माया और अविद्या वस्तुतः एक हैं। दृष्टि-भेद से दो मालूम पड़ती हैं। यही कारण है कि माया को अज्ञान भी कहते हैं। कहा जा सकता है कि शंकर विशुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर सके, क्योंकि वे ईश्वर तथा माया जैसे दो तत्त्वों को मानते हैं। किंतु शंकर के अनुसार माया ईश्वर की ही एक

शक्ति है। जो संबंध आग तथा उसकी जलाने की शक्ति में है वही संबंध ईश्वर म
माया में है।

उपर्युक्त कथन से मालूम पड़ता है कि ईश्वर माया-शक्ति से विशिष्ट है। कि
ऐसा कहना भी बहुत समीचीन नहीं है। यदि संसार की अनेकरूपता को स
माना जाए तथा ईश्वर को संसार की दृष्टि से देखा जाए तो अवश्य ही ईश
की प्रतीति स्रष्टा या मायावी के रूप में होगी। किंतु जैसे ही संसार के मिथ्या
का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ईश्वर को स्रष्टा के रूपों में देखना अर्थहीन हो जा
है। जो व्यक्ति जादूगर के खेल से धोखा नहीं खाता, उसके छल को समझता है
उसके लिए वह जादूगर नहीं है। उसके लिए उस जादूगर के पास धोखा देने र्क
कला भी नहीं है। इसी प्रकार जो मनुष्य विश्व को पूर्णतया ब्रह्ममय देखता है
उसके लिए ब्रह्म में माया या सृष्टि-शक्ति नहीं रह जाती है।

उपर्युक्त विचारों को युक्तिपूर्ण बनाने के लिए शंकर दो दृष्टियों का विभेद करते हैं—
व्यावहारिक दृष्टि तथा पारमार्थिक दृष्टि। व्यावहारिक दृष्टि साधारण मनुष्यों के लि
है जो संसार को सत्य मानते हैं। हमारा व्यावहारिक जीवन इसी दृष्टि पर निर्भर है।
इसके अनुसार संसार सत्य है। ईश्वर इसका सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् स्रष्टा, रक्षक तथ
संहारक है। इस दृष्टि से ईश्वर के अनेक गुण हैं। अर्थात् वह सगुण है। शंकर इस
दृष्टि के अनुसार ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। इसके अनुसार आत्मा ए
शरीर-बद्ध सत्ता है। इसमें अहंभाव की उत्पत्ति होती है।

पारमार्थिक दृष्टि ज्ञानियों की है जो यह समझ जाते हैं कि संसार मायि
है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। संसार की असत्यता का ज्ञा
हो जाने पर ब्रह्म को स्रष्टा नहीं माना जा सकता। ब्रह्म के लिए सर्वज्ञता, सर्व
शक्तिमत्ता आदि गुणों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ब्रह्म में स्वगतभेद भी नह
रहता है। इस पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार ब्रह्म निर्विकल्पक तथा निर्गुण हो जात
है। इसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। इसके अनुसार शरीर भी भ्रांति-मूलक हो जात
है और आत्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता है।

यह पारमार्थिक दृष्टि अविद्या के दूर होने पर ही संभव है। अविद्या का नाश वेदां
के ज्ञान होने पर ही होता है। अविद्या को दूर करने के लिए मनुष्य में इंद्रिय तथा मन प
संयम, भोग्य वस्तुओं से विराग, वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान तथा मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्ति
के लिए प्रबल इच्छा होना आवश्यक है। तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को किसी योग्य गुरु
वेदांत का श्रवण करना चाहिए और उसके सिद्धांतों का मनन तथा निदिध्यासन करन
चाहिए। तत्पश्चात् शिष्य के योग्य हो जाने पर गुरु उसे कहता है—तत् त्वम् असि
(तुम ब्रह्म हो)। गुरु की इस उक्ति का वह मनन करता है और अंत में उसे साक्षात् ज्ञा
होता है कि अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ)। यही पूर्णज्ञान है और इसी को मोक्ष कहते हैं
ऐसा ज्ञानी तथा मुक्त जीव शरीर में तथा संसार में रहकर भी अनासक्त रहता है
सांसारिक वस्तुओं को वह असत्य समझता है। उनके प्रति उसे कोई आसक्ति नहीं
होती। वह संसार में रहकर भी संसार से विरक्त रहता है। किसी प्रकार की आसकि

किसी प्रकार की भ्रांति उसकी बुद्धि को विचलित या प्रभावित नहीं कर सकती। याज्ञान के कारण वह पहले अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता था। मिथ्याज्ञान के होने पर उसके दुःखों का भी अंत हो जाता है। जिस तरह ब्रह्म आनंद-स्वरूप उसी तरह मुक्त आत्मा भी वैसा ही हो सकता है।

उपनिषदों की व्याख्या रामानुज इस प्रकार करते हैं। ईश्वर ही पारमार्थिक सत्ता अचित् या अचेतन प्रकृति और चित् या चेतन आत्मा ईश्वर के ही अंश हैं। ईश्वर ा तथा सर्वशक्तिमान है। इसमें अच्छे-अच्छे सभी गुण वर्तमान हैं। ईश्वर में त् सर्वदा वर्तमान रहता है। ईश्वर ने अचित् से इस संसार की उसी प्रकार उत्पत्ति ई जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से अपने जाल की सृष्टि करता है। आत्मा भी दा ईश्वर में वर्तमान रहते हैं। वे अणु हैं। उनका स्वरूप स्वभावतः चिन्मय है। यं प्रकाशमान है। कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर-धारण करना पड़ता है। रयुक्त होना ही बंधन है। आत्मा का शरीर से पूरा-पूरा संबंध-विच्छेद मोक्ष ाता है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही बंधन का कारण है। बंधन अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। वह शरीर को ही अपना प समझता है। अतः उसके आचरण भी उसी प्रकार के होते हैं। वह इंद्रिय-सुख नए लालायित रहता है। वह संसार में आसक्त हो जाता और इसी आसक्ति के कारण वारंवार जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। वेदांत से मनुष्य को ज्ञान होता है कि मनुष्य आत्मा उसके शरीर से भिन्न है। यह ईश्वर का एक अंश है, अतः इसका अस्तित्व ईश्वर ही निर्भर है। अनासक्त भाव से वेदविहित धर्मों का आचरण करने से कर्मों की संचित त नष्ट हो जाती है और अनंत ज्ञान प्राप्त होता है। साथ-साथ यह ज्ञान भी होता है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है जो प्रेम के योग्य है। मनुष्य अहर्निश र की भक्ति करने लगता है तथा अपने को ईश्वर में अर्पित कर देता है। र भक्ति से प्रसन्न होते हैं और भक्त को बंधन से मुक्त कर देते हैं। मुक्त ा देहांत के बाद कभी जन्म ग्रहण नहीं करता। वह ईश्वर सदृश हो जाता है। र के समान उसका भी चैतन्य विशुद्ध तथा दोषरहित हो जाता है। किंतु ये एक हो जाते क्योंकि आत्मा अणु तथा ईश्वर विभु है। अणु विभु नहीं हो सकता।

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है। ईश्वर के अतिरिक्त और सत्ता नहीं है। किंतु ईश्वर के अंतर्गत अनेक सत्ताएँ हैं। संसार की सृष्टि है। अतः, रामानुजीय दर्शन को विशुद्ध अद्वैत नहीं कह सकते हैं। इसे विशिष्टाद्वैत हैं। यह अद्वैतवाद इसलिए है कि यह ईश्वर को ही एकमात्र सर्वव्यापी त्र सत्ता मानता है। किंतु ईश्वर अन्य सत्ताओं से अर्थात् चिन्मय आत्माओं से अचित् पदार्थों से विशिष्ट वा समन्वित है, इसलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

२

चार्वाक-दर्शन

१. उत्पत्ति और प्रतिपाद्य विषय

जड़वाद का अर्थ

जड़वाद उस सिद्धांत को कहते हैं जिसके अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्त्व इसके अनुसार मन तथा चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से ही होती है। जड़वादियों एक साधारण प्रवृत्ति यह है कि वे ईश्वर, धर्म, आत्मा उच्च तत्त्वों को जड़ जैसे निम्न तत्त्वों में परिणत करने का करते हैं। वे जड़ ही को सभी पदार्थों का मूल समझते हैं। जड़वाद की दृष्टि आध्यात्मिक से प्रतिकूल है।

भारतीय जड़वाद का कोई क्रमबद्ध ग्रंथ प्राप्य नहीं है

जड़वाद भारतवर्ष में किसी-न-किसी रूप में प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। उल्लेख वेदों में, बौद्ध-ग्रंथों में, पुराणों में तथा दार्शनिक ग्रं भी पाया जाता है। किंतु जड़वाद पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ मिलता। अन्य दर्शनों की तरह इसके समर्थकों का न तो सुसंगठित संप्रदाय ही मिलता है और न कोई ग्रंथ ही। प्रत्येक भारतीय दर्शन में चार्वाक-मत अर्थात् जड़वाद का किया गया है। मुख्यतः इसीसे चार्वाक-मत का परिचय मिलता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में जड़वादी के लिए प्रायः 'चार्वाक' शब्द व्यवहृत था। चार्वाक शब्द का मूल अर्थ क्या था इसका पता नहीं है। कुछ विद्वानों का कि चार्वाक एक ऋषि का नाम था। जिन्होंने जड़वाद का प्रतिपादन किया था। उनके अनुयायी भी चार्वाक कहलाए। इस तरह जड़वादी का दूसरा नाम चार्वाक हो अन्य विद्वानों का कथन है कि चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं था। 'चार्वाक' 'चर्व्' धातु से निष्पन्न है। 'चर्व्' का अर्थ चबाना या भोजन करना है। चूँकि च मत में खाने-पीने पर ज्यादा जोर दिया जाता है इसलिए इसका नाम 'चार्वाक' पड़ा चार्वाकों का कहना था—'पिव, खाद च वरलोचने इत्यादि।[1]

अन्य विद्वान् कहते हैं कि जड़वादियों को चार्वाक नाम इसलिए दिया है कि उनके वचन (वाक्) बड़े मीठे होते थे। 'चारु' (सुंदर) 'वाक्' है कारण वे चार्वाक कहलाए। कुछ अन्य विद्वान्[2] यह कहते हैं कि जड़वाद के बृहस्पति थे। इस विचार के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिए जाते हैं। लोक के गुरु बृहस्पति जिन वैदिक ऋचाओं के ऋषि हैं उनमें स्वतंत्र विचा विद्रोह की लहर है। (२) महाभारत तथा अन्य कतिपय ग्रंथों में इस का उल्लेख पाया जाता है कि जड़वादी विचारों का समर्थन बृहस्पति ने कि

१ षड्-दर्शन-समुच्चय—लोकायतमतम्।

२ षड्-दर्शन-समुच्चय तथा सर्व-दर्शन संग्रह देखिए।

(३) कतिपय विद्वानों ने कुछ ऐसे सूत्रों तथा श्लोकों का उल्लेख किया है जिन्ह बृहस्पतिप्रणीत समझते हैं। कुछ विद्वानों का तो कथन है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति ने चार्वाक मत का प्रचार देवताओं के शत्रुओं में अर्थात् दानवों में किया था। उनके प्रचार का अभिप्राय यह था कि चार्वाक मत के उपदेशों के अनुसार चलने से दानवो का आप-से-आप नाश हो जाए।

जड़वादी को चार्वाक या लौकायतिक कहते हैं

भारतीय जड़वाद के प्रवर्तक जो कोई भी हों, वर्तमान समय में 'चार्वाक' 'जड़वादी' का पर्यायवाची शब्द हो गया है। जड़वाद को 'लोकामतमत' भी कहते हैं, क्योंकि यह लोगों में आयत या विस्तृत है। इसलिए जड़वादी को लौकायतिक भी कहते हैं।

यों तो ज़ड़वादी विचारों का उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में जहां-तहां पाया जाता है, फिर भी हम उन विचारों को एक सुगठित रूप दे सकते हैं तथा उनमें जो प्रमाण-विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान तथा नीति-विज्ञान संबंधी सिद्धांत हैं उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते हैं।

२. प्रमाण-विचार

प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है।

चार्वाक-दर्शन मुख्यतया अपने प्रमाण-संबंधी विचारों पर ही अवलंबित है। प्रमाण-विज्ञान की प्रधान समस्याएँ ये हैं—हमारे तत्त्व-ज्ञान की सीमा क्या है? उनकी उत्पत्ति एवं विकास कैसे होता है? ज्ञान-प्राप्ति के लिए क्या-क्या प्रमाण है? विभिन्न प्रमाणों का विचार भारतीय प्रमाण-विज्ञान का एक प्रधान-अंग है। तत्त्व-ज्ञान या यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा के कारण को (अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है उसको) प्रमाण कहते हैं। कितने प्रकार के प्रमाण हैं इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है[१] जो क्रमशः स्पष्ट होगा। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसके अनुसार केवल इंद्रियों के द्वारा ही विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इंद्रिय-ज्ञान ही एकमात्र यथार्थज्ञान है। इस मत के प्रतिपादन के लिए चार्वाक अनुमान तथा शब्द जैसे प्रमाणों का खंडन करते हैं।

(१) अनुमान निश्चयात्मक नहीं है

अनुमान को हम प्रमाण तभी मान सकते हैं जब इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान संशय रहित तथा वास्तविक हो। किंतु अनुमान में इन बातों का सर्वथा अभाव है। जब हम

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दं च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवम् उपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥
—मानसोल्लास २-१७-२०

अनुमान संदेहात्मक है, क्योंकि यह व्याप्ति पर निर्भर करता है

धूमवान् पर्वत को देखकर इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पर्वत वह्नि है तो हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष पर चले जाते हैं। नैयायिकों के अनुसार, इस प्रकार का प्रमाण सर्वथा युक्तिपूर्ण है क्योंकि धूम अग्नि में व्याप्ति का संबंध वर्तमान है। अतः हम कह हैं कि—

जितने धूमवान् पदार्थ हैं, वे सभी वह्निमान् हैं।
पर्वत धूमवान् है।
अतः पर्वत वह्निमान् है।

चार्वाकों का कहना है कि अनुमान तभी युक्तिपूर्ण तथा निश्चयात्मक हो सकता व्याप्ति-वाक्य सर्वथा निःसंदेह हो; क्योंकि व्याप्ति-वाक्य में ही लिंग का साध्य पूर्णव्यापक संबंध स्थापित रहता है। धूमवान् पर्वत को नि

व्याप्ति संभव नहीं है

त्मक ढंग से वह्निमान् तभी मान सकते हैं जब सभी धूमवान् वास्तव में वह्निमान् हों। सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं, हम तभी सिद्ध कर सकते हैं जब हम सभी धूमवान् पदार्थों को उनके साथ वह्नि के संबंध को भी देख सकें। किंतु यह सर्वथा असंभव है। भूत तथा भ की तो बात ही क्या, वर्तमान समय में भी संसार के भिन्न-भिन्न भागों में जो धू पदार्थ है उन्हें भी हम नहीं देख सकते। अतः यह स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष के द्वारा व्या की स्थापना नहीं कर सकते। अनुमान के द्वारा भी हम इसे स्थापित नहीं कर क्योंकि जिस अनुमान के द्वारा हम इसकी स्थापना करेंगे उसकी सत्यता भी तो व्याप्ति ही निर्भर करती है। इस तरह यहाँ अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। व्याप्ति की स्थ हम शब्द के द्वारा भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही होती है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान सदा शब्द-प्रमाण पर ही निर्भर हो तो कोई भी व्यक्ति अपने आप से अनुमान नहीं कर सकता। उसे सर्वदा किसी विश्वास व्यक्ति पर निर्भर करना होगा।

यहाँ यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि हम सभी धूमवान् तथा वह्निमान् पदा तो नहीं देख सकते हैं, किंतु उनके सामान्य धर्मों को अर्थात् 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' अवश्य देख सकते हैं। अतः सभी धूमवान् पदार्थों तथा वह्निमान् पदार्थों को बिना भी 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' में नियत संबंध स्थापित किया जा सकता है। इस संबंध स्थापित करके किसी भी धूमवान् पदार्थ को देखकर यह अनुमान किया जा है कि यह वह्निमान् है। चार्वाक इस युक्ति का भी खंडन करते हैं। वस्तुतः प्रत्य द्वारा धूमत्व का ज्ञान संभव ही नहीं है। धूमत्व तो एक जाति या सामान्य है जो धूमवान् पदार्थों में वर्तमान है। अतः जबतक सभी धूमवान् पदार्थों का प्रत्यक्ष तबतक उनके सामान्य का ज्ञान नहीं हो सकता। किंतु, सभी धूमवान् पदार्थों का प्र संभव नहीं है। अतः 'धूमत्व' केवल उन धूमवान् पदार्थों का सामान्य समझा जिन्हें हमने देखा है। अर्थात् धूमत्व अप्रत्यक्ष धूमवान् पदार्थों का सामान्य नहीं मा

ःता। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ व्यक्तियों को देखकर व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि संसार में कोई निश्चित सर्वव्यापक नियम
ीं है तो सांसारिक वस्तुओं में नियमितता क्यों पाई जाती है? आग सर्वदा
ी क्यों रहती है? जल सदा शीतल क्यों रहता है? चार्वाक इसका उत्तर यह
ें हैं कि यह वस्तुओं का स्वभाव है। वस्तुओं के प्रत्यक्ष धर्म को समझने के लिए
सी अप्रत्यक्ष नियम की कल्पना करना अनावश्यक है। यह सर्वथा अनिश्चित है
वस्तुओं में जो नियम अतीत में पाया गया है वह भविष्य में भी पाया जाएगा।

र्य-कारण-संबंध स्थापना भी ीं हो सकती है

आधुनिक तर्क-विज्ञान से यह प्रश्न आ सकता है कि क्या धूम तथा वह्नि की व्याप्ति
कार्य-कारण-संबंध के अनुसार स्थिर नहीं की जा सकती है? चार्वाक
इसका यह उत्तर देंगे कि कार्य-कारण-संबंध भी एक व्याप्ति है।
अतः इसकी स्थापना भी उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण संभव नहीं है।

चार्वाक साथ-साथ यह भी उत्तर देंगे कि दो वस्तुओं को कई बार साथ-साथ देखकर
कार्य-कारण-संबंध या अन्य किसी व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते हैं। क्योंकि
ा संबंध स्थापित करने के लिए यह जान लेना आवश्यक होता है कि उन दोनों वस्तुओं
साहचर्य (एक साथ रहना) किसी अलक्षित कारण या अन्य उपाधि पर तो निर्भर नहीं
ता। कोई व्यक्ति कई बार अग्नि को धूम के साथ देखता है। उसके बाद वह केवल
न को देखकर धूम का अनुमान करता है। यहाँ दोष की संभावना रह जाती है।
कि यहाँ उपाधि की अवहेलना की गई है। जैसे—इंधन की आर्द्रता। अग्नि के साथ धूम
ा हो सकता है जब इंधन आर्द्र रहे। जब तक दो वस्तुओं का संबंध उपाधि रहित नहीं
तब तक यह अनुमान का सही आधार नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्ष के द्वारा यह
ः नहीं हो सकता कि कोई व्याप्ति उपाधि-रहित है, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यापक नहीं
सकता। यह संभव नहीं है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सभी उपाधियों का ज्ञान प्राप्त हो।
धि-निरास के लिए अनुमान या शब्द की सहायता लेना भी अनुचित होगा, क्योंकि
ा स्वयं संदिग्ध हैं। और जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे का साधन कैसे कर सकता है?
यम् असिद्धः कथं परान् साधयति !

-कभी कुछ मान सही ल आते हैं

यह सत्य है कि हम अनुमान के अनुसार निःशंक अपना कार्य करते हैं। लेकिन इसका
केवल यह होता है कि हम बिना विचारे अनुमान की सत्यता मान लेते हैं और उसी
भ्रांत धारणा पर काम करते हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी
काकतालीय न्याय से (संयोगवश) हमारे अनुमान सही निकल आते
हैं। किंतु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अनेक बार वे गलत
भी पाए जाते हैं। अतः हम नहीं कह सकते कि अनुमान अवश्य ही
प्रामाणिक होता है। अनुमानों का प्रामाणिक होना स्वाभाविक धर्म
है। कुछ अनुमान प्रामाणिक होते, कुछ नहीं भी होते हैं।

(२) शब्द भी प्रमाण नहीं है

क्या योग्य या प्रवीण व्यक्तियों का शब्द प्रमाण नहीं है ? क्या ... से प्राप्त ज्ञान के अनुसार हम अपने कार्य नहीं करते हैं ? यहाँ चार्वाक यह उत्तर देते हैं कि विश्वासयोग्य व्यक्तियों से ज्ञान शब्द के रूप में मिलता है। शब्दों का सुनना तो प्रत्यक्ष है। इस तरह ... के द्वारा होता है। इसलिए इसको प्रामाणिक मानना चाहिए किंतु यदि शब्द से ऐसी वस्तुओं का बोध हो जो प्रत्यक्ष से बाहर अर्थात् यदि शब्द से अप्रत्यक्ष वस्तुओं का बोध होता हो तो ... दोषरहित नहीं कहा जा सकता। तथाकथित शब्द-प्रमाण से ... हमलोगों को मिथ्याज्ञान प्राप्त होता है। अनेक व्यक्तियों को ... में पूरा विश्वास है। किंतु वेद क्या है ? वेद तो उन धूर्त्त पुरोहितों का कृत्य है जि... अज्ञान तथा विश्वासपरायण मनुष्यों को धोखे में डालकर ... जीविका का प्रबंध किया है। इन पुरोहितों ने झूठी-झूठी आशाएँ ... झूठे-झूठे प्रलोभन देकर मनुष्यों को वैदिक कर्मों के अनुसार चलने ... प्रेरित किया है। इन कर्मों से लाभ केवल पुरोहितों को होता है।

अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संबंध में शब्द विश्वसनीय नहीं हो सकता

वेद भी विश्वास-योग्य नहीं है

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। यदि हम अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति के शब्दों ... विश्वास न कर सकेंगे, तो क्या हमारा ज्ञान अत्यंत संकुचित न ... और हमारे कार्यों में बाधा न पहुँचेगी ? यहाँ चार्वाक निम्न... उत्तर देते हैं। शब्द से प्राप्त जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी अनु... सिद्ध हैं। किसी भी शब्द को हम इसलिए मानते हैं कि यह वि... योग्य होता है। अतः शब्द से ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक अनु... की आवश्यकता होती है। यह अनुमान इस तरह का होता है—

अनुमान-सिद्ध शब्द अनुमान की तरह ही संदिग्ध है

सभी विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वाक्य मान्य ...
यह विश्वासयोग्य व्यक्ति का वाक्य ...
अतः यह मान्य ...

इससे यह स्पष्ट है *कि शब्द के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान अनुमान* अवलंबित होता है। इसलिए शब्द की प्रामाणिकता उसी प्रकार संदिग्ध है ... प्रकार अनुमान की। अनुमान की तरह हम शब्द को भी विश्वासयोग्य मा... उसके अनुसार अपने कार्य करते हैं। कभी-कभी इस विश्वास के अनुसार ... करने से सफलता मिल जाती है, किंतु अनेक बार नहीं भी मिलती है। ... शब्द-ज्ञान प्राप्ति का यथार्थ और निर्भर योग्य साधन नहीं माना जा सकता।

संक्षेप में चार्वाक का कहना यह है। चूँकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अ... तथा शब्द विश्वास योग्य है, इसलिए प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

३. तत्त्व-विचार

विश्व के मूल तत्त्वों के संबंध में चार्वाकों का मत उनके प्रमाण-संबंधी सि... पर अवलंबित है। चूँकि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है इसलिए हम केवल उन्हीं वस्तु...

अस्तित्व को मान सकते हैं जिनका प्रत्यक्ष हो सकता है। ईश्वर आत्मा, स्वर्ग, जीवन की नित्यता, अदृष्ट आदि विषयों को हम नहीं मान सकते, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। हमें केवल जड़-द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः हम केवल उन्हीं को मान सकते

ही एकमात्र
ा है

इस प्रकार चार्वाक जड़वाद का प्रतिपादन करते हैं। इनके मत के अनुसार जड़ ही मात्र तत्त्व है।

(१) संसार चार भूतों से निर्मित है

जड़-जगत् के निर्माण के संबंध में अनेक भारतीय दार्शनिकों का मत है कि आकाश, ;, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पंचभूतों से यह जगत् निर्मित है। किंतु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानते। क्योंकि इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है। अतः संसार चार प्रकार के प्रत्यक्ष भूतों से ही निर्मित है। इन तत्त्वों से केवल निर्जीव पदार्थों की ही उत्पत्ति नहीं हुई है। किंतु उद्भिद् आदि सजीव द्रव्य भी ां से उत्पन्न हुए हैं। प्राणियों का जन्म तत्त्वों के संयोग से होता है। मृत्यु के वे फिर भूतों में ही मिल जाते हैं।

: प्रकार के
तत्त्व हैं

(२) आत्मा नहीं है

हम ऊपर कह आए हैं कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार के हो सकते हैं—वाह्य तथा मानस। मानस प्रत्यक्ष के द्वारा हम आंतरिक भावों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस तरह आंतरिक भावों के ज्ञान से चैतन्य का भी प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य वाह्य जड़-द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। तो क्या हम नहीं कह सकते कि हमारे अंतर्गत एक अभौतिक सत्ता है ा हम आत्मा कहते हैं और जिसका गुण चैतन्य है?

यविशिष्ट
र ही
मा है

चार्वाक स्वीकार करते हैं कि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। किंतु यह नहीं मानते कि चैतन्य किसी अभौतिक तत्त्व अर्थात् आत्मा का गुण है। मा का तो कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। जड़-तत्त्वों से बने जो हमारे शरीर हैं ल उन्हीं का तो प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य हमारे शरीर के अंतर्गत है, इसलिए न्य को शरीर का ही गुण मानना चाहिए। चेतन शरीर को ही आत्मा कहना हिए। "चैतन्यविशिष्टो देहः एव आत्मा"। आत्मा एवं शरीर के तादात्म्य का दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त होता है। "मैं मोटा हूँ", "मैं लंगड़ा हूँ", "मैं ा हूँ" ये वाक्य आत्मा और शरीर की एकता को ही प्रमाणित करते हैं। यदि मा शरीर से भिन्न हो तो इन वाक्यों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि चैतन्य का अस्तित्व तो किसी भी जड़-तत्त्व ाहीं पाया जाता। और जब तत्त्वों में ही इसका अभाव होगा तो उनके योग से बने शरीर में इसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? चार्वाक इसका यह उत्तर देते हैं। जड़ ों के संयोग से किसी वस्तु का निर्माण होता है। यह संभव है कि तत्त्वों में यदि किसी

गुण-विशेष का अभाव भी रहे तो उसकी उत्पत्ति उस निर्मित वस्तु में हो जा सकती पान, चूना, सुपारी में लाल रंग का अभाव है। किंतु इनको जब एक साथ ... है तो उनमें लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न ... में रखने से भी उसमें नए-नए गुणों का आविर्भाव होता है। गुड़ में मादकता ना... है। किंतु गुड़ के सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है।[१] इसी प्रकार ... भी सम्मिश्रण यदि एक विशेष ढंग से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है ... गुण चैतन्य का आविर्भाव होता है। शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है।

शरीर से भिन्न यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो उसके अमर या नित्य है कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है। और ... जीवन का अंत समझना चाहिए। पूर्वजीवन, भविष्यजीवन, पुनर्जन्म, स्वर्ग, कर्मभोग—ये सभी विश्वास निराधार हैं।

(३) ईश्वर नहीं है

आत्मा की तरह ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि ... का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जड़-तत्त्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति ... इसके लिए किसी स्रष्टा की कल्पना अनावश्यक है। यहाँ हो सकता है कि क्या संसार की सृष्टि के लिए जड़-तत्त्वों का ... आप-से-आप हो जाता है ? किसी भी वस्तु के लिए उपादान के साथ-साथ निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। ... के घड़े बनाने में मिट्टी की आवश्यकता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। मिट्टी के अतिरिक्त एक निमित्त कारण अर्थात् कुंभकार की आवश्यकता है जो मि... घड़े का रूप देता है। चार्वाक के अनुसार जो चार भूत हैं वे संसार के केवल उ... कारण हैं। इसके अतिरिक्त एक निमित्तकारण अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता ... जो इन उपादानों को लेकर इस विचित्र संसार की सृष्टि करता है। इसके उत्तर में ... कहते हैं कि जड़-तत्त्वों का स्वयं अपना-अपना स्वभाव है। अपने-अपने स्वभाव के ... ही ये संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है। ... लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इस जगत् की ... किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है। अधिक युक्ति-संगत यही है कि इसकी ... जड़-तत्त्वों के आकस्मिक संयोग से हुई है। अतः चार्वाक ईश्वर को नहीं मानते ... अनीश्वरवादी हैं।

ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है

चार्वाक के अनुसार जड़भूतों के अंतर्निहित स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति हो... है। इसलिए चार्वाक-मत 'स्वभाववाद' भी कहलाता है। इसे यदृच्छावाद भी ... हैं। क्योंकि इसके अनुसार संसार की उत्पत्ति किसी प्रयोजन-साधन के लिए न... है। संसार तो जड़-तत्त्वों का आकस्मिक संयोग है। चार्वाक-मत प्रत्यक्षवाद भी ... जा सकता है क्योंकि यह केवल प्रत्यक्ष वस्तुओं के अस्तित्व को मानता है।

१ विम्बादिम्बः मदशक्तिवत् ।

४. चार्वाक के नैतिक विचार

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? कौन ऐसा चरम लक्ष्य है जिसको मनुष्य प्राप्त कर सकता है ? किस सिद्धांत के अनुसार नैतिक विचारों का निर्णय होता है ? चार्वाक अपने तत्व-ज्ञान के अनुसार ही नैतिक प्रश्नों का भी विचार करते हैं।

स्वर्ग मिथ्या कल्पना है

मीमांसक प्रभृति कुछ विचारक स्वर्ग को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। स्वर्ग पूर्ण आनंद की अवस्था को कहते हैं। इहलोक में वैदिक आचारों के अनुसार चलने से परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। चार्वाक इसे नहीं मानते हैं, क्योंकि यह परलोक के विश्वास पर अवलंबित है। इनके अनुसार तो परलोक का कोई प्रमाण ही नहीं है। स्वर्ग और नरक पुरोहितों की मिथ्या कल्पनाएँ हैं। पुरोहित-वर्ग अपने व्यावसायिक लाभ के लिए लोगों को नाना प्रकार के भय और प्रलोभन देकर वैदिक आचारों को करने के लिए वाध्य करता है। बुद्धिमान् पुरुष उनसे प्रतारित नहीं हो सकते हैं।

दुःखों से मुक्ति पाना संभव नहीं है

अन्यान्य दार्शनिक मोक्ष को जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। दुःखों का पूर्ण-विनाश मोक्ष है। कुछ विचारकों का मत है कि मोक्ष मृत्यु के उपरांत ही मिल सकता है। किंतु कुछ लोगों का कहना है कि यह इसी जीवन में मिल सकता है। चार्वाक इनमें से किसी मत को नही मानते हैं। उनका कहना यह है कि यदि मोक्ष का अर्थ आत्मा का शारीरिक बंधन से मुक्त होना है तो यह कदापि संभव नही है। क्योंकि आत्मा नाम की कोई सत्ता ही नहीं है। मोक्ष का अर्थ यदि जीवन-काल में ही दुःखों का अंत होना समझा जाए, तब भी यह संभव नही है। क्योंकि शरीर-धारण तथा सुख-दुःख में अविच्छेद्य संबंध है। दुःख को कम किया जा सकता है तथा सुख की वृद्धि हो सकती है, किंतु दुःखों का पूर्णविनाश तो मृत्यु से ही हो सकता है। वृहस्पतिसूत्र में कहा है—**"मरणम् एव अपवर्गः"**। कुछ व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाकर सुख-दुःख से रहित अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि बहुधा सुख के साथ दुःख भी मिला रहता है। ऐसे व्यक्ति मूर्ख हैं। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अन्न को इसलिए नहीं छोड़ता कि उसमें भूसा लगा हुआ है।[१] काँटों के कारण मछली खाना नहीं छोड़ा जाता। पशुओं के द्वारा ध्वंस हो जाने के डर से कृषि नही छोड़ी जाती है। भिक्षुओं से माँगे जाने के डर से भोजन पकाना नहीं बंद किया जाता।[२] हमलोगों का अस्तित्व शरीर में तथा वर्तमान जीवन तक ही

---

१ त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्य पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी।—सर्वदर्शन संग्रह

२ नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।
नहि मृगाः सन्तीति सालयो नोप्यन्ते।—स० द० सं०

सीमित है। अतः, इस शरीर के द्वारा जो सुख प्राप्त हो सकता है वही हमारा एक लक्ष्य होना चाहिए। परलोक-सुख की झूठी आशा में रहकर हमें इस जीवन के सुख भी ठुकरा नहीं देना चाहिए। "कल मयूर मिलेगा" इस आशा में कोई हाथ में आए कपोत को नहीं छोड़ता।[१] संदिग्ध स्वर्णमुद्रा से निश्चित कौड़ी ही अधिक मूल्यवान् है। हस्तगत धन को परहस्तगत करना मूर्खता है। अतः मनुष्य का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वर्तमान जीवन में अधिक-से-अधिक कितना सुख प्राप्त कर सकता है और अपने दुःखों को अधिक-से-अधिक कितना कम कर सकता है। सफल जीवन वही है जिसमें अधिक-से-अधिक सुख भोग होता है। अच्छा काम वही है जिससे दुःख की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है। बुरा काम वही है जिससे सुख की अपेक्षा अधिक दुःख मिलता है। चार्वाक के इस मत को हम सुखवाद (Hedonism) कह सकते हैं। सुखवाद के अनुसार सुखभोग जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

सुख ही जीवन का लक्ष्य है

कुछ भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि पुरुषार्थ चार हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। चार्वाक धर्म और मोक्ष को स्वीकार नहीं करते। मोक्ष का अर्थ पूर्ण दुःख विनाश है जो मृत्यु होने से ही संभव हो सकता है। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी मृत्यु की कामना नहीं करता। शास्त्र विश्वासयोग्य नहीं है। अतः धर्म और मोक्ष को हम पुरुषार्थ नहीं मान सकते। हम केवल अर्थ और काम को अपने जीवन का लक्ष्य मान सकते हैं। बुद्धिमान् व्यक्तियों को अर्थ और काम के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। इन दोनों में काम ही अंतिम लक्ष्य हो सकता है। अर्थ अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो कामप्राप्ति के लिए एक साधन है।

धर्म और मोक्ष को जीवन का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। अर्थ काम का साधन है

इस तरह हम देखते हैं कि चार्वाक शास्त्रों को, धर्माधर्म को तथा परलोक को नहीं मानते हैं। इसीलिए ये यागादि कर्मों का भी विरोध करते हैं। इनके अनुसार स्वर्ग पाने के लिए, नरक से बचने के लिए या प्रेतात्माओं की तृप्ति के लिए वैदिक कर्म करना सर्वथा व्यर्थ है। ये वैदिक कर्मों का उपहास करते हैं।[२] ये कहते हैं कि यदि श्राद्ध में अर्पित किया हुआ प्रेतात्मा की भूख मिटा सकता है तो कोई पथिक भोजन की वस्तु साथ-साथ क्यों लिए फिरता है? उसका कुटुंब क्यों नहीं उसकी क्षुधा-शांति के लिए उसके घर पर ही भोजन अर्पित कर देता है?[३]

वैदिक क्रिया-कर्म व्यर्थ है

---

१ वरमद्य कपोतः न श्वो मयूरः।

२ न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः॥
जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

३ गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पना।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता॥

ने की कोठरियों में अर्पित किए हुए भोजन से ऊपर रहनेवालों की भूख क्यों नहीं
मिट जाती है? पुरोहितों का यदि वास्तविक विश्वास है कि यज्ञ में बलिदान किया
या पशु स्वर्ग पहुँच जाता है तो वे क्यों नहीं पशुओं के बदले अपने माँ-बाप की
लि कर देते हैं ताकि वे स्वर्ग जा सकें?[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाकों के लिए आचार-व्यवहार के अतिरिक्त
र कोई धर्म नहीं है और लौकिक-व्यवहार भी सुख के लिए ही है। चार्वाक
नैतिक विचार उनके जड़वाद का ही परिणाम है।

५. उपसंहार

ग्रीस के दार्शनिक एपीक्यूरस (*Epicurus*) के अनुयायियों की तरह भारत के चार्वाकों को भी लोगों ने घृणा की दृष्टि से ही देखा है, उन्हें समझने का अधिक प्रयत्न नहीं किया है। सर्वसाधारण में तो 'चार्वाक' शब्द ही निन्दावाचक हो गया है। किंतु दार्शनिकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन चार्वाक मत का कितना ऋणी है। संशयवाद और अज्ञेयवाद तो स्वतंत्र विचार के परिचायक हैं जो बिना समीक्षा किए हुए प्रचलित बातों को नहीं मानते हैं। दर्शनशास्त्र स्वतंत्र विचार से उत्पन्न है। दर्शनशास्त्र के लिए आवश्यक है कि वह अपने को सुदृढ़ बनाने के निमित्त संशयवादियों के आक्षेपों को दूर करे। संशयवादी जनसाधारण के विचारों को दोषयुक्त बताकर नई-नई समस्याएँ खड़ी करते हैं। ऐसी-ऐसी समस्याओं का समाधान कर दर्शन और भी पुष्ट और समृद्ध हो जाता है। कांट एक प्रख्यात पाश्चात्य दार्शनिक थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वे संशयवाद के ऋणी हैं। उन्होंने कहा है कि "ह्यूम के संशयवाद ने मुझे अन्धविश्वास की निद्रा से जगाया"। इसी तरह हम कह सकते हैं कि चार्वाक-मत ने भारतीय-दर्शन को हठ विश्वास से बचाया है। हम इसकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं कि सभी भारतीय दर्शनों ने चार्वाक के आक्षेपों को दूर करने का प्रयत्न किया है। चार्वाक-मत ही मानो उनके विचारों के मूल्यांकन की कसौटी थी। अतः चार्वाक-मत में दो महत्त्वपूर्ण बातें पाई जाती हैं। एक तो चार्वाक ने अनेक दार्शनिक समस्याएँ उपस्थित कीं। दूसरे, इसके कारण अनेक दार्शनिक हठ-विश्वास से बच सके और अपने विचारों का युक्ति-पूर्वक विवेचन कर सके।

भारतीय दर्शन को चार्वाक की देन

सुखवाद के कारण ही चार्वाक की निंदा हुई है। किंतु सुखभोग कोई घृणा का विषय नहीं है। अन्य लोगों ने भी सुख को किसी न किसी रूप में वांछनीय माना है। यह गर्हित तभी होता है जब यह अश्लील तथा स्वार्थपूर्ण होता है। कुछ चार्वाक निकृष्ट इंद्रिय सुख को ही जीवन का आदर्श मानते थे। किंतु चार्वाकों के दो वर्ग थे—धूर्त चार्वाक तथा सुशिक्षित चार्वाक। अतः यह स्पष्ट है कि सभी चार्वाक धूर्त तथा अशिक्षित नहीं होते थे। उनमें से अनेक सुशिक्षित होते थे जो उत्कृष्ट सुखों का अनुसरण करते थे। इसके लिए वे ललित कलाओं का अभ्यास करते थे। कामसूत्र के प्रणेता वात्स्यायन के अनुसार चौंसठ ललित कलाएँ होती हैं। सभी

१. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते?

चार्वाक स्वार्थांध नहीं होते थे। स्वार्थसुखवाद सामाजिक व्यवस्था के लिए घा
होता है। यदि मनुष्य दूसरे के लिए अपने सुख का कुछ भी परित्याग न करे
सामाजिक जीवन संभव ही नहीं हो सकता है। कुछ चार्वाक राजा को ई
मानते थे। इससे यह स्पष्ट है कि वे समाज तथा उसके प्रमुख की आवश्यकता
मानते थे। लोकायतिक-दर्शन में दंडनीति तथा वार्त्ता का भी विचार पाया जाता
अतः प्राचीन भारत के चार्वाकों में शिष्ट लोग भी थे। वर्तमान यूरोप के प्र
वादियों में भी ऐसे लोग हैं, तथा प्राचीन ग्रीस में डिमोक्रिट्स के अनुयायियों मे
ऐसे लोगों का अभाव नहीं था।

काम-सूत्र के दूसरे अध्याय में वात्स्यायन ने नैतिक विषयों पर विचार किया
वहाँ उन्होंने शिष्टसुखवाद का वर्णन किया है। उन्होंने अपना मत भी प्रकट किया है
उसे युक्ति-संगत बनाने की चेष्टा की है।[1] वात्स्यायन ईश्वरवादी थे। वे परलो
मानते थे। अतः वे साधारण अर्थ में जड़वादी नहीं थे। किंतु वे भी मोक्ष को
नहीं मानते थे और काम को श्रेष्ठ स्थान देते थे। उनके अनुसार धर्म, अर्थ, काम, ये
पुरुषार्थ हैं, और इस त्रिवर्ग का उचित सामंजस्यपूर्वक सेवन करना चाहिए।[2] वे ..
हैं कि धर्म और अर्थ को काम-प्राप्ति का साधनमात्र समझना चाहिए। धर्म
अंतिम लक्ष्य नहीं है। अंतिम लक्ष्य केवल काम है। वात्स्यायन का सुखवाद इस
शिष्ट समझा जा सकता है कि वे ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिक वृत्ति को अधिक महत्त्व
है। इनके बिना मनुष्य का सुखभोग पाशविक सुखभोग से कुछ भी भिन्न नहीं है। वात्स्या
के अनुसार पंचेंद्रियों की तृप्ति ही काम या सुख का मूल है। शरीर-रक्षा के लिए जिस
भूख की शांति नितांत आवश्यक है, उसी तरह इंद्रियों की तृप्ति भी परमावश्यक है।[3] कि
इंद्रियों को चौंसठ ललित कलाओं के अभ्यास के द्वारा शिष्ट तथा संयत बना
चाहिए। कोई व्यक्ति इन ललित कलाओं का अभ्यास करने का अधिकारी तभी होता
यदि उसने बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तथा वेदों का अध्ययन किया है
शिक्षा के बिना मनुष्य का सुखभोग पाशविक सुखभोग से भिन्न नहीं हो सकता। अ
सुखवादी ऐसे ही होते हैं जो वर्तमान सुख का कुछ भी परित्याग नहीं करते। वे जीवन
उचित सुखभोग करने के लिए बाल्यकाल में किसी कला का अभ्यास नहीं करते। वात्स्या
कहते हैं कि ऐसा अर्थ घातक होता है। ऐसी मनोवृत्ति रखनेवाला कृषि-उद्योग या बी
वपन भी छोड़ दे सकता है। क्योंकि इसका फल तो शीघ्र नहीं वरं कालांतर में मिल
है। वात्स्यायन के अनुसार अपनी सुख-लिप्सा को संयत रखना चाहिए। इसको उन्हों

1 कुछ विद्वानों के अनुसार वात्स्यायन का समय ईसवी सन् के प्रारंभ के लगभ
है। वात्स्यायन ने कहा है कि मेरे पहले प्राय: बारह ग्रंथकार हो गए हैं जिन
विचारों का संक्षिप्त वर्णन मैं कर रहा हूँ। इन ग्रंथकारों की कृतियाँ आज
अलभ्य हैं। वात्स्यायन के कथन से यह पता चलता है कि उन्होंने जिस
का विवेचन किया है वह [illegible] काल से आ रहा था।
2 परस्परस्य अनुपघातकम् त्रि[illegible] [illegible], अध्याय २।
3 [illegible] भाष्यकार यशो[illegible] [illegible] इंद्रियों को अतृप्त रखने से उन
[illegible] की [illegible]

तिहासिक दृष्टांतों के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने यह दिखलाया है कि दि हमारी प्रवृत्तियाँ धर्म और अर्थ के अनुकूल न हों तो वे सर्वनाश का कारण होती हैं ौर सुखभोग की सभी संभावनाओं को नष्ट कर देती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक की तरह ात्स्यायन यह भी कहते हैं कि हमें सुखभोग की अवस्थाओं तथा साधनों का विचार-श्लेषण करना चाहिए। कोई कार्य सफल तभी हो सकता है जब उसका आधार शास्त्र अर्थात् विज्ञान) पर प्रतिष्ठित होता है।[१] यह सही है कि जन-साधारण विचार या ध्ययन करके काम नहीं करते हैं। किंतु उनके बीच जो थोड़े भी वैज्ञानिक होते हैं उनके चार अज्ञात रूप से जन-साधारण तक पहुँच ही जाते हैं। साधारण लोग उनसे लाभ ठा ही लेते हैं। इस तरह देखते हैं कि वात्स्यायन एक विचारशील सुखवादी थे। ऐसे ोग ही शिष्ट चार्वाक में परिगणित हो सकते हैं।

श्रामण्यफलसूत्र आदि प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार के संशयवादियों, ज्ञेयवादियों, वितंडावादियों तथा स्वेच्छाचारवादियों का उल्लेख मिलता है। ूरेन कस्सप' पाप-पुण्य या किसी प्रकार का नैतिक दायित्व नहीं मानते थे। मक्खलि गोसाल' पुरुषकार नहीं मानते थे और नियतिवादी थे। 'अजित केसकंबली' का त था कि मनुष्य जड़ द्रव्य से उत्पन्न है और विनाशशील है। उनका यह भी कहना था क यथार्थ ज्ञान असंभव है और सत्कर्मों का फल नहीं होता। 'संजयवेलट्ठिपुत्त' को किसी चलित मत के विषय में पूछने पर वे चतुष्कोटि न्याय से उत्तर देते थे : '(१) मैं इसे स्वीकार नहीं करता हूँ, (२) मैं इसे अस्वीकार भी नहीं करता हूँ, (३) एक साथ स्वीकार अस्वीकार, दोनों में कुछ नहीं करता हूँ, (४) मैं यह भी नहीं कहता हूँ कि मैं इसे न स्वीकार करता हूँ न अस्वीकार करता हूँ।' इन मतों को हम धूर्त्त चार्वाक का दृष्टांत समझ सकते हैं। ुद्ध ने इन सबों का खंडन किया है।

हाल ही में तत्त्वोपप्लव सिंह नामक एक प्राचीन पांडुलिपि मिली है (जो अब गायक-वाड़ ओरिएंटल सिरीज में प्रकाशित रूप में उपलब्ध है) वह भी चरम संशयवाद का मनोरंजक नमूना है। उसके प्रणेता जयराशि (संभवतः ईसा के बाद आठवीं शताब्दी में) रले सिरे के चार्वाक या लोकायतिक थे। उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता को भी नुनौती दी है। भौतिक तत्त्वों की सत्ता भी वे स्वीकार नहीं करते। इस तरह सामान्य चार्वाक संशयवाद को उन्होंने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। कठोर तर्क के कशाघात से उन्होंने सर्वसम्मत प्रमाणों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। बुद्धिवादविरोधी व्यवहारवादियों की तरह वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी सिद्धांतों का निषेध करने पर भी व्यावहारिक जीवन पूर्ववत् मजे में चलता रहेगा।[२]

चार्वाक के प्रमाण-विज्ञान की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चार्वाक के नाम से उनके विपक्षियों ने अनुमान के खंडन के लिए जो युक्तियाँ दी हैं, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस तरह की युक्तियाँ आधुनिक पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में भी पाई जाती हैं। हम देख चुके हैं चार्वाक के अनुसार अनुमान से निश्चित ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पाश्चात्य देशों के प्रैग्मेटिस्ट (Pragmatist) तथा लॉजीकल पॉजीटिविस्ट (Logical Positivist) आदि अनेक संप्रदायों के विद्वानों का भी कुछ ऐसा ही मत है।

---

१ प्रयोगस्य शास्त्रपूर्वकत्वादिति—कामसूत्र, साधारणाधिकरण ३ अध्याय।

२ तदेवम् उपप्लुतेषु तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहाराः घटन्ते। पृ० १२५

३
जैन-दर्शन
१. विषय-प्रवेश

जैनों के अनुसार जैन-मत के प्रवर्त्तक चौबीस तीर्थंकर थे। अत्यंत-प्राचीन
से ही इन तीर्थंकरों की एक लंबी परंपरा चली आ रही थी। ऋषभदेव इस प
के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं।[1] वर्द्धमान या महावीर

जैनमत के प्रवर्त्तक

चौबीसवें या अंतिम तीर्थंकर थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व
शताब्दी में (गौतमबुद्ध से कुछ वर्ष पहले) हुआ था। व
से पूर्व (अर्थात् २३वें तीर्थंकर) पार्श्वनाथ थे। इनका समय ईसा से लगभग ८सौ
पूर्व माना जाता है। अन्य २२ तीर्थंकर प्रागैतिहासिक युग के हैं। तीर्थंकरों को
भी कहते हैं। 'जिन'[2] शब्द का अर्थ विजेता या जीतनेवाला है। तीर्थंकरों को
नाम इसलिए दिया गया है कि इन्होंने राग-द्वेष को जीतकर निर्वाण प्राप्त किया है

जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं। वे तीर्थंकरों अर्थात् जैन

जैनमत में तीर्थंकरों का स्थान

उपासना करते हैं। तीर्थंकर मुक्त होते हैं
बंधन में थे। किंतु साधना के द्वारा ये मुक्त, सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्व
मान तथा आनंदमय हो गए हैं। जैनों का यह विश्वास है कि
ग्रस्त सभी जीव जिनों के दिखलाए मार्ग पर चल सकते हैं
उनकी तरह पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण आनंद प्राप्त कर सकते हैं। जैनमत का
आशावाद प्रत्येक जैन में आत्मविश्वास का संचार करता है। तीर्थंकरों के द्वार
प्रमाणित हो चुका है कि प्रत्येक जीव अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त
सकता है। अतः जैन इसे कल्पनामात्र नहीं समझते हैं।

कालांतर में जैनों के दो संप्रदाय हो गए—श्वेतांबर तथा दिगंबर।
संप्रदायों में मूल-सिद्धांतों का भेद नहीं है। बल्कि उनका भेद आचार-विचार स

---

१ भागवत के पंचम स्कंध में ऋषभ नामक राजा का उपाख्यान है। ये राज्य छो
सर्वत्यागी महायोगी बन गए थे। ये सर्वभूतों पर आत्मवत् दृष्टि रखते थे, वे
प्राप्त किए हुए थे और गगन-परिधान (अर्थात् नग्न) थे। संभव है कि ये
आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव हों।

२ पूरी व्याख्या के लिए भद्रबाहु का कल्पसूत्र (Jacobi, Jainism Sutras प्रथम भ
तथा Mrs. Stevenson का The Heart of Jainism (चतुर्थ अध्याय) देखि

छ गौण बातों को लेकर है। दोनो ही संप्रदायों के लोग तीर्थंकरों के उपदेशों को अवश्य मानते हैं। किंतु श्वेतांबर की अपेक्षा दिगंबर में अधिक कट्टरता पाई जाती है। यहाँ तक कि दिगंबर संन्यासी वस्त्रों का भी व्यवहार नहीं करते। किंतु श्वेतांबर संन्यासी वस्त्र का व्यवहार करते हैं।[1] दिगंबरों के अनुसार तो पूर्णज्ञानी महात्माओं को भोजन की भी आवश्यकता नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि स्त्रियाँ जब क पुरुषरूप में जन्म-ग्रहण न करें तब तक वे मुक्ति नहीं पा सकती है। किंतु श्वेतांबर न विचारों को नहीं मानते हैं।

नों के दो प्रदाय—
ैतांबर तथा गंबर

जैन-दर्शन का साहित्य अत्यंत समृद्ध है। यह अधिकांशतः प्राकृत में है। जनमत मौलिक सिद्धांत ग्रंथों को सभी संप्रदायों के लोग मानते हैं। कहा जाता है कि इन सिद्धांतों के उपदेष्टा चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हैं। प्राचीन जैन-साहित्य अधिकांशतः प्राकृत भाषा में है। आगे चलकर अन्य दर्शनों ने जब जैनमत की आलोचना की, तब जैनों ने अपने मत संरक्षण के ाए संस्कृत भाषा को अपनाया। इस प्रकार संस्कृत में भी जैन-साहित्य का विकास हुआ । प्राचीनतम जैन धर्मग्रंथों में चतुर्दशपूर्व और एकादश अंग गिनाए जाते हैं। लेकिन ं ग्रंथ अभी लुप्त हो गए हैं। उनके बाद क्रमशः उपांग, प्रकीर्ण, सूत्र इत्यादि नाना श्रेणी ग्रंथ लिखे गए हैं। संस्कृत में उमास्वामी का तत्वार्थाधिगम सूत्र, सिद्धसेन दिवाकर ा न्यायावतार, नेमिचंद्र का द्रव्यसंग्रह, मल्लिसेन की स्याद्वादमंजरी, प्रभाचंद्र का प्रमेय-मलमार्तंड आदि प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ हैं।

न-साहित्य

जैनमत दार्शनिक दृष्टि से वस्तुवादी तथा बहुसत्तावादी है। इसके अनुसार जितने व्यों को हम देखते हैं सभी सत्य हैं। संसार में दो तरह के द्रव्य हैं—जीव और अजीव। प्रत्येक सजीव-द्रव्य में, चाहे उसका शरीर किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, जीव अवश्य रहता है। इसलिए जैन अहिंसा-सिद्धांत को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। अन्य मतों के प्रति जैनों का समादर-भाव है। इसका कारण जैनमत का अनेकांतवाद तथा स्याद्वाद है। नेकांतवाद के अनुसार किसी भी वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म पाए जाते हैं। स्याद्वाद ो अनुसार कोई भी विचार निरपेक्ष सत्य नहीं होता। एक ही वस्तु के संबंध में दृष्टि, वस्था आदि भेदों के कारण भिन्न-भिन्न विचार सत्य हो सकते हैं।

न-दर्शन की प-रेखा

हम यहाँ जैन दर्शन के प्रमाण, मूलतत्त्व तथा धर्म और आचार संबंधी विषयों का थक-पृथक् विवेचन करेंगे।

२. प्रमाण-विचार

(१) ज्ञान और उसके भेद

जैनों के अनुसार चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। चार्वाक की तरह ये यह

१ दिगंबर का अर्थ नग्न तथा श्वेतांबर का अर्थ 'श्वेत वस्त्रधारी' है।

नहीं मानते कि चैतन्य कोई आकस्मिक गुण है। जैन-दर्शन में जीव या आत्मा की तु
सूर्य के साथ दी गई है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सूर्य को भी प्रकाशित करता है, उ
तरह आत्मा वा चैतन्य अपने को तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इ

जीव का स्वरूप चैतन्य है

जैनों ने कहा है, 'ज्ञानं स्वपरभासी'। जिस तरह सूर्य किसी आव
के कारण प्रकाश नहीं दे सकता उसी तरह आत्मा भी बंधन में
जाने के कारण अनंत ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता। जब
का नाश हो जाता है तब आत्मा अनंत ज्ञानमय हो जाता है। प
ज्ञान की शक्ति प्रत्येक जीव में है। किंतु बाधाओं के रहने से जीव सर्वज्ञ नहीं
सकता। अर्थात् बंधन के कारण सभी जीवों का ज्ञान न्यून तथा सीमित हो जाता
ज्ञान की परिमितता जैनों के अनुसार कर्म जनित बाधाओं के कारण होती है। इन बा
के कारण ज्ञान में न्यूनता आ जाती है। इस तरह जीव की सर्वज्ञता नष्ट हो जाती
शरीर, इंद्रिय और मन कर्मों के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इनके वर्तमान रह
आत्मा की स्वाभाविक शक्ति परिमित हो जाती है।

अन्य दार्शनिकों की तरह जैन भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं—अपरोक्ष ज्ञान तथा
परोक्ष ज्ञान। किंतु ये यह भी कहते हैं कि जो ज्ञान साधारणतया अपरोक्ष माना जा

अपरोक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान

है वह केवल अपेक्षाकृत अपरोक्ष है। इंद्रिय या मन के द्वारा
बाह्य एवं आभ्यंतर विषयों का ज्ञान होता है, वह अनुमान की अपे
अवश्य अपरोक्ष होता है किंतु ऐसे ज्ञान को पूर्णतया अपरोक्ष न
माना जा सकता। क्योंकि यह भी इंद्रिय या मन के द्वारा होता है
इस व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान भी हो सकता है

अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक

है। इसकी प्राप्ति कर्म-बंधन के नष्ट होने पर ही होती है
पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान में आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं का साक्षा
संबंध (इंद्रियादि की सहायता के बिना ही) हो जाता है। ज
तक कर्मजनित बाधाएँ रहती हैं तब तक ऐसा ज्ञान संभव न
होता है। सब कर्मों का नाश हो जाने पर ये बाधाएँ भी न
हो जाती हैं और तब ऐसा ज्ञान संभव होता है।[1]

पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के तीन भेद किए गए हैं—अवधि, मनःपर्याय तथा केवल
(१) अवधि ज्ञान—जब मनुष्य अपने कर्म को अंशतः नष्ट कर लेता है तो वह एक ऐ
शक्ति प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह अत्यंत दूरस्थ, सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यों को

---

१ उमास्वामी प्रभृति प्राचीन जैन दार्शनिकों के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान उसी
कहते हैं जो बिना किसी माध्यम के हो। हेमचंद्र आदि अन्य जैन विद्वानों ने साधार
इंद्रिय-ज्ञान को भी अपरोक्ष माना है। यही मत अन्यान्य भारतीय पंडितों का भी है
पहले मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'जीव' है, इस
अर्थ 'इंद्रिय' नहीं, जैसा साधारणतः समझा जाता है। (षड्दर्शन-समुच्चय प
गुणरत्न की टीका देखिए, श्लोक ५५, चौखंबा संस्करण।)

सकता है। इसके द्वारा सीमित वस्तुओं का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अतः ऐसे ज्ञान को अवधि-ज्ञान कहते हैं। (२) मनःपर्याय—जब मनुष्य राग-द्वेष आदि मानसिक बाधाओं पर विजय पाता है, तब यह अन्य व्यक्तियों के वर्तमान तथा भूत विचारों को जान सकता है। ऐसे ज्ञान को मनःपर्याय कहते हैं, क्योंकि इससे दूसरों के मन में प्रवेश हो सकता है। (३) केवल-ज्ञान—जब ज्ञान के बाधक सब कर्म ना से पूर्णतया दूर हो जाते हैं, तब अनंत-ज्ञान प्राप्त होता है। इसे केवल-ज्ञान ते हैं। यह मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है।[1]

मार्थिक अपरोक्ष . के तीन भेद—धि, मनःपर्याय केवल

ये ही तीन प्रकार के अलौकिक ज्ञान हैं जो पूर्णरूप से अपरोक्ष हैं। इनके अतिरिक्त प्रकार के लौकिक ज्ञान हैं जो सर्वसाधारण में पाए जाते हैं। इन्हें मति और श्रुत ते हैं। इनके अर्थ के संबंध में जैन-विद्वानों में मतभेद है। किंतु साधारणतः मतिज्ञान उसे कहते हैं जो इंद्रिय तथा मन के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार मति के अंतर्गत व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान (बाह्य) तथा आंतर (प्रत्यक्ष), स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान सभी आ जाते हैं। ब्द-ज्ञान को कहते हैं।

और श्रुत

नों के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम से होती है। सबसे इंद्रिय-संवेदन होता है। जैसे, मान लीजिए हम कोई ध्वनि सुनते हैं। प्रारंभ नहीं ज्ञात होता कि यह ध्वनि किसकी है। इस अवस्था को **'अवग्रह'** कहते हैं। में केवल विषय का ग्रहण होता है। तब मन में एक प्रश्न उठता है कि यह ध्वनि वस्तु की है। इस अवस्था को **'ईहा'** कहते हैं। इसके बाद एक निश्चयात्मक होता है कि यह ध्वनि अमुक वस्तु की है। इसे **'आवाय'** कहते हैं। आवाय का श्चय है। इस तरह जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका मन में धारण होता है। इसको ग' कहते हैं।

सरा लौकिक ज्ञान श्रुत है। ज्ञान की उत्पत्ति सुने हुए शब्दों से होती है। यह वचनों तथा प्रामाणिक ग्रंथों से संभव होता है। आप्त-वचन को सुने बिना तथा णिक ग्रंथों को देखे बिना श्रुत-ज्ञान नहीं हो सकता। अतः इसके लिए इंद्रिय-का होना आवश्यक है। अतः मति-ज्ञान श्रुत-ज्ञान के पहले ही आता है। सर्वज्ञ रों के उपदेश सर्वश्रेष्ठ श्रुत-ज्ञान है।

जैन-दर्शन के अनुसार मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान तथा अवधि-ज्ञान में दोष की संभावना ाती है। किंतु मनःपर्याय ज्ञान तथा केवल-ज्ञान सर्वथा दोषरहित होते हैं।

साधारणतः जैन-दर्शन भी अन्य दर्शनों की भाँति तीन ही प्रमाण मानता है—ा, अनुमान और शब्द।[2]

---

[1] तत्त्वार्थाधिगम (प्रथम अध्याय, सूत्रसंख्या ६, १२, २१-२६).

[2] प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दानि। न्यायावतार-विवृति (पृ० ४, सतीशचंद्र विद्याभूषण के द्वारा संपादित)।

(२) चार्वाक-मत का खंडन

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण को मानते हैं। जैन दार्शनिक इस मत का [illegible] कर अनुमान तथा शब्द जैसे अप्रत्यक्ष प्रमाणों के लिए युक्ति देते हैं।[1] यदि चा[illegible] से यह प्रश्न किया जाए कि केवल प्रत्यक्ष को ही क्यों [illegible] माना जाए, तब या तो वे मौन रहेंगे या उत्तर देंगे कि [illegible] प्रमाण सर्वथा मान्य है क्योंकि यह दोष-रहित है। यदि वे [illegible] रहते हैं तब तो यह स्पष्ट है कि उनके मत के लिए युक्ति [illegible] है और इसलिए उनका मत मानने योग्य नहीं है। यदि वे [illegible] मत की पुष्टि के लिए कोई युक्ति देते हैं तब वे स्वयं अ[illegible] की सहायता लेते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के समर्थन के लिए उनकी यह युक्ति [illegible] यह निर्विवाद तथा दोष-रहित होता है, अनुमान तथा शब्द पर भी लागू होत[illegible] है। इस तरह अनुमान तथा शब्द भी स्वीकारयोग्य हो जाते हैं। चार्वाक यह क[illegible] कि अनुमान और शब्द कभी-कभी दोषयुक्त भी होते हैं। तो क्या प्रत्यक्ष भी कभी [illegible] दोषयुक्त या भ्रमात्मक नहीं होता? इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द को तभी [illegible] मानना चाहिए जब उससे बिलकुल दोषरहित ज्ञान प्राप्त हो सके। ज्ञान का [illegible] व्यावहारिक परिणामों के साथ सामंजस्य (संवाद) होना ही उसकी प्रामाणिकता [illegible]

अनुमान भी प्रमाण है। चार्वाक भी अनुमान की सहायता लेते हैं

चार्वाक परलोक जैसे अप्रत्यक्ष विषयों के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। [illegible] स्वयं प्रत्यक्ष की सीमा के बाहर चले जाते हैं। वस्तुओं को नहीं देखने के [illegible] वे उनके अभाव का अनुमान करते हैं। फिर जब वे यह कहते हैं कि सभी [illegible] प्रामाणिक हैं तो वे अनुमान ही की सहायता लेते हैं। क्योंकि यहाँ अ[illegible] प्रामाणिक प्रत्यक्षों के आधार पर ही भविष्य के प्रत्यक्षों के संबंध में अनुमान [illegible] जाता है। जब चार्वाक अपने विपक्षियों से तर्क करते हैं तो उस समय [illegible] विपक्षियों के शब्दों से उनके विचारों का अनुमान लगाते हैं। अन्यथा वे [illegible] वाद-विवाद में भाग नहीं ले सकते। इस तरह हम देखते हैं कि 'प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है' यह मत युक्ति-संगत नहीं।

(३) जैनों का परामर्श (judgement) संबंधी मत

(क) स्याद्वाद

वस्तुओं के संबंध में हमारे जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अपरोक्ष तथा परो[illegible] हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि उनके अनेक धर्म होते हैं। जैन-दार्शनिक कहते [illegible] "अनन्तधर्मकं वस्तु"।[2] केवली, केवल-ज्ञान के द्वारा वस्[illegible] अनंतधर्मों का अपरोक्ष ज्ञान पाता है। किंतु साधारण मनुष्[illegible] वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलि[illegible] उस वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओं के इस आंशि[illegible]

एक परामर्श से वस्तु के एक ही धर्म का बोध होता है

---

१ प्रमेय-कमल-मार्तंड, द्वितीय अध्याय, स्याद्वाद-मंजरी श्लोक २०, तथा [illegible] हेमचंद्र की टीका देखिए।

२ षड्दर्शन-समुच्चय, पृ० ५५ तथा उसपर गुणरत्न की टीका देखिए।

न दार्शनिक 'नय'[१] कहते हैं। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है
। भी 'नय' कहते हैं।[२] किसी भी विषय के संबंध में जो हमारा परामर्श होता है वह
ी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है।
र्थात् जिस दृष्टि तथा जिस विचार से किसी विषय का परामर्श होता है उसकी सत्यता
ी दृष्टि तथा उसी विचार पर निर्भर करती है। हमारे मतभेद का कारण यह है कि
उपर्युक्त सिद्धांत को भूल जाते हैं और अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते
मान लीजिए, कुछ अंधे हाथी का आकार जानना चाहते हैं। कोई उसका पैर,
ई कान, कोई पूंछ तथा कोई उसकी सूंड़ पकड़ता है। इसका फल यह होता है कि उन
ों में हाथी के आकार के संबंध में पूरा मतभेद हो जाता है। प्रत्येक अंधा सोचता
कि उसी का ज्ञान ठीक है। जैसे ही उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि प्रत्येक ने
ी का एक-एक अंग ही स्पर्श किया है, उनका मतभेद दूर हो जाता है। दार्शनिकों के
। भी मतभेद इसीलिए होता है कि किसी विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से आंकते हैं।
ट-साम्य होने पर मतभेद की संभावना नहीं रह जाती है।

भिन्न-भिन्न दर्शनों में संसार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाए जाते हैं। इसका कारण
है कि उनमें एक दृष्टि नहीं है। दृष्टि-भेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया
जाता है। किंतु कोई भी दर्शन यह नहीं सोचता कि उसका मत
किसी दृष्टि-विशेष पर ही निर्भर करता है। हो सकता है कि
अन्य दृष्टि से उसका मत युक्तिसंगत न हो। ऊपर जो हाथी
और अंधे का दृष्टांत दिया गया है, उसमें प्रत्येक अंधे का हाथी-
ी ज्ञान उसके अपने ढंग से बिलकुल ठीक है। उसी तरह भिन्न-भिन्न दार्शनिक
अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हो सकते हैं।

दर्शन अपनी-
ी दृष्टि से
हैं

अतः जैन इस बात का आग्रह करते हैं कि प्रत्येक नय के प्रारंभ में 'स्यात्' शब्द का
ग करना चाहिए। स्यात् शब्द से यह संकेत होता है कि उसके साथ के प्रयुक्त वाक्य की
सत्यता प्रसंग-विशेष पर ही निर्भर करती है। अन्य प्रसंगों में वह
मिथ्या भी हो सकता है। ऊपर के उदाहरण में यह कहना ठीक
नहीं है कि हाथी एक स्तंभ के आकार का होता है। किंतु हम कह
े हैं कि स्यात् हाथी का आकार स्तंभ के समान होता है। दूसरी शक्ति में स्यात् शब्द
ह बोध होता है कि किसी विशेष दृष्टि से अर्थात् पैरों के संबंध में हाथी का आकार
के समान है। इस तरह हम देखते हैं कि विचार को दोषमुक्त करने के लिए स्यात्
प्रयोग नितांत आवश्यक है। घर के भीतर किसी काले रंग के घड़े को देखकर हमें
हीं कहना चाहिए कि 'घड़ा है', बल्कि यह कहना चाहिए कि 'स्यात् घड़ा है'। स्यात्
 बात का ज्ञान होगा कि घड़े का अस्तित्व काल-विशेष, स्थान-विशेष तथा गुण-विशेष

त्' शब्द
त प्रयोग

न्यायावतार, श्लोक २६, 'एकदेश-विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।'
न्यायावतार-विवरण श्लोक २६ देखिए। "नयति प्रापयति संवेदनम् आरोहयतीति नयः, प्रमाण-प्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्शः।"

के अनुसार है। स्यात् शब्द से यह भ्रम नहीं होगा कि घड़ा नित्य है व्यापी है। साथ-साथ हमें यह भी संकेत मिलेगा कि किसी विशेष का घड़ा किसी विशेष काल और स्थान में है। घड़ा है—केवल यदि तो उससे अनेक प्रकार का भ्रांत ज्ञान हो सकता है।

स्याद्वाद

जैनों का यह मत स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद का सार यह साधारण बुद्धिवाला मनुष्य किसी विषय में जो भी है, वह एकदेशीय होता है। अर्थात् उस परामर्श की प्रसंग के अनुसार होती है जिसके साथ उसकी कल्पना हुई रहती है।

स्याद्वाद तथा पाश्चात्य दर्शन

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ भी स्याद्वाद की तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है, हम विचार-प्रसंग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता विचार-प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार-प्रसंग में काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं। परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है। साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण संभव शिलर (Schiller) आदि कुछ आधुनिक तार्किक ऐसे विचार से अतः हम देखते हैं कि विचारों को दोष-रहित बनाने के लिए उनके पहले 'स्यात्' जोड़ना परम आवश्यक है।

स्याद्वाद-सिद्धांत से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन दार्शनिक विचारों को नगण्य नहीं समझते, बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें मानते हैं। किसी दर्शन की इस हठोक्ति को नहीं मानते कि केवल उसीके सत्य हैं। ऐसी हठोक्तियों में 'एकांतवाद' (fallacy of exclusive particu का दोष रहता है। इधर हाल में अमेरिका के नव्य-वस्तुवादियों (neo-realis इस एकांतवाद का घोर विरोध किया है।[1] किंतु इस दोष से मुक्त होने जैनों ने निकाली है वैसी किसी भी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने

(ख) सप्तभंगी-नय

सात प्रकार के परामर्श

पाश्चात्य तर्क-विज्ञान में परामर्शों के साधारणतः दो भेद किए जाते हैं—भा और नास्तिवाचक। किंतु जैन सात प्रकार के भेद मानते हैं। उपर्युक्त दो भेद अंतर्गत हैं। जिस परामर्श में किसी उद्देश्य वस्तु के सा किसी धर्म या लक्षण का संबंध जोड़ा जाता है उसे भा परामर्श कहते हैं। और जिस परामर्श में उद्देश्य वस्तु का वस्तु में धर्म या लक्षण के साथ संबंध भाव दिखलाया जाता

---

१ The New Realism, पृ० १४–१५

स्तिवाचक परामर्श कहते हैं।[1] परामर्श को जैन दार्शनिक 'नय' भी कहते हैं। जैन र्फ प्रत्येक नय के साथ 'स्यात्' शब्द भी जोड़ते हैं। 'स्यात्' शब्द को जोड़कर वे यह लाना चाहते हैं कि कोई भी नय एकांत या निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है, आपेक्षिक है। घड़े के संबंध में अस्तिवाचक नय इस प्रकार का होना चाहिए— त् घटः अस्ति' (स्यात् घड़ा है)। 'स्यात्' से घड़े के स्थान, काल, रंग आदि का होता है। स्यात् घड़ा लाल है—इससे यह बोध होता है कि घड़ा सब समय के लिए लाल नहीं है, बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति में लाल है। यह भी बोध होता है कि इसका लाल रंग एक विशेष प्रकार' का है। जैनों के अनुसार अस्तिबोधक नर्शों का सामान्य रूप 'स्यात् अस्ति' (स्यात् है) है।

त् है"

ड़े के संबंध में नास्तिबोधक परामर्श इस प्रकार का होना चाहिए—स्यात् इस कोठरी के अंदर नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोठरी के अंदर कोई भी घड़ा नहीं है या नहीं रह सकता। स्यात् शब्द इस बात का द्योतक है कि जिस घड़े के संबंध में परामर्श हुआ है, वह घड़ा कोठरी के अंदर नहीं है। अर्थात् एक विशेष रंग-रूप का विशेष समय में कोठरी के अंदर नहीं है। स्यात् शब्द का प्रयोग यदि नहीं जाए तो किसी भी घड़े का बोध हो सकता है। दूसरा दृष्टांत है—स्यात् घड़ा नहीं है। अर्थात् कोई एक विशेष घड़ा विशेष स्थान, समय तथा परिस्थिति में काला है। इस तरह हम देखते हैं कि नास्तिबोधक परामर्शों में भी स्यात् शब्द का आवश्यक है। इन परामर्शों का सामान्यरूप 'स्यात् नास्ति' (स्यात् नहीं है) है।

नहीं है"

घड़ा कभी लाल हो सकता है तथा कभी दूसरे रंग का भी हो सकता है। इसे व्यक्त के लिए मिश्र वाक्य या संयुक्त परामर्श की सहायता लेनी चाहिए। जैसे, 'घड़ा लाल है तथा नहीं भी लाल है।' इसका सामान्य रूप 'स्यात् अस्ति च नास्ति च' अर्थात् 'स्यात् है तथा नहीं भी है' होगा। जैन तार्किकों के अनुसार यह तीसरे प्रकार का नय या परामर्श है। इसमें किसी वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व के संबंध में एक साथ ही बोध होता भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने के लिए यह प्रकार-भेद आवश्यक है।

है और
"

घड़ा जब अच्छी तरह से नहीं पकता है तो कुछ काला रह जाता है। जब पूरा पक है तो लाल हो जाता है। यदि यह पूछा जाए कि घड़े का रंग सभी समय में तथा सभी अवस्थाओं में क्या है, तो इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के संबंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है। अतः जिस परामर्श में परस्पर-विरोधी गुणों के में युगपत् (एक साथ) विचार करना हो उसका यथार्थ रूप 'स्यात् अवक्तव्यम्' चाहिए। जैन तर्ककार इसे परामर्श का चौथा भेद मानते हैं।

त् अवक्तव्य"

---

[1] षड्-दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका (पृ० २१६—२० Asiatic Society द्वारा संपादित) "इह द्विधा सम्बन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च। तत्र स्वपर्यायै-रस्तित्वेन सम्बन्धः, ... परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन।"

दार्शनिक दृष्टि से परामर्श का चौथा रूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। (१) ...
तो इससे यह बोध होता है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं या दृष्टियों के ...
किसी वस्तु का चाहे पृथक्-पृथक् या क्रमिक वर्णन हो सकता है। ...
पृथक् या क्रमिक वर्णन नहीं करके यदि परस्पर विरोधी धर्मों के द्वारा ...
का हम युगपत् वर्णन करना चाहें तो प्रयत्न सफल नहीं होता और हमें बाध्य
कहना पड़ता है कि वह वस्तु इस दृष्टि से अवक्तव्य है। (२) दूसरी ...
है कि सब समय किसी प्रश्न का सीधा अस्तित्वसूचक या नास्तिसूचक उत्तर
में ही बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान् लोगों के लिए यह समझना भी ...
ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। (३) ...
यह है कि जैन तार्किक विरोध को एक दोष मानते हैं। अर्थात् वे यह
कि परस्पर-विरोधी धर्म एक साथ किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त नहीं हो ...

सप्तभंगी-नय के शेष तीन नय निम्नलिखित ढंग से प्राप्त होते हैं। पहले
तथा तीसरे नयों के बाद अलग-अलग चौथे नय को जोड़ देने से क्रमशः
छठा तथा सातवाँ नय बन जाते हैं अर्थात् पहले और ...
"स्यात् है और ... को क्रमिक रूप से जोड़ने से पाँचवाँ नय बनता है।
अवक्तव्य भी है" ... अस्ति च अवक्तव्यम् च' अर्थात् 'स्यात् है और ...
... है।' किसी विशेष दृष्टि से हम घड़े को लाल कह ...
किंतु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो तो घड़े के रंग का वर्णन असंभव ...
है। अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल है और अवक्तव्य भी है। यही ...

दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से छठा नय बनता है
"स्यात् नहीं है और ... 'स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च। अर्थात् 'स्यात् नहीं ...
अवक्तव्य है" ... अवक्तव्य भी है।'

इसी तरह तीसरे और चौथे नयों को क्रमानुसार जोड़ देने से सातवाँ
"स्यात् है, नहीं है ... जाता है। यह 'स्यात् अस्ति च नास्ति च, अवक्तव्यम्
और अवक्तव्य भी है" जाता है अर्थात् 'स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य भी

यहाँ एक बात का स्मरण रखना नितांत आवश्यक है। पहले, दूसरे ...
नय के बाद जो चौथा नय जोड़ा जाता है, वह क्रमिक रूप से लेना (...
है, युगपत् लेना (सहार्पण) नहीं है। इन विरुद्ध नयों को युगपत् (एक सा...
से प्रत्येक बार चौथा नय (अर्थात् अवक्तव्य) पुनः-पुनः आ जाता है, किंतु
रूप लेने पर तीन नए नय होते हैं।

अतः प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होने पर भी नयों के साथ ही भेद हो ...
उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) स्यात् है (स्यात् अस्ति);
(२) स्यात् नहीं है (स्यात् नास्ति);
(३) स्यात् है और नहीं भी है (स्यात् अस्ति च नास्ति च);
(४) स्यात् अवक्तव्य है (स्यात् अवक्तव्यम्);
(५) स्यात् है और अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च);

(६) स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी है (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च);
(७) स्यात् है, नहीं है, अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च)

पाश्चात्य दार्शनिकों के व्यवहारवाद (Pragmatism) के साथ जैनों के स्याद्वाद कभी-कभी तुलना की जाती है। यह सत्य है कि शिलर (Schiller) जैसे

द्वादी
तुवादी है

व्यवहारवादी मानते हैं कि यदि प्रसंग और उद्देश्य को ध्यान में नहीं रखा जाए तो कोई भी परामर्श सत्य या झूठ सिद्ध नहीं हो सकता। 'वर्ग वृत्त नहीं है', 'दो और दो चार होता है'—इस प्रकार असंदिग्ध वाक्य भी शिलर के अनुसार एक विशेष दृष्टि से ही सत्य है। इस ार हम देखते हैं कि जैनों में और व्यवहारवादियों में अवश्य ही समानता वर्त्तमान किंतु दोनो में बहुत बड़ा विभेद भी है। जैन वस्तुवादी हैं, लेकिन क्रियावादियों झुकाव विज्ञानवाद की ओर है। जैन यह नहीं मानते कि हमारे विचार-परामर्श ानसिक प्रत्ययमात्र है, बल्कि उनके अनुसार तो विचार या परामर्श के द्वारा वाह्य तुओं के वास्तविक धर्मों को जाना जाता है। अतः उनके अनुसार कोई प्रत्यय ी सत्य हो सकता है जब वह वाह्य वस्तु के धर्म को व्यक्त करे।[1] किंतु पक्के वहारवादी इस विचार को नहीं मानते हैं।

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (Theory of

मत एक प्रकार
सापेक्षवाद है।
तु यह विज्ञान-
दी नहीं, वरं
तुवादी सापेक्ष-
द है

Relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है, विज्ञानवादी और वस्तुवादी। विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्त्तक प्रोटागोरस (Protagoras), बर्कले (Berkeley) तथा शिलर (Schiller) आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के प्रवर्त्तक ह्वाइटहेड (Whitehead), बूडिन (Boodin) आदि हैं। जैनमत को यदि सापेक्षवाद माना जाए तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा। क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर यह केवल मन पर निर्भर नहीं है, बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर है।

स्याद्वादी होने के कारण जैनमत के संबंध में एक भ्रम उत्पन्न हो गया है। कुछ लोग संशयवाद (Scepticism) या अज्ञेयवाद (Agnosticism) मानते हैं।

-दर्शन संशयवादी
ी है

इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक पिरो (Pyrrho) के संशयवाद से की जाती है, क्योंकि पिरो के अनुसार भी वाक्यों के पहले 'शायद' (may be) का प्रयोग आवश्यक समझा जाता था। तु यथार्थ में जैन संशयवादी नहीं हैं। स्यात् शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य से की असत्यता या संदिग्धता का बोध नहीं कराया जाता है, बल्कि उसकी सापेक्षता संकेत किया जाता है। परिस्थिति तथा विचार-प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य सत्य होता है—इसे जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः द्वाद को संशयवाद समझना ठीक नहीं है।

[1] "यथावस्थितार्थव्यवसायरूपं हि संवेदनं प्रमाणम्"—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ४१।

३. तत्त्व विचार

जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। उन्होंने कहा है : अनन्तधर्मकं वस्तु। इसका तात्पर्य क्या है इसे समझना आवश्यक है। प्रत्ये

वस्तु के दो प्रकार के धर्म

के दो प्रकार के धर्म होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जो ... के अपने रूप, स्थिति आदि के परिचायक हैं, और कुछ ... होते हैं जो उसका अन्य वस्तुओं के साथ पार्थक्य ... पहले प्रकार के धर्म भावात्मक हैं जिन्हें जैन-दार्शनिक 'स्वपर्याय' कहते हैं और अभावात्मक हैं जिन्हें 'परपर्याय' कहते हैं। उदाहरणार्थ, हम किसी मनुष्य क[illegible] सकते हैं। उसके आकार, रंग, रूप, गोत्र, कुल, जाति, व्यवसाय, जन्मस्थान, तिथि, वास-स्थान, आयु आदि प्रथम प्रकार के धर्म हैं। इनके अतिरिक्त अभावात्मक धर्म भी उस मनुष्य में हैं जो अन्य वस्तुओं से उसका भेद सूचित ... हैं। हमें यदि उस मनुष्य के संबंध में पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करना है तो जानना होगा कि वह अन्य सभी वस्तुओं से किस प्रकार भिन्न है। ... कि किसी एक व्यक्ति-विशेष के संबंध में हमें जानना पड़े कि वह यूरोपियन, निग्रो, ईसाई, मुसलमान, पारसी, मूर्ख, धूर्त, स्वार्थी आदि नहीं है। ... धर्मों की संख्या भावात्मक धर्मों से बहुत अधिक है, क्योंकि अन्य सभी वस्तुओं जो भेद होते हैं वे ही अभावात्मक धर्म कहे जाते हैं।[१]

इसी तरह यदि किसी वस्तु का विचार उसके भावात्मक तथा ... के अनुसार हो, तो इससे यह स्पष्ट है कि वह कोई साधारण पदार्थ नहीं है।

काल के परिवर्तन से धर्मों का परिवर्तन

... अनंत है। क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि विशेषतः ... धर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है। इन धर्मों के साथ यदि काल का भी विचार किया जाए तब तो उसकी ... और भी बढ़ जाती है, क्योंकि कार्य-क्रम के अनुसार तो धर्मों में परिवर्तन होता रहता है और उसमें नए-नए धर्मों की उत्पत्ति होती है। अतः 'अनन्तधर्मकं वस्तु' यह उक्ति बिलकुल समीचीन है।

अतएव जैन दार्शनिक कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि किसी एक वस्तु को सर्वथा ...

केवली ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है

सभी दृष्टियों से जानता है तो वह सभी वस्तुओं का ज्ञान लेता ... सिर्फ केवली या सर्वज्ञ पुरुष ही किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त ... सकता है। व्यवहार के लिए तो वस्तु का आंशिक ज्ञान भी ... होता है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि किसी चीज के भी धर्म थोड़े से हैं और लौकिक ज्ञान के द्वारा ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्रा[illegible] जाता है।

(१) द्रव्य-विचार

हम ऊपर कह आए हैं कि वस्तुओं के अनंत धर्म होते हैं। धर्म किसी धर्म

---

१ 'स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, अनन्तेभ्यो व्यावृत्तित्वात्।' षड्दर्शन-समुच्चय, श्लोक ५५, गुणरत्न की टीका।

२. "एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।" ...

है। साधारण वार्त्तालाप तथा दार्शनिक विचार-विमर्श में भी धर्म और धर्मी का भेद किया जाता है। जिसका धर्म होता है उसे धर्मी कहते हैं और धर्मी में जो लक्षण पाया जाता है उसे धर्म कहते हैं। धर्मी के लिए दूसरा नाम द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वरूप या नित्य धर्म तथा आगंतुक या परिवर्त्तनशील धर्म। स्वरूप-

के गुण तथा

धर्म हैं जो द्रव्य में सदा वर्त्तमान रहते हैं। ऐसे धर्मों के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही असंभव उदाहरणार्थ, चैतन्य आत्मा का स्वरूप-धर्म है। आगंतुक धर्म द्रव्य में सर्वदा मान नहीं रहते हैं। वे आते-जाते रहते हैं। इच्छा, संकल्प, सुख, दुःख—ये ा के परिवर्त्तनशील धर्म हैं। इन्हीं धर्मों से द्रव्य का परिवर्त्तन होता है। जैन दार्शनिक प-धर्मों को 'गुण' कहते हैं तथा आगंतुकी धर्मों को पर्याय कहते हैं। गुण अपरि-नशील तथा पर्याय परिवर्त्तनशील होते हैं। इन विचारों के अनुसार द्रव्य की परिभाषा प में इस प्रकार की जा सकती है—'द्रव्य वह है जिसमें गुण तथा पर्याय हों।'[१]

यह संसार भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बना है। जैसा ऊपर कहा जा ा है, द्रव्यों के गुण परिवर्त्तनशील नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से संसार नित्य है। किंतु उनके पर्याय बदलते रहते हैं। अतः इस दृष्टि से संसार अनित्य तथा परिवर्त्तनशील है। इस तरह जैन संसार को एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य मानते हैं। इसीलिए वे बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद को एकांगीन या एकांतवाद समझते हैं। जैन अद्वैत-ांत के नित्यवाद को भी एकांगीन या एकांतवाद समझते हैं, क्योंकि यह परिवर्त्तन माया समझता है और केवल ब्रह्म को ही सत्य एवं नित्य मानता है।[२] इस तरह द्ध-दर्शन तथा अद्वैत-वेदांत दोनो ही में एकांतवाद का दोष पाया जाता है। ार्थतः नित्यता तथा परिवर्त्तन दोनो ही सत्य हैं। हम यदि कहें कि संसार य तथा परिवर्त्तनशील भी है तो इसमें कोई विरोध नहीं होगा। एक दृष्टि से ार की नित्यता ठीक है, किंतु दूसरी दृष्टि से इसका परिवर्त्तन भी ठीक है। द्वाद के कारण विरोध की संभावना नहीं रह जाती है।

र नित्य है
। अनित्य
है

द्रव्य सत् है। उत्पत्ति, व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (नित्यता)—ये ही सत्ता के लक्षण हैं।[३] द्रव्य अपने गुणों के कारण नित्य है क्योंकि गुण परिवर्त्तित नहीं होता। परिवर्त्तनशील पर्यायों की उत्पत्ति तथा विनाश होने के कारण इसमें उत्पत्ति तथा विनाश भी है। इस तरह द्रव्य में सत्ता के तीनो लक्षण वर्त्तमान हैं।

के तीन लक्षण-
पत्ति, स्थिति
र नाश

सत् या सत्ता के संबंध में जैनों तथा बौद्धों में पूरा मतभेद है। बौद्धों के अनुसार ता वही है जो अर्थक्रियाकारी अर्थात् किसी कार्य का साधक है। अर्थात् कोई वस्तु तभी त्य है यदि उससे कोई कार्य उत्पन्न होता हो। जैन इस मत को युक्ति-संगत नहीं मानते,

---

तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—५। ३८, 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'।
स्याद्वादमंजरी, श्लोक २६,
"उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं सत्।"

बौद्ध क्षणिकवाद मान्य नहीं है

क्योंकि इसके अनुसार तो मिथ्या-सर्प भी सत्य समझा जाएगा। के भ्रम से भी लोगों में डर की उत्पत्ति हो जाती है और वे दूर भ जाते हैं। ऐसी ही दोषपूर्ण युक्तियों के द्वारा बौद्ध दार्शनिक क्ष वाद का प्रतिपादन करते हैं। अतः क्षणिकवाद कभी भी मान्य नहीं सकता। क्षणिकवाद के विरुद्ध जैन दार्शनिक निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं[1]—

(१) यदि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, तब तो आत्मा भी क्षणिक है। ऐसी द में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि संभव नहीं हो सकती हैं। साथ-साथ यह भी बोध हो सकता है कि मैं ही कभी बच्चा था और आज बड़ा हो गया हूँ।

(२) निर्वाण का कोई अर्थ नहीं रहता है क्योंकि यदि कोई स्थायी जीव है नहीं तो फिर मोक्ष किसका हो सकता है ?

(३) यदि जीव क्षण-क्षण बदलता रहे तो वह किसी आदर्श की पूर्ति के लिए क्यों प्रयत्न करेगा? क्योंकि वह स्वयं तो प्रयत्न करेगा किंतु क्षणस्थायी होने के कारण उसका फल वह स्वयं नहीं भोग सकेगा, बल्कि उसका भोगनेवाला जीव होगा। इस तरह धर्म का प्रयत्न असंभव होगा।

(४) फलतः धर्म-व्यवस्था भी नहीं रह सकेगी। वहाँ कृतप्रणाश होगा तो अकृताभ्युपगम होगा। अर्थात् अपने कर्मों का फल तो नहीं मिल सकेगा, और के कर्मों का फल भोगना होगा।

(५) बौद्ध-मत के अनुसार आत्मा कोई स्थायी सत्ता नहीं है, बल्कि क्षणि मानसिक अवस्थाओं का एक क्रम है। किंतु क्षणिक अवस्थाओं के अस्तित्व मा ही कोई क्रम नहीं बन सकता है। बिना सूत्र के केवल फूलों से माला नहीं सकती है। जबतक क्षणिक अवस्थाओं के अंतर्गत कोई स्थायी सत्ता न हो त ये क्रमबद्ध भी नहीं हो सकती हैं।

(६) प्रत्यक्ष से या अनुमान से किसी भी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं मिल जिसमें केवल परिवर्तन हो और स्थायित्व कुछ भी न रहे।

(२) द्रव्यों का प्रकार-भेद

कार के होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमान या जंगम होते हैं और स्थावर तिहीन होते हैं। स्थावर जीव का शरीर सबसे अपूर्ण है। स्थावर जीव क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति-रूप शरीरों में रहते हैं।[1] स्थावर जीव को केवल स्पर्शेंद्रिय होता है। अतः उसे केवल स्पर्श-ज्ञान ही हो सकता है। त्रस जीवों में न्यूनाधिक विकास पाया जाता है। नमें क्रमशः दो, तीन, चार और पाँच इंद्रिय पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, सीप, घोंघा ादि को दो इंद्रिय होते हैं—त्वचा तथा जिह्वा। पिपीलिका (चींटी) आदि को तीन द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा तथा नासिका। मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि को चार द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा चक्षु। उच्च पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों में पाँच इंद्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु तथा कर्ण।

द्ध और मुक्त

अस्तिकाय अजीव चार हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल।

ऊपर जो द्रव्य का प्रकार-भेद बतलाया गया है, उसका संक्षिप्त रूप नीचे ताया जाता है—

द्रव्य
- अस्तिकाय
  - जीव
    - मुक्त जीव
    - बद्ध जीव
      - त्रस
        - पंचेंद्रिय — मनुष्य, पशु पक्षी आदि
        - चतुरिंद्रिय — भ्रमर आदि
        - त्रींद्रिय — पिपीलिका, आदि
        - द्वींद्रिय — घोंघा, आदि
      - स्थावर (एकेंद्रिय) जो क्षिति आदि में रहते हैं
  - अजीव
    - धर्म
    - अधर्म
    - आकाश
    - पुद्गल
      - अणु जैसे क्षिति, जल, अग्नि और वायु के अणु
      - संघात
- अनस्तिकाय (काल)
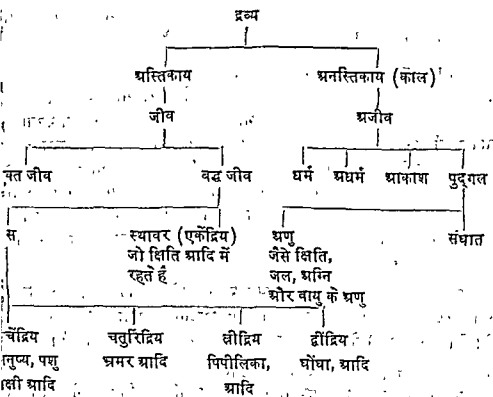
(३) जीव

चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं।[2] जीव में चैतन्य सब समय

---

१ देखिए स्याद्वादमंजरी (२६) और षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका (४६)

२ 'चेतनालक्षणो जीवः' षड्दर्शन-समुच्चय ४७ पर गुणरत्न की टीका देखिए।

वर्त्तमान रहता है। किंतु भिन्न-भिन्न जीवों में इसका स्वरूप तथा इसकी मात्रा भिन्न होती है। मात्रा-भेद के अनुसार जीवों में एक ... जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सबसे ऊँचा है। ... पर विजय पा लेते हैं और पूर्णज्ञानी हो जाते हैं। सबसे ... में से एकेंद्रिय जीव हैं जो क्षिति, जल, अग्नि, वायु या ... वास करते हैं।[१] यों तो इन जीवों में चैतन्य का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है, वस्तुतः इनमें भी स्पर्श-ज्ञान वर्त्तमान रहता है। हाँ, यह ठीक है कि इनका ज्ञान ... कर्मजनित बाधाओं के कारण अत्यंत सीमित एवं अस्पष्ट रहता है।[२] जिन्हें दो ... तक इंद्रिय होते हैं उनका स्थान जीवों में मध्यम है। जैसे कृमि, पिपीलिका, ... मनुष्य आदि।[३]

जीव और उनका ज्ञान-भेद

जीव ही ज्ञान प्राप्त करता है। वही कर्म भी करता है। सुख-दुःख भी भोगता है। जीव स्वयं प्रकाशमान है तथा अन्य ... यह नित्य है, किंतु इसकी ... रहती हैं। यह शरीर से भिन्न है। इसका अस्तित्व ... से ही प्रमाणित हो जाता है।[४]

जीव स्वयं प्रकाशमान है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यह नित्य है।

संचित कर्मों के कारण जन्म-पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने से इसे अनेक ... करना पड़ता है। जिस प्रकार कोई दीपक अपने चारों ओर प्रकाश ... उसी प्रकार जीव भी संपूर्ण शरीर को प्रकाशित करता ... जीव की कोई मूर्त्ति नहीं होती। किंतु जिस प्रकार प्रकाश ... नुसार आकार एवं रूप धारण करता है, उसी प्रकार ... विस्तार भी शरीर के अनुसार होता है। इसी अर्थ में ... को भी अस्तिकाय माना जाता है। जीव सर्वव्यापी नहीं है, बल्कि इसकी ... शरीर तक ही सीमित है। इसे केवल शरीरांतर्गत विषयों का ही ... सकता है। चैतन्य शरीर के बाहर नहीं वरन् इसके अंदर ही रहता है।[५]

जीव संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

पाश्चात्य दर्शन की दृष्टि से शायद यह समझने में कठिनाई हो कि जीव चैतन्य (Conciousness) और विस्तार (Extension) दोनों कैसे हो सकते ... डेकार्ट (Descartes) के अनुसार चैतन्य और विस्तार परस्पर-विरोधी गुण हैं। वे ...

---

१ 'वनस्पत्यन्तानाम् एकम्'—तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—२-२२

२ वनस्पतियों एवं खनिज पदार्थों में जीव का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ... प्रमाण दिए गए हैं उनके लिए षड्-दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका देखिए।

३ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—२-२३, 'कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनाम् एकैकवृद्धा...

४ न्यायावतार, श्लोक ३१ और द्रव्य-संग्रह, श्लोक २

५ स्याद्वादमंजरी ८ और तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र ५।१६ : "प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्"।

कि विस्तार केवल जड़-द्रव्यों में और चैतन्य केवल आत्माओं में पाया जा सकता [है]। उनके ऐसा सोचने का कारण यह है कि उनके अनुसार आत्मा चेतन द्रव्य है और चेतना आकाशव्यापी या पुद्गलधारी नहीं हो सकती। किंतु जैन दार्शनिक आत्मा को जीव मानते हैं। सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में हम देखते हैं कि चैतन्य या बोध है। अतः चैतन्य को [आ]त्मा का स्वरूप-लक्षण मान लेने पर भी समूचे शरीर में उसका अस्तित्व मानना [बि]लकुल युक्तिसंगत है। अर्थात् आत्मा का विस्तार (व्यापकता) हो सकता है। [अ]न्य भारतीय दार्शनिक भी इसे मानते हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि आत्मा की व्याप्ति का अर्थ यह नहीं है कि यह भी जड़-द्रव्यों की तरह किसी रिक्त स्थान को पूरा दखल कर लेता है, बल्कि इसका अर्थ तो केवल यह है कि शरीर के विभिन्न भागों के अनुभव के द्वारा यह उसमें वर्तमान रहता है। जिस स्थान में [ज]ब तक कोई जड़-द्रव्य है तब तक वहाँ दूसरा कोई जड़-द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता, [कि]न्तु जिस स्थान में एक आत्मा है वहाँ दूसरे आत्मा का भी सन्निवेश हो सकता है।

[आत्मा के]व का विस्तार [कै]से हो सकता है?

[जड़]-द्रव्य और [आ]त्मा के विस्तार [में] भेद

जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही स्थान को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं उसी प्रकार दो जीव भी एक ही स्थान में वर्तमान रह सकते हैं। जैन दार्शनिक चार्वाक के आत्म-संबंधी विचारों का खंडन करते हैं। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक गुणरत्न ने चार्वाक के संशयवाद की कड़ी आलोचना की है और निम्नोक्त प्रकार से आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि 'मैं सुखी हूँ' इसी अनुभव से तो आत्मा के [अ]स्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे हो जाता है। जब हम किसी द्रव्य के गुणों को देखते हैं तो हम कहते हैं कि हम उस द्रव्य को ही देख रहे हैं। गुलाब के रंग को देखते हुए हम कहते हैं कि गुलाब के फूल को ही देख रहे हैं। इसी तरह आत्मा के गुणों को देखकर ही हम आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति करते हैं। सुख, दुःख, स्मृति, संकल्प, संदेह, ज्ञान आदि धर्मों [के] अनुभव होने से ही उनके धर्मी अर्थात् आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

[आ]त्मा आलोक [की] तरह किसी [स्था]न में चैतन्य [द्वा]रा व्याप्त [र]हता है

[आ]त्मा के अस्तित्व [के] विभिन्न प्रमाण

आत्मा के अस्तित्व को परोक्ष ढंग से भी निम्नलिखित अनुमानों के द्वारा प्रमाणित [कि]या जा सकता है। शरीर को इच्छानुसार परिचालित किया जा सकता है। अतः [इ]सका कोई परिचालक अवश्य होगा। वही आत्मा है। चक्षु, कर्ण आदि इंद्रिय [ज्ञ]ान के लिए विभिन्न साधन हैं। उनके द्वारा ज्ञान-लाभ करने के किसी प्रयोजन कर्त्ता की आवश्यकता है। वह आत्मा है। पुनश्च, *शरीर की उत्पत्ति के लिए किसी निमित्त कारण* की भी आवश्यकता है, क्योंकि हम देखते हैं कि घट, पट आदि जड़-द्रव्यों की उत्पत्ति के लिए उपादान-कारण के साथ-साथ निमित्त-कारण की भी आवश्यकता है। वह निमित्त-कारण आत्मा ही है। इस तरह कई युक्तियों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

चार्वाक तो कहते हैं कि चैतन्य की उत्पत्ति भूतों से ही होती है। किंतु हम कहीं किसी भी स्थान में चैतन्य को भूतों से उत्पन्न होते नहीं देखते हैं। और जब उत्पन्न होता ही नहीं, तो ये कैसे मान लेते हैं ? क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण हैं। चार्वाक यदि अनुमान-प्रमाण को मानते भी होते, तो वे यह सिद्ध नहीं सकते कि चैतन्य भूतों से अर्थात् पुद्गल से उत्पन्न होता है। क्योंकि शरीर यदि चैतन्य कारण होता तो शरीर के साथ चैतन्य का नित्य साहचर्य रहता। किंतु शरीर

चार्वाक के आत्म-संबंधी मत का खंडन

रहते हुए भी निद्रा, मूर्च्छा और मृत्यु की अवस्थाओं में चैतन्य का अभाव क्यों रहता है ? दूसरी बात यह है कि दोनों में कार्य-संबंध रहने से एक की पुष्टि और क्षय से क्रमशः दूसरे की भी पुष्टि और क्षय होता है। किंतु इस प्रकार का अनुभव होता है। अतः हम देखते हैं कि शरीर और चैतन्य में कारण-कार्य-संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता है। चार्वाक यहाँ कह सकते हैं कि यद्यपि सभी भूत चैतन्य को उत्पन्न नहीं कर सकते, फिर भी उनका जब विशेष प्रकार का संयोग होता है तो चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। जड़-तत्त्व किसी निमित्त-कारण की सहायता के बिना आप-से-आप जीव का शरीर नहीं बन सकते हैं। ये तो उपादान मात्र हैं। उपादानों को निमित्त-कारण की अपेक्षा रहती है। और यह निमित्त-कारण ही तो आत्मा है।

'मैं स्थूल हूँ', 'मैं क्षीण हूँ'—इन उक्तियों के द्वारा चार्वाक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि शरीर ही आत्मा है। लेकिन इन उक्तियों का मुख्य अर्थ यहाँ नहीं है, बल्कि इनका गौण या लाक्षणिक अर्थ ही यहाँ उपयुक्त है। यह ठीक है कि आत्मा कभी-कभी अपने को शरीर से भिन्न नहीं मानता। किंतु इसका अर्थ यह है कि शरीर के साथ इसका बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं। लेकिन तब तो 'मैं आत्मा रहित हूँ',—इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं होता। जिस वस्तु का निषेध किया जाता है उसका अस्तित्व अन्यत्र किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहता है।
प्रतिषिध्यते तत् सामान्येन विद्यते एव।[1]

ऊपर की युक्तियों के अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि 'मेरे आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है', यह उक्ति उसी प्रकार दुर्बोध्य है जिस प्रकार यह कहना 'मेरी माता वंध्या' है।

(४) जड़ या अजीव द्रव्य

जीवों का निवास-स्थान यह जगत् है। यह जड़-द्रव्यों से बना हुआ है। जड़-द्रव्यों के द्वारा तो जीव शरीर-धारण करते हैं और कुछ बाह्य-परिस्थिति निर्माण करते हैं। जड़-द्रव्यों के अतिरिक्त और भी अन्यान्य द्रव्य हैं जिनके बिना इन द्रव्यों का संगठन नहीं हो सकता। ये हैं आकाश, काल, धर्म और अधर्म। इनका एक-एक करके विचार करना ठीक होगा।

1 गुणरत्न—षड्दर्शन-समुच्चय, पृष्ठ ४८-४९

(क) जड़-तत्त्व या पुद्गल

जैन लोग जड़-तत्त्व को पुद्गल कहते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार पुद्गल का अर्थ है—सका संयोग और विभाग हो सके।'[1] जड़-द्रव्यों का संयोग भी हो सकता है और विभाग भी। अर्थात् उन्हें जोड़कर एक बड़ा आकार दिया जा सकता है या उन्हें तोड़कर छोटा भी किया जा सकता है। पुद्गल के सबसे छोटे भाग को—जिसका और विभाग नहीं हो सकता है—'अणु' कहते हैं। दो या अधिक अणुओं के संयोग से ात' या 'स्कंध' बनता है। हमारे शरीर और अन्य जड़-द्रव्य अणुओं के संयोग ही बने संघात है। मन, वचन तथा प्राण जड़तत्त्वों से ही निर्मित हैं।[2]

द्रव्यों का संयोग र विभाग

पुद्गल के चार गुण होते है—स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण। ये गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाए जाते हैं।[3] अन्य भारतीय दार्शनिकों का मत है कि शब्द भी एक मौलिक गुण है। परंतु जैन इसे नहीं मानते। वे कहते हैं कि उद्योत (चंद्र-प्रकाश), ताप, छाया, आतप, तम, बंध (संयोग), भेद, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार) आदि के ान शब्द भी पुद्गल के आगंतुक परिवर्त्तनों के कारण उत्पन्न होता है।[4]

गल के गुण ां, रस, गंध र वर्ण

(ख) आकाश

आकाश के कारण ही सभी अस्तिकाय-द्रव्यों को कोई-न-कोई स्थान प्राप्त है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म आकाश में ही स्थित हैं। आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। द्रव्यों का कायिक विस्तार स्थान के कारण ही हो सकता है। यह स्थान ही आकाश है। यह सत्य है कि जिसका भाविक गुण विस्तार नहीं है उसे आकाश विस्तृत नहीं कर सकता, लेकिन जिसका स्वाभाविक गुण है उसके विस्तार के लिए आकाश ही स्थान देता है।

काश के कारण विस्तार संभव है

आकाश के बिना अस्तिकाय-द्रव्यों का विस्तार सर्वथा असंभव है। यह सही है कि अस्तिकाय-द्रव्य का स्वाभाविक धर्म ही है विस्तृत होना। लेकिन उसका विस्तृत होना बिना आकाश के संभव ही नहीं है। कहा है कि द्रव्य आकाश को व्याप्त करता है और आकाश द्रव्य के द्वारा व्याप्त होता है।[5]

ना आकाश के स्तिकाय-द्रव्यों की ति असंभव है

---

[1] "पूरयन्ति गलन्ति च", सर्वदर्शनसंग्रह, ३

[2] तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—५-१९

[3] „ „—५-२३

[4] „ „—५-२४

[5] षड्दर्शन-समुच्चय—गुणरत्न की टीका—४९

लोकाकाश और अलोकाकाश

जैन दार्शनिक आकाश के दो भेद मानते हैं—लोकाकाश और [illegible] लोकाकाश वह है जो जीवों तथा अन्य द्रव्यों का आधान [illegible] अलोकाकाश उस आकाश को कहते हैं जो लोकाकाश [illegible]

(ग) काल

काल की आवश्यकता

उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व [illegible] काल के कारण ही संभव होता है।[1] काल [illegible] इसलिए आकाश की भाँति इसका भी अस्तित्व अनुमान से [illegible] होता है। काल न हो तो वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, [illegible] आदि कुछ भी संभव नहीं है। इनका अस्तित्व ही यह सिद्ध करता है कि काल है। इनका एक-एक कर विचार करें। वर्त्तना के लिए काल आवश्यक है, क्योंकि भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना ही वर्त्तना कहलाती है। परिणाम अर्थात् अवस्थाओं [illegible] भी काल के बिना संभव नहीं है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। दोनों अवस्थाएँ एक समय में नहीं हो सकतीं। बिना काल-परिवर्त्तन के एक ही [illegible] परस्पर-विरोधी गुण नहीं आ सकते। इसी प्रकार क्रिया या गति तभी संभव होती है [illegible] कोई वस्तु पूर्वापर क्रम से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धारण करती है। यह तभी हो सकता है जब काल का अस्तित्व हो। प्राचीन तथा नवीन, पूर्व तथा पश्चात् के [illegible] काल के बिना संभव नहीं हो सकते। इन युक्तियों से हम काल का अनुमान कर सकते [illegible]

काल अस्तिकाय नहीं है

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है, क्योंकि यह एक अखंड द्रव्य है। समस्त [illegible] एक ही काल युगपत् है।[2] हम देखते हैं कि जिस द्रव्य को [illegible] है वह अपने काय के विभिन्न अंशों से आकाश के विभिन्न [illegible] में वर्तमान रहता है। किंतु वर्तमान काल बिना अवयवों के ही समस्त विश्व में व्याप्त [illegible]

पारमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल

जैन दार्शनिक कभी-कभी काल के दो भेद करते हैं—पारमार्थिक काल [illegible] व्यावहारिक काल। व्यावहारिक काल को 'समय' भी कहते हैं। वर्त्तना पारमा[illegible] काल के कारण होती है। अन्यान्य परिवर्त्तन व्यावहारिक का[illegible] कारण होते हैं। क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि में व्यावहारिक काल [illegible] समय ही विभाजित होता है। समय का प्रारंभ और अंत [illegible] है, किंतु पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है। पारमार्थिक काल को भिन्न-[illegible] उपाधियों में सीमित करने से या विभक्त करने से दंड, दिन, मास आदि समय बनता है।

गुणरत्न कहते हैं कि कुछ जैन दार्शनिक काल को भिन्न या स्वतंत्र द्रव्य [illegible] मानते हैं, बल्कि अन्य द्रव्यों का ही एक पर्याय (Mode) मानते हैं।[4] [illegible]

(घ) धर्म और अधर्म

आकाश और काल की भाँति धर्म और अधर्म का अस्तित्व भी अनुमान से ही [illegible]

---

१ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ५-२२ : "वर्त्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य [illegible]
२ षड्-दर्शन-समुच्चय-गुणरत्न की टीका—पृ० १६३
३ द्रव्य-संग्रह २१
४ षड्-दर्शन-समुच्चय पृ० १६२

है। धर्म और अधर्म के लिए क्रमशः गति और स्थिति प्रमाण हैं। मछली का में चलना केवल मछली के कारण ही संभव नहीं हो सकता। यह सत्य है कि मछली ही अपनी गति को प्रारंभ करती है। किंतु यदि अनुकूल आधार न हो, अर्थात् जल न हो, तो मछली तैर नहीं सकती। इस तरह हम देखते हैं कि गति के लिए एक सहायक वस्तु की आवश्यकता है। इसी प्रकार जीव या अन्य किसी जड़-वस्तु की गति के लिए एक सहायक द्रव्य की आवश्यकता है जिसके कारण ही मव हो सकती है। जैन इसी को 'धर्म कहते हैं।'[1] यहाँ इस बात का स्मरण रखना क है कि धर्म केवल गतिशील द्रव्यों की गति में ही सहायक हो सकता है, स्थिर को यह गति नहीं दे सकता। ऊपर के उदाहरण में मछली का तैरना जल ण संभव होता है, जल मछली को तैरने के लिए प्रेरित नहीं करता है।

ौर अधर्म गति और के कारण हैं

धर्म द्रव्यों को स्थिर रहने में सहायक होता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के में सहायक होती है, या पृथ्वी द्रव्यों की स्थिति में सहायक होती है, उसी प्रकार अधर्म भी विश्राम और स्थिति में सहायक होता है। यह किसी चलती हुई वस्तु को स्वयं रोक नहीं सकता, उसके विश्राम में सहायक भर हो सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म और अधर्म में परस्पर विरोध है। किंतु दोनों में कई सादृश्य भी हैं। ये गति और स्थिति के कारण हैं। ये स्वयं क्रियाशील नहीं हैं। यहाँ धर्म और अधर्म का प्रयोग नैतिक तंक अर्थ में नहीं हुआ है, बल्कि एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में हुआ है।[2]

र अधर्म र, तथा ा कारण हैं

काश, काल, धर्म और अधर्म एक विशेष अर्थ में कारण माने जाते हैं। साधारणतः कारण के तीन मुख्य भेद हैं—कर्त्ता, करण या साधन और उपादान। कुंभकार कुंभ का कर्त्ता है, उसका चक्र करण है तथा मिट्टी उपादान है। आकाश, काल, धर्म और अधर्म साधनों के ही अंदर आ सकते हैं, किंतु साधारण साधनों से ये कुछ भिन्न हैं। धारण साधनों की तरह ये प्रत्यक्ष ढंग से सहायक नहीं होते हैं और न ये तरह क्रियाशील ही रहते हैं। अतः गुणरत्न इन्हें अपेक्षा-कारण कहते हैं।[3] कार कुंभ के लिए चाक की कील प्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं होती है, उसी आकाश, काल, धर्म और अधर्म भी प्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं होते हैं।

, काल, या अधर्म साधन माने ते हैं

४. जैन आचार और धर्म

ा दर्शन का प्रधान उद्देश्य है बंधन से मुक्ति। इसलिए बंधन क्या है, इसका क्या है, कैसे इससे मुक्ति होती है और मुक्ति का स्वरूप क्या है, इन विषयों गद विचार आवश्यक है।

ारत्न, षड्-दर्शन-समुच्चय, पृ० १७२
वार्थराज-वार्त्तिक, ५.१.१७-१८ : "धर्मादयः संज्ञाः सामयिकाः"
-दर्शन-समुच्चय, पृ० १६२

(१) बंधन

भारत के प्रायः सभी दर्शनों के अनुसार बंधन का अर्थ है जन्म-ग्रहण। ...
दर्शनों में आत्मा तथा संसार के संबंध में अलग-अलग विचार हैं। इस ...

जीव स्वभावतः अनंत है

कारण बंधन के अर्थ के संबंध में कुछ पृथक्-पृथक् ...
जैनों के अनुसार जीव को ही बंधन के दुःख भोगने ...
जीव चेतन द्रव्य है। यह स्वभावतः पूर्ण है। यथार्थतः ...
है। किंतु शरीर-धारण करने से इसके सामने अनेक बाधाएँ उपस्थित हो ...
बाधाओं के दूर हो जाने पर ही यह अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत ...
अनंत आनंद प्राप्त करता है। जिस तरह मेघ और तुषार के हट ...
समस्त पृथ्वी को आलोकित कर देता है, उसी तरह बाधाओं के हट ...
भी अनंत ज्ञान तथा अन्य अंतर्निहित गुणों को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ये बाधाएँ क्या हैं और ये किस ...
स्वाभाविक गुणों को अभिभूत कर देती हैं? शरीर से जीव का बंधन ...

कर्म ही बंधन का कारण है

इसके स्वाभाविक गुण अभिभूत हो जाते हैं। शरीर ...
बनता है। विशेष प्रकार के शरीर के लिए विशेष ...
पुद्गल की आवश्यकता होती है और उसका विशेष ...
रूपांतर किया जाता है। जीव की अंतर्निहित प्रवृत्ति ...
ही मानों शरीर का निर्माण होता है। अर्थात् जीव अपने कर्मों या संस ...
ही शरीर धारण करता है। पूर्व-जन्म के कर्मों के कारण अर्थात् पूर्व-जन्म ...

वासनाएँ पुद्गल को जीव की ओर आकृष्ट करती हैं

वचन तथा कर्म के कारण जीव में वासनाओं की उत्पत्ति ...
वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं। फल यह होता है कि ये ...
अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, जिससे विशेष प्रकार का ...
है। अतः जीव अपने कर्मों के अनुसार ही शरीर धारण ...
अतः जीव शरीर का निमित्त-कारण है और पुद्गल उपा ...
कारण। शरीर से केवल स्थूल शरीर नहीं समझना चाहिए, बल्कि शरीर में इंद्रि ...
प्राण का भी बोध होता है, जिनके कारण जीव के स्वाभाविक गुण अभिभूत हो ...

माता-पिता से जो शरीर मिलता है उसे आकस्मिक नहीं समझना चा ...
से यह निश्चित हो जाता है कि किसी व्यक्ति का जन्म किस वंश या ...

शारीरिक विशेषताएँ कर्मजनित होती हैं

होगा। कर्मों से ही शरीर का रंग, रूप, आकार, आयु ...
तथा कर्मेंद्रिय की संख्या एवं उनके विशेष धर्म निर्धारित ...
शरीर के कारण-रूप कर्मों एवं उनके सभी धर्मों को ...
और व्यष्टि की दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। ...
से कर्म समस्त वासनाओं का समूह है, जिसका फल समस्त-धर्म-विशिष्ट शरीर ...
व्यष्टि-दृष्टि से शरीर का विशेष-विशेष धर्म विशेष-विशेष कर्म का फल है, ...
के अनुसार कर्मों की संख्या अनेक है। उन्होंने किसी कर्म का नामकरण ...
के अनुसार किया है। जो कर्म यह निश्चित करता है कि व्यक्ति का जन्म कि ...

ोगा, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। जो आयु निश्चित करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। जो ान को नष्ट करता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जो विश्वास को नष्ट करता है से दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जो मोह पैदा करता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। ो सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

ोध, मान, माया ौर लोभ हमारे ाय हैं

क्रोध, मान, माया, लोभ ही हमारी कुप्रवृत्तियाँ हैं जो हमें बंधन में डालती हैं।[1] इन्हें 'कषाय' कहते हैं, क्योंकि ये पुद्गल कणों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

र्म-पुद्गल ौर उसका ास्रव

जीव की ओर कितने तथा किस प्रकार के पुद्गल-कण आकृष्ट होंगे, यह जीव के कर्म या वासना पर निर्भर करता है। ऐसे पुद्गल-कण को कर्म-पुद्गल का नाम दिया जाता है। कभी-कभी इसे कर्म भी कहते हैं। जीव की ओर जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह होता है उसे आस्रव कहते हैं।

ाव-बंध और ्रव्य-बंध

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-मत के अनुसार बंधन का एक विशिष्ट अर्थ । कषायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से आक्रांत हो जाना ही बंधन है।[2] चूंकि दूषित मनोभाव ही बंधन का मूल-कारण है और पुद्गल का आस्रव मनोभाव का एक परिणाम है, इसलिए जैन दार्शनिक कहते हैं कि जीव का पतन या बंधन मानसिक प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। वे बंधन के दो भेद मानते हैं—भाव-बंध ा द्रव्य-बंध। मन में दूषित भावों का अस्तित्व ही भाव-बंध कहलाता है। जीव पुद्गल से आक्रांत हो जाना द्रव्य-बंध कहलाता है।

ाव और पुद्गल क दूसरे में प्रविष्ट जाते हैं

बंधन की अवस्था में पुद्गल तथा जीव एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। हो सकता है कि यह विचार युक्ति-संगत न प्रतीत हो। किंतु हम देख चुके हैं कि जीव का भी विस्तार संभव है। यह शरीर का समव्यापी होता है। यह अनुभव-सिद्ध है कि सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में पुद्गल और चैतन्य वर्त्तमान रहते हैं। इन दोनों का परस्पर सम्मिश्रण उसी प्रकार संभव है, जिस प्रकार दूध और जल मिला देने पर दोनों एक साथ रहते हैं, या गरम लोहे में आग और लोहा एक ही साथ पाए जाते हैं।[3]

(२) मोक्ष

ुगल-विनाश मोक्ष है

हम देख चुके हैं कि जीव और पुद्गल के संयोग को बंधन कहते हैं। अतः जीव का पुद्गल से वियोग होना मोक्ष है। पुद्गल से वियोग तभी हो सकता है जब नए पुद्गल का आस्रव बंद हो और जो जीव में पहले से ही प्रविष्ट है वह जीर्ण हो जाए। पहले को संवर और दूसरे को निर्जरा कहते हैं।

---

[1] तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ८-९

[2] तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ८-२ : "सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः।".

[3] षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० १८१

पहले कहा जा चुका है कि जीव में पुद्गल का आस्रव जीव के अंतर्निहित कषायों के कारण होता है। इन कषायों का कारण अज्ञान है। आत्माओं का तथा अन्य द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न होने के कारण ही हमारे मन में क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश ज्ञान-प्राप्ति से ही हो सकता है। अतः जैन दार्शनिक सम्यग्-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। सम्यग्-ज्ञान की प्राप्ति तीर्थंकरों या अन्य मुक्त महात्माओं के उपदेशों के मनन से होती है। इनके उपदेश इसलिए लाभदायक होते हैं, कि ये स्वयं मोक्ष पा कर उपदेश देते हैं। किंतु उपदेशों के मनन करने के पूर्व उनका ज्ञान जान लेना आवश्यक होता है। साथ-साथ उपदेष्टाओं के प्रति श्रद्धा का होना भी आवश्यक होता है। इस श्रद्धा को सम्यग्-दर्शन कहते हैं। सम्यग्-ज्ञान की प्राप्ति में सम्यग्-दर्शन बड़ा सहायक होता है। किंतु केवल सम्यग्-ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही फल नहीं मिलता। उसके अनुसार जीवन-यापन करना आवश्यक है। अतः सम्यक् चरित्र एक तीसरा आवश्यक साधन है। सम्यक्-चरित्र के द्वारा हमें वासना, इंद्रिय, मन, वचन तथा कर्म को संयत करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि नए कर्मों का संवर हो जाता है और पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः उन पुद्गलों का भी नाश हो जाता है जिनके कारण जीव बंधन में पड़ा रहता है।

अज्ञान ही कषायों का कारण है

ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता है

सम्यग्-दर्शन

सम्यग् ज्ञान

सम्यक् चरित्र

जैन दार्शनिक सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र को 'त्रिरत्न' कहते हैं। मानो ये जीवन के अलंकरण हैं। तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में उमास्वामी ने कहा है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र ही मोक्ष के मार्ग हैं। तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है। यहाँ तीनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

त्रिरत्न

(१) सम्यग्-दर्शन—उमास्वामी के अनुसार यथार्थ-ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना सम्यग्-दर्शन कहलाता है। कुछ लोगों में तो यह स्वभावतः विद्यमान रहता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एवं अभ्यास के द्वारा प्राप्त भी करते हैं।[1] किन्तु श्रद्धा का उदय तभी होता है, जब जिन कर्मों से अश्रद्धा की उत्पत्ति होती है उन कर्मों का संवर या निर्जर होता है।

यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही सम्यग्-दर्शन है

सम्यग्-दर्शन का अर्थ अंधविश्वास नहीं है। जैन दार्शनिक इस बात की शिक्षा नहीं देते हैं कि हमें तीर्थंकरों के उपदेशों को आँख मूँदकर मान लेना चाहिए। तत्काल जैन दार्शनिक मनिभद्र कहते हैं कि जैन मत युक्तिहीन नहीं, पर युक्ति-प्रधान है। उनका कहना है—"...

सम्यग्-दर्शन अंधविश्वास नहीं है

१ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, १. २-३

महावीर के प्रति कोई पक्षपात है और न कपिल या अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष ही है। मैं युक्ति-संगत वचन को ही मानता हूँ, वह चाहे जिस किसी का हो।"[१]

श्रद्धा पूर्णतया युक्ति-संगत है। यह अंधविश्वास नहीं है। विषय के संबंध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही यह होती है और ऐसे विश्वास के बिना पूर्ण-ज्ञान पाने की प्रेरणा भी नहीं मिल सकती। संशयवादी भी जब किसी मत का विचार करता है तो उसे भी स्वतः अपनी विचार-प्रणाली और अपने विचार्य विषय में कुछ विश्वास रहता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि हमारे उपदेशों में कोई तथ्य है तो जिनको उनपर पूरा विश्वास नहीं भी है, उनका भी उन उपदेशों के अध्ययन करने पर पूरा विश्वास जम जाता है। अधिकाधिक मनन करने से विश्वास और बढ़ता ही जाता है। इस तरह पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विश्वास भी पूर्ण हो जाता है।

सम्यग्-दर्शन का प्रयोजन

(२) **सम्यग्-ज्ञान**—सम्यग्-दर्शन में जैन उपदेशों के केवल साराश का ज्ञान प्राप्त रहता है। किंतु सम्यग्-ज्ञान में जीव और अजीव के मूल-तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।[२] साथ ही सम्यग् ज्ञान-असंदिग्ध तथा दोष-रहित होता है। जैन-प्रमाण विचार में तो हम यह देख ही चुके हैं कि यथार्थ ज्ञान किस भाँति प्राप्त होता है। जिस प्रकार सम्यग्-दर्शन के प्रतिबंधक कर्म ही होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्-ज्ञान के प्रतिबंधक भी विशेष प्रकार के कर्म ही होते है। अतः इसके लिए कर्मों का नाश होना अत्यावश्यक है। कर्मों के पूर्णविनाश के बाद ही केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

तत्त्वों के सविशेष ज्ञान होने से ही सम्यग्-ज्ञान प्राप्त होता है

इसके लिए कर्मों का नाश आवश्यक है

(३) **सम्यक्-चरित्र**—अहित कार्यों का वर्जन और हित कार्यों का आचरण ही सम्यक्-चरित्र है।[३] सम्यक्-चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है, क्योंकि कर्मों के कारण ही बंधन और दुःख होते हैं। नए कर्मों को रोकने के लिए तथा पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिए निम्नोक्त क्रियाएँ आवश्यक हैं—

सम्यक्-चरित्र का अर्थ

१—पंच-महाव्रत का पालन करना चाहिए।

२—चलने, बोलने, भिक्षादि-ग्रहण करने, पुरीष और मूत्र-त्याग करने में समिति या सतर्कता का अवलंबन करना चाहिए।

३—मन, वचन तथा कर्म में गुप्ति या संयम का अभ्यास करना चाहिए।

---

१ षड्-दर्शन-समुच्चय, ४४ पर टीका, (चौखंभा संस्करण, पृ० ३६)
"न मे जिने पक्षपातः न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तद् ग्राह्यं वचनं मम॥"
२ देखिए, द्रव्य-संग्रह, श्लोक—४२
३ देखिए, द्रव्य-संग्रह, श्लोक—४५

कारण है[1]। किंतु ऐसा सोचना उचित नहीं है। कोई भी जीव, चाहे वह ...से-नीच स्थिति में क्यों न हो, उच्च-से-उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता ... इसलिए यह सर्वथा उचित है कि प्रत्येक जीव दूसरे को भी अपने ही जैसा ...। जीवों के प्रति आदर का होना तो आवश्यक कर्त्तव्य है।

...वचन और ...तीनों से ...का पालन ...चाहिए।

...जैन अहिंसा-व्रत का पालन छोटे-छोटे कार्यों में भी करते हैं। यहाँ तक कि वे जीव की हिंसा नहीं करना ही पर्याप्त नहीं समझते, बल्कि हिंसा के संबंध में सोचना, बोलना, या दूसरों को हिंसा करने की अनुमति या प्रोत्साहन देना भी उनके लिए अधर्म है। जब तक मन, वचन तथा कर्म से अहिंसा-व्रत का पालन नहीं किया जाए तब तक अहिंसा ...हीं समझी जाती है।

...दिता का ...हित ...प्रिय सत्य ...है।

(२) सत्य—मिथ्या वचन का परित्याग। इस व्रत को भी बड़ी तत्परता से पालन की आवश्यकता है। सत्यवादिता का आदर्श है सूनृत। जो सत्य सबका हितकारी हो और प्रिय हो उसे सूनृत कहते हैं (प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते)। केवल जो सत्य है उसे कहने से वह कभी-कभी दूषणीय वाचालता, ग्राम्यता, चपलता तथा परनिंदा भी हो जा सकता है। इसीलिए सत्यवादिता का आदर्श सूनृत माना गया है। सत्य-व्रत को पालन करने के लिए मनुष्य को लोभ, डर और क्रोध को दूर करना ...और किसी का उपहास करने की प्रवृत्ति का भी दमन करना चाहिए।

...ह्य जीवन है ...सका अप- ...निषिद्ध है

(३) अस्तेय—चौर-वृत्ति का वर्जन अर्थात् विना दिए हुए परद्रव्य का ग्रहण करना ही अस्तेय है। जैनों के अनुसार किसी जीव का प्राण जिस तरह पवित्र है, उसी तरह उसकी धन-संपत्ति भी है। एक जैन विद्वान् कहते हैं कि धन-संपत्ति मनुष्य का वाह्य-जीवन है। अतः धन-संपत्ति का अपहरण मानों उसके जीवन का ही अपहरण है। जीवन का अस्तित्व प्रायः धन पर ही निर्भर करता है। अतः ...के आधारभूत धन की रक्षा भी अत्यंत आवश्यक हो जाती है। हम देखते ... अहिंसा के साथ अस्तेय का अच्छेद्य संबंध है।

---

[1] ...Mackenzie का Hindu Ethics पृ० ११२ देखिए। वे लिखते हैं—"असभ्य ...नुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते हैं। भय की यह भावना ...ी अहिंसा का मूल है।" किंतु प्राचीन जैन उपदेशकों ने स्पष्ट ढंग से कहा है कि ...हानुभूति और न्याय की भावनाओं पर ही अहिंसा अवलंबित है। देखिए आचारांग-...त्र, १-४-२ (Jacobi, Jain Sutras, प्रथम भाग, पृ० ३८-३९) तथा सूत्र-कृतांग ...-१-४ (Jacobi, Jain Sutras, द्वितीय भाग पृ० २४७-४८)। इन ग्रंथों में यह ...खलाया गया है कि परस्पर सहानुभूति से ही अहिंसा-भावना की उत्पत्ति होती है

(४) ब्रह्मचर्य—वासनाओं का परित्याग। बहुत लोग ब्रह्मचर्य से ... जीवन समझते हैं। जैन इससे केवल इंद्रिय-सुखों का ... बल्कि सभी प्रकार के कामों का परित्याग समझते हैं। ... कि कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कर्म के द्वारा ... सुख का उपभोग बंद कर देते हैं, किंतु मन और वचन ... उनका उपभोग करते ही रहते हैं। ऐसा भी होता है ... संसार के सुखभोग की कामना छोड़ते हुए भी हम प्रायः परलोक में ... कामना रखते हैं। स्वयं सुख नहीं चाहते हुए भी दूसरों को सुख-भोग का अनुमति या आज्ञा देते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्णरूप से पालन करने के लिए ... की कामनाओं का त्याग करना पड़ता है—चाहे उन कामनाओं के ... बाह्य, सूक्ष्म हों या स्थूल, ऐहिक हों या पारलौकिक, अपने लिए हों या दूसरों के ...

ब्रह्मचर्य में सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना पड़ता है।

(५) अपरिग्रह—विषयासक्ति का त्याग। इस व्रत के लिए उन ... का परित्याग करना पड़ता है जिनके द्वारा इंद्रिय-सुख ... होती है। ऐसे विषयों के अंतर्गत सभी प्रकार के ... रूप, स्वाद तथा गंध हैं।[1] मनुष्य सांसारिक विषयों ... होने के कारण बंधन में पड़ जाता है। फल यह ... उसे पुनः पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ता है और यह ... नहीं पा सकता जबतक फिर विषयों से अनासक्त नहीं हो जाता।

विषयों से पूरा-पूरा अनासक्त होना अपरिग्रह कहलाता है

सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र में परस्पर घनिष्ठ संबं... की उन्नति या अवनति से दूसरे की उन्नति या अवनति ... चरित्र के उन्नत होने पर ज्ञान और दर्शन की भी उन्नति ... जब तीनों की पूर्णता होती है तब मनुष्य अपने नए ... कर्मों तथा राग-द्वेषों पर विजय प्राप्त करता है। ... बाधाओं से मुक्त होकर जीव अपने यथार्थ स्वरूप को ... लेता है। मोक्ष की अवस्था में जीव को अनंत चतुष्टय ... ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य तथा अनंत सुख प्राप्त हो जाता है।

दर्शन, ज्ञान और चरित्र की पूर्णता होने पर मुक्ति अर्थात् अनंत-चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

(३) जैन-धर्म अनीश्वरवादी है

जैन अनीश्वरवाद

बौद्ध-धर्म की भाँति जैन-धर्म भी ईश्वर को नहीं ... जैनों का अनीश्वरवाद निम्नलिखित युक्तियों पर अवलंबित ...

(१) प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं मिलता है। उसका अस्तित्व ... के द्वारा प्रमाणित होता है। न्याय-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के ...

---

1 आचारांग सूत्र का Jacobi के द्वारा अंगरेजी में अनुवाद पृ० २०८ ...
2 देखिए—षड्दर्शन-समुच्चय-गुणरत्न-टीका अध्याय और स्याद्वाद-मंजरी, ... उसकी टीका।

प्रकार की युक्ति दी गई है। प्रत्येक कार्य के लिए एक कर्त्ता की आवश्यकता है। गृह एक कार्य है अर्थात् एक निर्मित वस्तु है। उसको किसी कर्त्ता ने बनाया है, नहीं तो उसका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। उसी प्रकार यह संसार एक कार्य है। अतः इसके लिए भी एक कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता है। यह कर्त्ता या निर्माता ईश्वर है। किंतु यह युक्ति निर्दोष नहीं है, क्योंकि यह मान लिया गया है कि यह संसार भी एक कार्य है। इसके लिए क्या प्रमाण है संसार कार्य है? हम यह नहीं कह सकते कि संसार सावयव है इसलिए कार्य सावयव का अर्थ यदि यह हो कि इसके अवयव या अंश हैं तो आकाश को सावयव तथा कार्य मानना चाहिए, क्योंकि आकाश के विभिन्न अंश हैं। किंतु, नैयायिक तो आकाश को कार्य नहीं मानते, वरं नित्य मानते हैं। किसी कार्य के संबंध में यह भी देखा जाता है कि उसका निर्माता अपने शारीरिक अवयवों के द्वारा उपादानों से उसका निर्माण करता है। किंतु ईश्वर तो अवयवहीन है। वह इस प्रकार उपादानों से किसी वस्तु का निर्माण कर सकता है।

(१) ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान से ही हो सकती है

(२) ईश्वर के अस्तित्व की तरह उसके गुणों के संबंध में भी पूरा संदेह हो जाता है। ईश्वर एक, सर्वशक्तिमान्, नित्य तथा पूर्ण समझा जाता है। सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह सभी वस्तुओं का मूल कारण समझा जाता है। किंतु यह सत्य नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि घर, वर्तन आदि अनेक वस्तुएँ हैं जिन्हें ईश्वर नहीं बनाता। ईश्वर को एक माना जाता है क्योंकि यह कहा जाता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से उनमें मतों और उद्देश्यों का संघर्ष हो सकता है। उसका फल यह होगा कि संसार में सामंजस्य संभव नहीं होगा। किंतु हम देखते हैं कि संसार में सामंजस्य है। इसलिए यह सिद्ध है कि ईश्वर एक ही है। लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं है। क्या कई गृहशिल्पी एक साथ मिलकर प्रासाद नहीं बनाते? चींटियाँ एक साथ मिलकर वल्मीक नहीं बना लेती? मधुमक्खियाँ मिलकर मधुकोष नहीं बना लेती? *ईश्वर को नित्य-मुक्त और नित्यपूर्ण समझा जाता है।* किंतु 'नित्यमुक्त' शब्द का कोई अर्थ नहीं है। मुक्ति की प्राप्ति बंधन का नाश होने पर ही हो सकती है। अतः ईश्वर को नित्यमुक्त कैसे माना जा सकता है?

ईश्वर के लिए जो गुण कल्पित हैं वे युक्तिपूर्ण नहीं हैं

यद्यपि जैन धर्मावलंबी किसी जगत्-स्रष्टा ईश्वर को नहीं मानते, फिर भी सिद्धों की आराधना आवश्यक समझते हैं। ईश्वर के लिए जो-जो गुण आवश्यक समझे जाते हैं, वे सभी तीर्थंकरों में ही पाए जाते हैं। अतः जैन-धर्म में तीर्थंकर ही मानों ईश्वर हैं। मार्ग-प्रदर्शन के लिए तथा अंतःप्रेरणा के लिए इन्हीं की पूजा की जाती है। जैन-धर्म में पंच-परमेष्टि को माना जाता है। पंच-परमेष्टि हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। धर्मपरायण जैनों के लिए पंच-परमेष्टि की पूजा दैनिक कार्य-क्रम का एक प्रधान अंग है। ईश्वर के प्रति अविश्वास

जैन ईश्वर की नहीं, प्रत्युत तीर्थंकरों की उपासना करते हैं

रहने पर भी जैनों में न तो धर्मोत्साह की कमी है और न धार्मिक विचारों की

जैनों में धार्मिक भावना का अभाव नहीं है

तीर्थंकरों के सद्गुणों का निरंतर ध्यान करते रहने से वे इस बात का स्मरण करते रहते हैं कि वे भी उनकी तरह सिद्ध और [illegible] सकते हैं। पूत-चरित्र तीर्थंकरों का बराबर चिन्तन करने से वे अपने आपको भी पवित्र करते हैं और मोक्ष के लिए अपने को सुदृढ़ बनाते हैं। जैनों के लिए पूजा-वंदन का [illegible] नहीं है। उन्हें तो कर्मवाद जैसी अलंध्य व्यवस्था में विश्वास है जिसमें लिए करुणा का कोई स्थान नहीं है। पूर्व-जन्म के कर्मों का नाश [illegible] और कर्मों के द्वारा ही हो सकता है। कल्याण की प्राप्ति अपने ही कर्मों

जैन-धर्म में स्वावलंबन

हो सकती है। तीर्थंकर तो मार्ग-प्रदर्शन के लिए केवल का काम करते हैं। जैन-धर्म केवल उन पुरुषों के लिए वीर और दृढ़-चित्त हैं। इसका मूल-मंत्र मानों स्वावलं[illegible]
अतः जैन-धर्म में मुक्त आत्मा को 'जिन' और 'वीर' कहा जाता है।

४

बौद्ध-दर्शन

१. विषय-प्रवेश

ौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध थे। ये बचपन में सिद्धार्थ कहलाते थे। ईसा से
ठी शताब्दी में हिमालय तराई के कपिलवस्तु नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था।
स्था में ही इन्होंने घर-परिवार छोड़कर संन्यास धारण किया। जरा-मरण के दृश्यों
ने से इनके मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि संसार में केवल दुःख-ही-दुःख है। अतः
े मुक्ति पाने के लिए इन्होंने संन्यास ग्रहण किया। संन्यासी बनकर इन्होंने दुःखों
के मूल-कारण को तथा उनसे मुक्त होने के उपायों को जानने का
अथक प्रयत्न किया। धर्मोपदेशकों तथा प्रगाढ़ पंडितों से शिक्षाएँ
लीं। तपस्याएँ भी कीं। लेकिन सफलता न मिलने पर ये बिलकुल
आत्मनिर्भर हो गए। दृढ़ संकल्प के साथ शुद्ध मन से ये घोर साधना
गए और इस तरह दु:ख के रहस्य को समझने की अखंड चेष्टा की। अंत में इनको
मिली। ये बोधि (पूर्णज्ञान) प्राप्त कर 'बुद्ध' कहलाए। इसी बोधि के आधार
ौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-दर्शन कायम हुए हैं। आगे चलकर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक
हुआ। यहाँ तक कि दक्षिण में लंका, ब्रह्मा तथा स्याम, और उत्तर में तिब्बत, चीन,
तथा कोरिया तक इसका संदेश पहुँच गया।

बुद्ध का

प्राचीन काल के अन्य धर्मोपदेशकों की तरह महात्मा बुद्ध ने भी अपने धर्म का प्रचार
मौखिक रूप से ही किया। उनके शिष्यों ने भी बहुत काल तक उनके
उपदेशों का मौखिक ही प्रचार किया। बुद्ध के निजी उपदेशों का
जो कुछ भी ज्ञान हमें आजकल प्राप्त है वह त्रिपिटकों से ही हुआ है।
कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के वचनों और उपदेशों का संकलन
निकटतम शिष्यों के द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है। त्रिपिटकों के अंतर्गत विनय-
पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक हैं। प्रत्येक पिटक में
अनेक ग्रंथ हैं; इसलिए 'पिटक' (पेटी) नाम पड़ा। विनय-पिटक में
संघ के नियमों का, सुत्त-पिटक में बुद्ध के वार्त्तालाप और उपदेशों
या अभिधम्म-पिटक में दार्शनिक विचारों का संग्रह हुआ है। इन पिटकों में केवल
न बौद्ध-धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पालि है।

के उपदेश
क होते थे

टक

कालांतर में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई और वे कई
ायों में विभक्त हो गए। धार्मिक मतभेद के कारण बौद्ध-धर्म की दो प्रधान शाखाएँ
कायम हुईं जो हीनयान तथा महायान के नाम से प्रसिद्ध हैं। हीनयान
का प्रचार भारत के दक्षिण में हुआ। आजकल इसका अधिक प्रचार
लंका, ब्रह्मा तथा स्याम में है। पालि त्रिपिटक ही हीनयान के प्रधान
है। महायान का प्रचार अधिकतर उत्तर के देशों में हुआ। इसके अनुयायी तिब्बत,
तथा जापान में अधिक पाए जाते हैं। महायान का दार्शनिक विवेचन संस्कृत में हुआ है।

ान और
ान

अतः इसके ग्रंथों की भाषा संस्कृत है। इन ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती [illegible] भाषाओं में हुआ है। बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रंथ जो भारत में अभी [illegible] या चीनी अनुवादों के द्वारा पुनः प्राप्त हो रहे हैं और उन्हें फिर से संस्कृत किया जा रहा है।

बौद्ध-धर्म का प्रचार अनेक देशों में हुआ है। जहाँ-जहाँ इसका प्रचार हु[आ] प्रचलित मतों की छाप भी इसपर पड़ी। इस तरह बौद्ध-धर्म की अनेक [illegible] हुईं। इसका फल यह हुआ कि इसके साहित्य [illegible] भाषाओं में हुआ है इसलिए समूचे बौद्ध-साहित्य का ज्ञान एक विद्वान् के लिए असंभव-सा है। यहाँ बौद्ध-दर्शन [illegible] विवरण दिया जाता है। सबसे पहले हम त्रिपिटक में [illegible] के उपदेशों का उल्लेख करेंगे। उसके बाद हम बौद्ध-दर्शन की प्रधान शाखाओं [illegible] करेंगे और अंत में हीनयान तथा महायान के धार्मिक विचारों का संक्षेप में [illegible]

बौद्ध-धर्म का विशाल साहित्य

२. बुद्ध के उपदेश—चार आर्य-सत्य

(१) विवाद-पराङ्मुखता

कुछ त्रिपिटक ग्रंथों से[1] मालूम होता है कि बुद्ध के समय में और [illegible] आत्मा, जगत्, परलोक, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि के संबंध में घोर वि[illegible] वितर्क होते थे। अप्रत्यक्ष विषयों की कोई मीमांसा तर्क से नहीं होती थी। [illegible] अंतिम ध्येय अप्रत्यक्ष दार्शनिक तत्त्वों का विचार नहीं था, बल्कि यह था कि जीवों के दुःखों का किस प्रकार अंत हो सकता है। कोई यदि उनसे [illegible] था कि आत्मा शरीर से भिन्न है या नहीं, आत्मा अमर है या नहीं, [illegible] है या अनंत, नित्य है या अनित्य, तो वे मौन धारण [illegible] थे। उनका कहना था कि जिन विषयों के समाधान [illegible] पर्याप्त प्रमाण न हों उनके समाधान की चेष्टा व्यर्थ [illegible] जब [illegible] हाथी का स्पर्श करते हैं तो वे हाथी का भिन्न-भि[न्न] [illegible] करते हैं। जो जिस भाग का स्पर्श करता है उसकी [illegible] हाथी का आकार उसी प्रकार का होता है। किसी को भी हाथी का पूर्ण [illegible] होता। बुद्ध ने पूर्व प्रचलित अनेक दार्शनिक मतों को दूषित और [illegible] प्रतिपादित किया। उन्होंने अप्रत्यक्ष और संदिग्ध दार्शनिक विषयों के वा[द] का परित्याग इसलिए भी किया कि उनसे [illegible] या [illegible] प्राप्त [illegible] कुछ भी सहायता नहीं मिलती है। जो मनुष्य तर्क के जाल में फंसता [illegible] वह उसमें बुरी तरह फँस जाता है।[2] दुःख-निरोध ही समस्या है [illegible] महत्त्वपूर्ण है। दुःखों से पीड़ित रहते हुए भी आत्मा तथा जगत् के मूल [illegible] अनुसंधान में लगा रहना बड़ी भारी मूर्खता है। जिस प्रकार शरीर में [illegible]

दार्शनिक विवादों से बुद्ध उदासीन थे

---

1 मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त देखिए।
2 मज्झिमनिकाय सुत्त।

रहने पर उसको निकाल कर फेंकने के बजाय उसके बनानेवाले या फेंकनेवाले
ति, रंग, निवास आदि के अनुसंधान में समय नष्ट करना मूर्खता है।[1]

टठपाद-सुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध ने दस प्रश्नों का समाधान असंभव तथा
रिक दृष्टि से व्यर्थ समझा है। अतः उन प्रश्नों के समाधान का उन्होंने
ही नहीं किया है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं—(१) क्या यह लोक शाश्वत है?
(२) क्या यह अशाश्वत है? (३) क्या यह सांत है? (४)
तानि — क्या यह अनंत है? (५) आत्मा तथा शरीर क्या एक है?
(६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? (७) क्या मृत्यु के बाद
का पुनर्जन्म होता है? (८) क्या मृत्यु के बाद उनका पुनर्जन्म नहीं होता?
क्या पुनर्जन्म होता भी है; नहीं भी होता है? (१०) क्या उनका पुनर्जन्म
और न होना, दोनों ही बातें असत्य हैं? बौद्ध-धर्म के पालिसाहित्य में इन
को 'अव्याकतानि' कहते हैं? इनकी संख्या कहीं दस से अधिक भी मिलती है।
तिम प्रश्न की चार कोटियाँ यहाँ हैं, वैसे ही और तीनों प्रश्नों की चार-चार
हो सकती हैं। इस प्रकार कुल प्रश्नों की संख्या सोलह तक हो सकती है।

न प्रश्नों का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से निष्फल है तथा उनका असंदिग्ध
मल भी नहीं सकता। अतः बुद्ध ने उनका कभी विवेचन नहीं किया। इसके
उन्होंने दुःख, दुःख के कारण, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग जैसे अधिक
र्ण विषयों पर उपदेश दिया और कहा—"इसी प्रकार के विवेचन से लाभ
ता है। इसीको धर्म के मूल-सिद्धांतों से संबंध है। इसीसे अनासक्ति, तृष्णाओं
श, दुःखों का अंत, मानसिक शांति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण संभव हो सकते हैं।[2]

हात्मा बुद्ध की शिक्षा का सारांश उनके चार आर्य-सत्यों में निहित है।
आर्य-सत्यों का उपदेश बुद्ध ने जन-साधारण को दिया है। चार आर्य-सत्य ये
हैं—(१) सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों
आर्य-सत्य — का कारण है। (३) दुःखों का अंत संभव है। (४) दुःखों के
अंत का उपाय है। इन्हें क्रमशः दुःख, दुःख-समुदाय, दुःख-निरोध
दुःख-निरोध मार्ग कहते हैं। गौतम बुद्ध के अन्य सभी उपदेश इन्हीं आर्य-
से संबद्ध हैं। चार्वाकेतर सभी भारतीय-दर्शन इन चार आर्य-सत्यों को किसी-
ी रूप में मानते हैं।

(२) प्रथम आर्य-सत्य

(दुःख)

रोग, जरा तथा मरण के दुःखमय दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का मन विकल हो गया
किंतु जब सिद्धार्थ बुद्ध हुए तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव तथा मानवेतर
सभी दुःख से परिपूर्ण है। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, क्लेश, आकांक्षा, नैराश्य

---

[1] मज्झिम-निकाय

[2] " "

स्पर्श के नहीं हो सकती है। अर्थात् इंद्रियों का विषयों के साथ संपर्क आवश्यक है। अतः वेदना के लिए स्पर्श आवश्यक है। स्पर्श भी बिना ज्ञानेंद्रियों के नहीं हो सकता।

अतः स्पर्श के लिए पाँच इंद्रिय तथा मन आवश्यक हैं। पाँच इंद्रियाँ तथा मन के समूह को षडायतन कहते हैं। यदि गर्भस्थ शरीर तथा मन न हों तो षडायतन का अस्तित्व ही संभव नहीं है। गर्भस्थ भ्रूण के शरीर और मन को नाम-रूप कहते हैं। यदि गर्भावस्था में चैतन्य या विज्ञान न हो तो नामरूप की वृद्धि ही नहीं हो सकती। किंतु गर्भावस्था में विज्ञान की संभावना तभी हो सकती है जब पूर्व जन्म के कुछ संस्कार रहें। अकस्मात् विज्ञान संभव नहीं हो सकता है। पूर्वजन्म की अंतिम अवस्था में मनुष्य के पूर्ववर्ती सभी कर्मों का प्रभाव रहता है। कर्मों के अनुसार जो संस्कार बनते हैं उन्हीं के कारण विज्ञान संभव हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे संस्कार ही क्यों बनते हैं ? ऐसे संस्कारों का कारण है अविद्या। क्षणिक, दुःखद, असार एवं हेय विषयों को स्थायी, सुखद, सार तथा उपादेय समझ लेना ही अविद्या या मिथ्याज्ञान है। यही जन्म का मूल कारण है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि (१) दुःख का कारण, (२) जाति है। जाति का कारण (३) भव है। भव का कारण (४) उपादान है। उपादान का कारण (५) तृष्णा है। तृष्णा का कारण (६) वेदना है। वेदना का कारण (७) स्पर्श है। स्पर्श का कारण (८) षडायतन है। षडायतन का कारण (९) नाम-रूप है। नामरूप का कारण (१०) विज्ञान है। विज्ञान का कारण (११) संस्कार है तथा संस्कार का कारण (१२) अविद्या है।

ऊपर की शृंखला में हम बारह कड़ियाँ पाते हैं। महात्मा बुद्ध के सभी उपदेशों में इन कड़ियों का क्रम या संख्या एक तरह से नहीं है। किंतु उपर्युक्त विवरण प्रामाणिक माना जाता है। इस शृंखला के कई नाम हैं; जैसे द्वादश-निदान, भाव-चक्र। बुद्ध के इस उपदेश को अनेक बौद्ध चक्र घुमा-घुमा कर इन दिनों भी याद करते हैं। माला जपने की तरह चक्र घुमाना भी कुछ बौद्धों के दैनिक पूजा-वंदन का एक अंग हो गया है।

भाव-चक्र

द्वादश-निदान भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् जीवनों में व्याप्त है। वर्त्तमान जीवन का कारण अतीत जीवन है और वर्त्तमान जीवन का प्रभाव भविष्य जीवन पर पड़ता है। इसलिए तीनों की एक शृंखला है। द्वादश-निदान इस शृंखला में आरंभ से अंत तक व्याप्त है। संपूर्ण द्वादश-निदान को हम भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य जीवन, इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं[1]—

वर्त्तमान जीवन का कारण पूर्ववर्ती जीवन है और भविष्य जीवन का कारण वर्त्तमान जीवन है

(१) अविद्या
(२) संस्कार } भूत जीवन

[1] अभिधम्मत्थ-सङ्गह ८.६. देखिए।

सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, अतः ये सभी दुःख हैं।[1] क्षणिक विषयों [illegible] आसक्ति ही पुनर्जन्म तथा बन्धन का कारण होती है। [illegible] जो सांसारिक जीवन को बिलकुल दुःखमय बतलाना [illegible] चार्वाक नहीं मानते हैं। वे यह कहते हैं कि दुःखों के [illegible] जीवन में सुख-प्राप्ति के भी अनेक साधन हैं। किंतु महात्मा बुद्ध तथा अन्य [illegible] विद्वानों का इसके विरुद्ध यही उत्तर होगा कि सांसारिक सुखों को [illegible] समझना केवल अदूरदर्शिता है। सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। वे [illegible] होते हैं। उनके नष्ट हो जाने पर दुःख ही होता है। ऐसे सुखों के साथ [illegible] यह चिंता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाएँ। इस तरह के अनेक परिणाम हैं जिनके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे [illegible] हैं। वरं वे तो आशंका और चिंता के मूल हैं।

(१) दुःख

(३) द्वितीय आर्य-सत्य

(द्वादश निदान)

दुःख के अस्तित्व को तो सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं। किंतु [illegible] कारण के संबंध में सभी एकमत नहीं हैं। महात्मा बुद्ध [illegible] समुत्पाद के अनुसार दुःख के कारण को जानने का प्रयत्न [illegible] है। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार संसार का कोई भी विषय [illegible] कारण नहीं है। सभी के कुछ-न-कुछ कारण हैं। अतः [illegible] कुछ कारण नहीं रहे तबतक दुःख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जीवन में [illegible] दुःख हैं, जैसे—जरा, मरण, नैराश्य, शोक, इत्यादि। जीवन के दुःखों [illegible] नाम जरा-मरण हैं।

(२) दुःख के कारण हैं : द्वादश-निदान

प्रश्न यह उठ सकता है कि जरा-मरण का कारण क्या है? शरीर-धारण ही जरा-मरण का कारण है। शरीर-धारण न हो तो जरा-मरण नहीं हो [illegible] अर्थात् जन्म-ग्रहण या जाति ही दुःख का कारण है। प्रतीत्य-समुत्पाद के [illegible] जन्म का भी कारण होगा। जन्म का कारण 'भव'[2] है। जन्म-ग्रहण करने की [illegible] को भव कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का क्या कारण है? सांसारिक [illegible] प्रति जो हमारा उपादान अर्थात् उनसे लिपटे रहने की अभिलाषा है वही जन्म-प्रवृत्ति का कारण है। यह उपादान भी हमारी तृष्णाओं अर्थात् शब्द आदि विषय भोग करने की वासनाओं के कारण होता है। किंतु यह तृष्णा [illegible] से आती है? तृष्णा का कारण हमारा पहले का विषय-भोग है। अर्थात् [illegible] द्वारा जो हमें वेदना अर्थात् सुखानुभूति होती है, उसीसे हमारी तृष्णा जगती है। अतः तृष्णा का कारण वेदना है। किंतु, वेदना या इंद्रियानुभूति बिना [illegible]

---

१ दीघ-निकाय

२ Mrs. Rhys Davids भव शब्द का अर्थ 'अस्तित्व' नहीं समझती [illegible] अस्तित्व की 'इच्छा' समझती हैं। (Buddhism पृ० ९१) [illegible] 'भव' का अर्थ 'अस्तित्व' निरर्थक प्रतीत होता है। अतः Mrs. Rhys D. का अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। सांख्य तथा अन्य भारतीय दर्शनों में 'भव' [illegible] 'होने की प्रवृत्ति' है।

तरह वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति को 'अर्हत्' कहते हैं। मोक्ष निर्वाण कहते हैं। निर्वाण राग-द्वेष तथा तज्जन्य दुःख के नाश की अवस्था है।

निर्वाण का अर्थ निष्क्रियता नहीं है

निर्वाण निष्क्रिय अवस्था नहीं है, जैसे कि प्रायः लोग समझते हैं। यह सही है कि आर्य-सत्यों के सम्यग्-ज्ञान के लिए मन को बाह्य वस्तुओं से तथा आंतरिक भावों से हटाना पड़ता है तथा आर्य-सत्यों पर केंद्रीभूत कर उनका निरंतर विचार एवं मनन करना पड़ता है। किंतु एक बार अखंड समाधि के द्वारा जब स्थायी रूप से प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है तब निरंतर समाधि में मग्न रहने की आवश्यकता नहीं रहती और न जीवन के कर्मों से विरत रहने की ही आवश्यकता रहती है। लोगों को यह मालूम है कि किस तरह महात्मा बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी परिभ्रमण, धर्म-प्रचार, संघ-स्थापन आदि कार्य करते रहे। इस तरह हम देखते हैं कि स्वयं बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक का जीवन निर्वाण के बाद भी बिलकुल कर्ममय रहा है।

बोध-प्राप्ति के बाद बुद्ध सक्रिय थे

राग, द्वेष आदि के बिना कर्म करने से बंधन नहीं होता

महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते हैं। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है। दूसरी तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है। प्रथम प्रकार का कर्म हमारी विषयानुरक्ति की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारों को पैदा करता है जिनके कारण जन्म ग्रहण करना ही पड़ता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्त भाव से तथा संसार को अनित्य समझकर किया जाता है जिससे पुनर्जन्म की संभावना नहीं रह जाती है। साधारण ढंग से यदि बीज का वपन किया जाए तो पौधे की उत्पत्ति होती है, किंतु यदि बीज को भूँज दिया जाए तो उसके वपन से पौधे की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[1] उसी तरह राग, द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर कर्म करने से पुनर्जन्म हो जाता है। किंतु अनासक्त भाव से कर्म करने से जन्म-ग्रहण नहीं होता। अपने संबंध में महात्मा बुद्ध ने कहा था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद बिलकुल निष्क्रिय रहने की उनकी इच्छा हुई थी। यहाँ तक कि दूसरों को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बतलाने के लिए भी उनकी इच्छा नहीं थी।[2] किंतु दुःख से पीड़ित मानव के लिए उनके हृदय में करुणा का संचार हुआ और वे लोक-कल्याण के कार्य में लग गए। जिस नौका के द्वारा उन्होंने स्वयं दुःख-समुद्र को पार किया था उसको नष्ट कर देना उन्होंने उचित नहीं समझा, बल्कि उन्होंने उसे जीवों के कल्याण में लगा दिया।

इन बातों से स्पष्ट है कि निर्वाण प्राप्त करने पर अर्हत् निष्क्रिय नहीं हो जाते हैं, वरन् निर्वाण-प्राप्ति के बाद दूसरों के प्रति उनकी प्रीति और दया और भी बढ़ जाती है जिससे उनके उद्धार के लिए वे अपने ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करते हैं।

---

1. [illegible], ३.३३
2. [illegible]य, २६

(३) विज्ञान
(४) नाम-रूप
(५) षडायतन
(६) स्पर्श — वर्तमान जीवन
(७) वेदना
(८) तृष्णा
(९) उपादान

(१०) भव
(११) जाति — भविष्य जीवन
(१२) जरा-मरण

एक बात का जिक्र करना अप्रासंगिक नहीं होगा जो भारतीय दर्शन की [illegible] महात्मा-बुद्ध की अपूर्व देन है। वह यह है कि शरीर की उत्पत्ति तथा वृद्धि एक [illegible] वासना के कारण होती है। आधुनिक जीव-शास्त्रज्ञों के अनुसार जीवन का [illegible] आकस्मिक कारणों से होता है। इसके लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता। [illegible] अंग-विशेष की उत्पत्ति भी (जैसे चक्षु, शृंग इत्यादि) बिना किसी प्रयोजन के होती है। किंतु फ्रांस के सुविख्यात दार्शनिक बर्गसाँ (Bergson) इस मत को नहीं मानते। उनके अनुसार किसी भी वस्तु का [illegible] अंतर्निहित शक्ति की प्रेरणा से होता है। महात्मा बुद्ध ने [illegible] मत को प्राचीन काल में ही प्रतिपादित किया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि [illegible] बुद्ध ने यह बतलाया है कि भव अर्थात् जन्म लेने की प्रवृत्ति के कारण जन्म-ग्रहण होता या विज्ञान के कारण गर्भावस्था में शरीर की वृद्धि होती है। यहाँ इस बात का [illegible] किया जा सकता है कि बुद्ध तथा बर्गसाँ दोनों ही संसार को परिवर्त्तनशील मानते हैं।

बौद्ध और बर्गसाँ

(४) तृतीय आर्य-सत्य

(दुःख-निरोध या निर्वाण)

द्वितीय आर्यसत्य से यह स्पष्ट है कि दुःख का कारण है। अतः दुःख के कारण यदि अंत हो जाए तो दुःख का अंत भी अवश्यंभावी है। दुःख नाश या दुःख-निरोध की अवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त [illegible] आवश्यक है। दुःख-निरोध को निर्वाण कहते हैं।

(१) दुःख का अंत निर्वाण है

निर्वाण की प्राप्ति जीवन-काल में भी हो सकती है। राग-द्वेषों पर विजय पा शुद्ध आचरण या शील के साथ आर्य-सत्यों का निरंतर [illegible] हुए यदि कोई मनुष्य समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त कर लेता है [illegible] लोभ, मोह, राग, द्वेष से मुक्त हो जाता है। उसे [illegible] रूप या अरूप, किसी विषय की तृष्णा नहीं रहती है। मानों 'मार' (या आध्यात्मिक शत्रु) पर पूर्ण विजय कर लेता

निर्वाण की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती है

क नाश होने से ही निर्वाण के कुछ-कुछ लाभ मिल सकते हैं। राजा अजातशत्रु ने
न् बुद्ध से पूछा था कि श्रमण या संन्यासी होने से क्या लाभ है? इसके उत्तर में
ने बताया था कि श्रामण्य (श्रमण की अवस्था) का फल 'सांदृष्टिक' है; अर्थात् ये
गामात्र नहीं, वरं साक्षात् अनुभवगोचर हैं। शुद्ध शील से श्रमण का जीवन पवित्र
है; मिथ्यादृष्टि से और लोभ, मोह, तृष्णा से मुक्त होकर मन स्वच्छ, शांत, संयत,
रक्त, प्रीत, समाहित होता है। ध्यान के द्वारा श्रमण को क्रमशः निःसंशय भाव,
रिक सुख, प्रेम, निरपेक्षता, प्रज्ञा और सब दुःखों से मुक्ति मिलती है।

नागसेन एक विख्यात बौद्ध धर्मोपदेशक थे। ग्रीस के राजा मिलिंद (मिनेंडर)
ने के शिष्य हुए थे। नागसेन ने उपमाओं की सहायता से राजा मिलिंद को निर्वाण
का अवर्ण्य स्वरूप बतलाने की चेष्टा की थी। नागसेन ने कहा था
कि निर्वाण समुद्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा तथा मधु की
तरह मधुर है, इत्यादि।[1] किंतु नागसेन ने यह भी कहा था कि
जिनको निर्वाण का कोई भी अनुभव नहीं है उन्हें इन उपमाओं के
निर्वाण की कुछ भी धारणा नहीं हो सकती है। अंधे को रंग का ज्ञान कराने के
युक्ति तथा उपमा से कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है।

ण
ातीत है

(५) चतुर्थ आर्य-सत्य

(दुःख-निरोध-मार्ग)

चतुर्थ आर्य-सत्य यह है कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए एक मार्ग है। इसका अनुसरण
करके बुद्ध ने निर्वाण या दुःखातीत अवस्था को प्राप्त किया था और
जिसका अनुसरण और लोग भी कर सकते हैं। जिन कारणों के
द्वारा दुःखों की उत्पत्ति होती है उनको नष्ट करने का उपाय ही
निर्वाण का मार्ग है।

-निरोध का
है। उसके
अंग हैं

बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति के लिए जिस मार्ग को लोगों के सामने रखा उसके आठ अंग
, इसलिए इसे अष्टांगिक मार्ग[2] कहते हैं। यही बौद्ध-धर्म का सार है। यह गृहस्थ
संन्यासी सभी के लिए है। इस मार्ग के निम्नलिखित आठ अंग हैं—

(१) सम्यक्-दृष्टि (पालि में 'सम्मादिट्ठि')—अविद्या के कारण आत्मा तथा
र के संबंध में मिथ्या-दृष्टि की उत्पत्ति होती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अविद्या
ही हमारे दुःखों का मूल कारण है। अविद्या से ही मिथ्या-दृष्टि
उत्पन्न होती है, और हम अनित्य दुःखद और अनात्म वस्तु को नित्य
सुखकर और आत्मरूप समझ बैठते हैं। इस दृष्टि को छोड़कर
ओं के यथार्थ स्वरूप पर सतत ध्यान रखना चाहिए। इसीको सम्यक्-दृष्टि कहते हैं।

क्-दृष्टि

(२) सम्यक्-संकल्प (सम्मासंकप्प)—आर्य-सत्यों के ज्ञान मात्र से कोई लाभ नहीं
सकता जब तक उनके अनुसार जीवन बिताने का संकल्प या दृढ़ इच्छा नहीं की जाए।

---

[1] मिलिन्द-पञ्ह।

[2] इसका विशद वर्णन दीर्घ-निकाय तथा मज्झिम-निकाय में दिया गया है।

यदि स्वयं महात्मा बुद्ध का जीवन या संदेश उपर्युक्त प्रकार का है तो य
सर्वथा असंगत है कि निर्वाण का अर्थ जीवन का नष्ट हो

निर्वाण का अर्थ जीवन-नाश नहीं, प्रत्युत दुःखों का अंत होना है

'निर्वाण' शब्द का अर्थ 'बुझा हुआ' है। यहाँ दी... के साथ जीव के दु:खों के मिट जाने की तुलना की गई है। कि इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ बौद्ध एवं अन्यान्य दार्शनिक नि जीवन का अंत समझते हैं। लेकिन यह मत मान्य नहीं है। निर्वाण का अर्थ जीवन-विनाश हो तो यह नहीं कहा कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। ऐसी हालत में उनकी निर्वा कहानी मात्र रह जाती है। किंतु उनके अपने शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि निर्वाण की प्राप्ति की थी। अतः यह नहीं कहा जा सकता ... बुद्धदेव के ... का अर्थ जीवन का अंत है।

निर्वाण से पुनर्जन्म तो बंद हो जाता है और साथ-साथ दुःखों का भी अंत है; किंतु क्या इसका अर्थ यह होता है कि मृत्यु के बाद निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति का नहीं रहता? हम ऊपर देख चुके हैं कि महात्मा बुद्ध इस तरह के दश प्रश्नों की चर्चा नहीं करते थे। उनके अनुसार ऐसे प्रश्नों का समाधान बिलकुल बेकार है प्रश्नों के संबंध में वे मौन रहते थे। लेकिन उनके मौन-धारण का यह मतलब नहीं है कि मुक्तात्मा का मृत्यु के बाद कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। उनके मौन का म हो सकता है कि निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था वर्णनातीत है।[1]

निधन के बाद निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था के संबंध में यदि महात्मा कुछ कहा ही नहीं तो निर्वाण से कुछ लाभ है या नहीं—यह शंका उठ सकती है। यह शंका निराधार है।

निर्वाण के दो लाभ— (१) पुनर्जन्म और दुःख का अंत, (२) जीवन-काल में ही शांति की प्राप्ति

निर्वाण से दो तरह के लाभ हैं। एक तो यह कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद और तज्जनित दुःख संभव नहीं है, क्योंकि जन्म-ग्रहण के आवश्यक कारण हैं वे नष्ट हो जाते हैं। दूसरा लाभ यह है निर्वाण प्राप्त कर लेता है उसका जीवन मृत्युपर्यंत पूर्णज्ञान शांति के साथ बीतता है। निर्वाण के बाद जो शांति मि उसकी तुलना सांसारिक सुखों के साथ नहीं हो सकती है। की अवस्था पूर्णतया शांत, स्थिर तथा तृष्णाविहीन होती साधारण अनुभवों के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा स अधिक-से-अधिक हम इसके संबंध में यही सोच सकते हैं कि नि प्राप्ति के बाद सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। दुःख-विनाश की अवस्था की हम थोड़ा-बहुत कर सकते हैं क्योंकि रोग, ऋण, दासत्व, कारावास आदि दुःखों से का अनुभव जब-तब हमें मिलता है।[2] पूर्ण निर्वाण प्राप्त करने के पहले भी वासना

---

१ Hibbert Journal (अप्रैल १९३४) में प्रोफेसर राधाकृष्णन का "The Teach of Buddha by Speech and Silence" नामक लेख देखिए।

२ सामञ्ञ-सुत्त।

सम्यक्-संकल्प

जो निर्वाण चाहते हैं उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति ... प्रति विद्वेष और हिंसा—इन तीनों को परित्याग करने ... करना चाहिए। इन्हीं का नाम सम्यक्-संकल्प है।

सम्यक्-वाक्

(३) सम्यक्-वाक् (सम्मावाचा)—सम्यक्-संकल्प केवल ... चाहिए। वरं उसे कार्यरूप में परिणत भी होना चाहिए। संकल्प के द्वारा सबसे पहले हमारे वचन का ... अर्थात् हमें मिथ्यावादिता, निंदा, अप्रिय वचन तथा वाचालता से बचना चाहिए।

सम्यक्-कर्मांत

(४) सम्यक्-कर्मांत (सम्माकम्मांत)—सम्यक्-संकल्प को केवल ... नहीं बल्कि कर्म में भी परिणत करना चाहिए। अहिंसा, ... तथा इंद्रिय-संयम ही सम्यक्-कर्मांत हैं।

सम्यगाजीव

(५) सम्यगाजीव (सम्मा-आजीव)—बुरे वचन तथा बुरे कर्म के ... साथ-साथ मनुष्य को शुद्ध ... जीविका-निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण और ... उपाय का वर्जन करके अपने सम्यक्-संकल्प को सुदृढ़ करना चाहिए।

सम्यक्-व्यायाम

(६) सम्यक्-व्यायाम (सम्मावायाम)—सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, ... वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका के अनुसार चलने पर भी यह संभव है कि ... दृढ़मूल कुसंस्कारों के कारण उचित मार्ग से स्खलित हो ... हमारे मन में नए-नए बुरे भावों की उत्पत्ति हो। अतः ... निरंतर प्रयत्न करना भी आवश्यक है कि (१) पुराने बुरे ... पूरी तरह नाश हो जाए और (२) नए बुरे भाव भी मन में न आवें। चूंकि ... विचारों से खाली नहीं रह सकता है इसलिए (३) मन को बराबर अच्छे-अच्छे ... पूर्ण रखना आवश्यक है और (४) इन शुभ विचारों को मन में धारण करने के ... चेष्टा करते रहना भी आवश्यक है। इन चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक् कहते हैं। सम्यक्-व्यायाम से इस बात का बोध होता है कि धर्म-मार्ग में बढ़े हुए व्यक्ति से भी अपने प्रयत्न को ढीला नहीं करना चाहिए। अन्यथा धर्म-स्खलन की सदा संभावना रहती है।

सम्यक्-स्मृति

(७) सम्यक्-स्मृति (सम्मासति)—इस मार्ग में चलने के लिए बराबर ... रहने की आवश्यकता है। जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त हो ... उन्हें बराबर स्मरण करते रहना चाहिए। जैसे शरीर को ... वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और चैतसिक या मानसिक ... को मानसिक अवस्था के रूप में ही चिंतन करते रहना आवश्यक है। इनमें से ... संबंध में यह नहीं समझना चाहिए कि 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है'। इस उपदेश के ... में यह कहा जा सकता है कि इसमें कोई नवीनता नहीं है। किसी वस्तु को उसके ... रूप में आंकना तो बिल्कुल स्वाभाविक है। शरीर को सभी शरीर ही समझते और ... को सभी चित्त ही समझते हैं। किंतु यदि हम विचार कर देखें तो हमें मालूम होगा कि ... भी विषय को उसके यथार्थ रूप में देखना आसान नहीं है। शरीर को शरीरमात्र ...

ुस्तर कार्य है, क्योंकि शरीर के संबंध में अनेक मिथ्या विचार हमारे मन में गड़
। फल यह हुआ है कि इन मिथ्या विचारों के अनुसार चलना हमारा स्वभाव-सा हो
। हम स्वभावतः शरीर, चित्त, वेदना तथा मानसिक अवस्था को नित्य और सुख-
समझते हैं। इसलिए इनके प्रति हमारी आसक्ति बढ़ती है और इनके नष्ट होने पर
ष्ट होता है। इस तरह हम बंधन में पड़ जाते हैं और फलस्वरूप हमें दुःख भोगना
है। किंतु यदि हम इन वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में ग्रहण करें, अर्थात् यदि हम
अनित्य और दुःख-जनक समझें तो उनमें हमारी आसक्ति नहीं हो सकती और उनके
ोने पर हमें कोई दुःख नहीं हो सकता। सम्यक्-स्मृति की यही आवश्यकता है।

दीघ-निकाय में सम्यक्-स्मृति के अभ्यास के लिए बुद्ध ने विस्तृत उपदेश दिया है।
के संबंध में उन्होंने बतलाया है कि शरीर को क्षिति, जल, अग्नि तथा वायु का
ुआ समझना चाहिए। यह बराबर स्मरण रखना चाहिए कि यह मांस, हड्डी, त्वचा,
, विष्ठा, पित्त, कफ, लहू, पीव आदि हेय वस्तुओं से भरा रहता है। हम श्मशान में
र देखें कि यह किस तरह सड़ता है, नष्ट होता है, कुत्तों तथा गिद्धों का खाद्य बनता है
अंत में किस तरह भूतों में ही मिल जाता है। इन बातों का सतत स्मरण करने से
का वास्तविक रूप समझा जा सकता है। कितना हेय, कितना नश्वर तथा कितना
ा है! ऐसा व्यक्ति अपने तथा दूसरों के शरीर के लिए कोई अनुराग नहीं रखता।
तरह अपनी वेदना, चित्त और अशुभ मनोवृत्तियों के प्रति भी कोई अनुराग नहीं
।उनसे पूर्णतः अनासक्त हो जाता है और तज्जनित दुःखों का भागी नहीं बनता।
में हम कह सकते हैं कि सम्यक्-स्मृति के कारण मनुष्य सभी विषयों से विरक्त हो
है और सांसारिक बन्धनों में नहीं पड़ता।

(८) सम्यक्-समाधि (सम्मासमाधि)—उपर्युक्त सात नियमों के अनुसार चलकर जो मनुष्य अपनी बुरी चित्त-वृत्तियों को दूर कर लेता है वह सम्यक्-समाधि में प्रविष्ट होने के योग्य हो जाता है और क्रमशः चार अवस्थाओं को पार कर निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है।[1] प्रथमतः वह शांत चित्त से आर्य-सत्यों का वितर्क तथा विचार कर सकता है। विरक्ति तथा शुद्ध विचार के कारण वह अपूर्व आनंद तथा शांति का व करता है। सम्यक्-समाधि या ध्यान की यह प्रथम अवस्था है।

ु-समाधि
ान
ु-समाधि
थम अवस्था

यह अवस्था प्राप्त हो जाने से सभी प्रकार के संदेह दूर हो जाते हैं; आर्य-सत्यों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है और तब वितर्क तथा विचार अनावश्यक हो जाते हैं। तब समाधि की दूसरी अवस्था शुरू होती है। इस अवस्था में प्रगाढ़ चिंतन के कारण शांति तथा चित्तस्थिरता का उदय होता इस अवस्था में आनंद तथा शांति का ज्ञान भी साथ-साथ रहता है।

ी अवस्था

ध्यान की तीसरी अवस्था में इस आनंद और शांति से मन को हटाकर एक उपेक्षा-भाव को लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस

ी अवस्था

[1] पोट्ठपादसुत्त और सामञ्ञफल सुत्त देखिए।

प्रयत्न से चित्त की साम्य अवस्था और उसके साथ-साथ दैहिक सुख का भाव भी रह
इन दोनों का बोध तो रहता है किंतु समाधि के आनंद के प्रति उदासीनता आ जाती है

ध्यान की चौथी अवस्था में चित्त की साम्य अवस्था, दैहिक सुख एवं ध्यान के
किसी का भी भान नहीं रहता। चित्तवृत्ति का निरोध हो जा

चौथी अवस्था

यह अवस्था पूर्ण-शांति, पूर्ण-विराग तथा पूर्ण-निरोध की है।
सुख और दुःख से रहित है। इस प्रकार दुःखों का सर्वथा
हो जाता है और अर्हत्व या निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्

अष्टांगिक-मार्ग अर्थात् बुद्ध के धर्मोपदेशों का यही सार है। शील, स
प्रज्ञा—ये इस मार्ग के तीन प्रधान अंग हैं। भारतीय दर्शन के
सदाचार और प्रज्ञा में अच्छेद्य संबंध है। यह तो सभी
मानते हैं कि बिना यथार्थ ज्ञान के सदाचार नहीं हो सकता है
भी स्मरण रखना आवश्यक है कि ज्ञान की पूर्णता के लिए भी
अत्यंत आवश्यक है। ध्यान भी आवश्यक है।

शील, समाधि, प्रज्ञा

बुद्ध अपने उपदेशों में बतलाते थे कि शील और प्रज्ञा एक दूसरे को पुष्ट करते
अष्टांगिक-मार्ग की पहली सीढ़ी सम्यक्-दृष्टि है। इन चार आर्य-सत्यों में केवल
ज्ञान ही रहता है। मिथ्या विचार और तज्जनित बुरी मनोवृत्तियाँ मन में रह ही
हैं। विचार, वचन तथा कर्म के पुराने संस्कार भी रह जाते हैं। परिणाम यह
है कि मन में एक अंतर्द्वंद्व खड़ा हो उठता है। एक ओर [illegible]
रहती हैं और दूसरी ओर आर्य-सत्यों का ज्ञान। इन मानसिक [illegible]
कल्याण के लिए आवश्यक हो जाता है। सम्यक्-संकल्प से [illegible]
नियम अष्टांगिक-मार्ग में बतलाए गए हैं उनके निरंतर अभ्यास से इस द्वंद्व का
सकता है। आर्य-सत्यों के अनवरत चिंतन से उनके अनुसार इच्छाओं तथा भावना
नियंत्रण से दृढ़-संकल्प तथा तृष्णारहित आचरण से एक शुद्ध अवस्था उत्पन्न होती
विचार, प्रेरणा तथा भावनाओं में शिष्टता आ जाती है और आर्य-सत्यों के ज्ञान के
में वे परिशुद्ध होती जाती हैं। सम्यक्-समाधि की अंतिम अवस्था सभी बाधा
दूर होने पर ही संभव हो सकती है। अखंड समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है
जीवन का रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अविद्या और तृष्णा का मूलोच्छेदन हो
है जिससे दुःख का मूल कारण ही नष्ट हो जाता है। निर्वाण-प्राप्ति के साथ ही पूर्ण
पूर्ण शील और पूर्ण शांति का उदय हो जाता है।

(६) बुद्ध के उपदेशों के अंतर्निहित दार्शनिक विचार

बुद्ध के उपदेशों में आत्मा और जगत्संबंधी जो कुछ विचार अंतर्निहित हैं उ
यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। इनमें से कुछ का विवेचन स्वयं बुद्ध ने किया
यहाँ हम उन दार्शनिक विचारों का उल्लेख करेंगे जिनपर उनके धर्मोपदेश अवलंबित
ऐसे चार विचार हैं—(१) प्रतीत्यसमुत्पाद, (२) कर्म, (३) क्षणिकवाद
(४) आत्मा का अनस्तित्व (अनात्मवाद)।

---

१ दीघ-निकाय [illegible]

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद

ो वस्तुओं कारण हैं

बाह्य तथा मानस जितनी भी घटनाएँ होती हैं सबों के लिए कुछ-न-कुछ कारण अवश्य रहता है। किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। यह नियम किसी चेतना शक्ति के द्वारा परिचालित नही होता। वरं यह स्वयं चालित होता है। सामग्रियों के प्रत्यय से अर्थात् एक साथ होने से ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे मन, चक्षु, ाय का रूप, आलोक आदि के संयोग से रूपज्ञान हो जाता है। अकस्मात् किसी का ्र्भाव नहीं होता। अविद्या से जरा-मरण तक द्वादश निदानों में इस नियम-शृंखला को पहले ही देख चुके हैं। इस नियम को संस्कृत में प्रतीत्यसमुत्पाद तथा पालि में पतिच्च ्प्पाद कहते हैं।[1] इसके अनुसार हम दो मतों से बच सकते हैं। पहला है शाश्वतवाद। श्वतवाद के अनुसार कुछ वस्तुएँ नित्य हैं जिनका न आदि है न अंत। इनका कोई

श्वतवाद और च्छेदवाद दोनो कांतिक हैं

कारण नहीं है। ये अन्य किसी वस्तु पर अवलंबित नहीं हैं। दूसरा है उच्छेदवाद। इस मत के अनुसार वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नही रहता है। बुद्ध इन दोनो ऐकांतिक मतों को छोड़ कर मध्यममार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का अनुसरण करते हैं।[2] उनका हना है कि वस्तुओं के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं। किंतु वे नित्य नही हैं। उनकी ्पत्ति अन्य वस्तुओं से होती है। किंतु साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि वस्तुओं का पूर्ण नाश नहीं होता है, बल्कि उनका कुछ कार्य या परिणाम अवश्य रह जाता है। अतः तो पूर्ण नित्यवाद है, न पूर्ण विनाशवाद ही। दोनो ही मत ऐकांतिक हैं। प्रतीत्य-मुत्पाद को बुद्ध इतना महत्त्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने इसी का नाम दिया 'धम्म' (धर्म)।

तीत्यसमुत्पाद ाध्यम मत है

उन्होंने कहा—"आदि और अंत का विचार निरर्थक है। मैं धम्म का उपदेश देना चाहता हूँ। 'ऐसा होने पर ऐसा होता है।' 'इसके आगमन से इसकी उत्पत्ति होती है।' 'इसके न रहने से यह नहीं होता।' जो पतिच्चसमुप्पाद को समझता है वह धम्म को समझता है और जो म्म को समझता है वह पतिच्चसमुप्पाद को भी समझता है।" इस धम्म की तुलना बुद्ध क सोपान से करते हैं। इस पर चढ़कर कोई भी मनुष्य बुद्ध की दृष्टि से संसार को देख

प्रतीत्यसमुत्पाद को नहीं समझने से दुःखों की उत्पत्ति होती है

सकता है। हमारे दुःखों का कारण यह है कि हम सांसारिक विषयों को बुद्ध की दृष्टि से नहीं देख सकते।[3] रिज डेविड्स (Rhys Davids) के कथनानुसार पश्चात् काल के बौद्ध धर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रति कुछ अनादर आ गया था। किंतु बुद्ध स्वयं इसे अत्यंत आवश्यक समझते थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस तरह इस नियम की सहायता से दुःख के कारण और उसके निरोध-संबंधी प्रश्नों का

१ विसुद्ध-मग्ग, सत्तहवाँ परिच्छेद, प्रतीत्य=(किसी वस्तु के उपस्थित होने पर) समुत्पाद=किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति।

२ संयुक्त-निकाय, २२।

३ महानिदान-सुत्त।

समाधान किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के और क्या-क्या प्रभाव बौद्ध-दर्शन पर प
उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

(ख) कर्म

प्रतीत्यसमुत्पाद और कर्म

प्रतीत्यसमुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है। क्योंकि ... अनुसार
का वर्त्तमान जीवन उसकी एक पूर्ववर्त्ती अवस्था का परिणाम समझा जा सकता है।
वाद का भी यही सिद्धांत है। वर्त्तमान जीवन पूर्ववर्त्ती ...
का ही फल है। साथ-साथ वर्त्तमान जीवन का ...
भी वही संबंध है जो पूर्ववर्त्ती जीवन का वर्त्तमान जीवन से है।
मान जीवन के कारण ही भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है।
के अनुसार भी वर्त्तमान जीवन के कर्मों का फल भविष्य में मिलता है। दुःख के ...
वर्णन करते हुए हम कर्म-फल के संबंध में पूरा-विचार कर चुके हैं। कर्मवाद
समुत्पाद का ही एक विशेष रूप है।

(ग) क्षणिकवाद

संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं

प्रतीत्यसमुत्पाद से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है।
बराबर कहा करते थे कि सभी वस्तुएँ परिवर्त्तनशील तथा नाशवान् हैं। किसी
की उत्पत्ति किसी कारण से ही होती है। अतः कारण के नष्ट ह
उस वस्तु का नाश हो जाता है। जिसका आदि है उसका अंत
बुद्ध कहते हैं—"जितनी वस्तुएँ हैं सबों की उत्पत्ति कारण
हुई है। ये सभी वस्तुएँ सब तरह से अनित्य हैं"।[१] "जो नित
स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जो महान् मालूम
है उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण

अनित्यवाद का क्षणिकवाद में रूपांतर

जीवन की तथा सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता के संबंध में कवियों तथा दा
ने अनेक वर्णन किये हैं। बुद्ध ने इस विचार को अनित्यवाद के
प्रतिपादित किया है। उनके अनुयायियों ने अनित्यवाद को क्षणि
का रूप दिया है। क्षणिकवाद का अर्थ केवल यह नहीं है कि को
नित्य या शाश्वत नहीं है, किन्तु इसके अतिरिक्त इसका अर्थ
है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक भी नहीं रहता, बल्कि एक ही क्षण
रहता है। पीछे चलकर बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद के समर्थन में अनेक युक्ति
दी हैं। इनमें एक उल्लेख यहाँ किया जाता है। किसी वस्तु की सत्ता का ल
इसका अर्थ-क्रिया-कारित्व अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। अर्थ
कारित्वलक्षणं सत्। शश-शृंग की तरह जो बिलकुल असत् है उससे कोई का
निकल सकता। यदि सत्ता का यही लक्षण हो तो इससे सिद्ध किया जा सकता
सत्ता क्षणिक है। एक बीज का दृष्टांत लीजिए। अगर यह बीज क्षणिक
अर्थात् एक से अधिक क्षणों तक स्थायी रहता है तो इस प्रत्येक क्षण में कार्योत्पा

क्ति अवश्य रहनी चाहिए। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी वस्तु की सत्ता रहे
{ उसमें कार्योत्पादन की शक्ति न हो। अतः सत्ता के लिए क्रियाकारित्व आवश्यक
अब प्रश्न यह उठता है कि बीज यदि कई क्षणों तक अपरिवर्तित और एक ही रहता
। प्रत्येक क्षण में उससे एक ही कार्य होना चाहिए। किंतु यह सबको विदित है कि
ो वस्तु से प्रत्येक क्षण में एक ही परिणाम नहीं निकलता। बीज जब बोरे में बंद
ा है तो उससे पौधे की उत्पत्ति नही होती। किंतु वही जब जमीन में बोया जाता है
उससे पौधा निकल आता है। इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बीज
तुः प्रत्येक क्षण एक ही कार्य उत्पन्न नहीं करता है, तथापि उत्पन्न करने की शक्ति सदा
में रहती है और जब मिट्टी, जल आदि सहकारी कारण उपस्थित होते हैं तभी वह शक्ति
ं को उत्पन्न करती है। अतः बीज सदैव एक है, यह कहा जा सकता है। किंतु
युक्ति बहुत ही कमजोर है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि बीज के पूर्वरूप से
ात् जब उसमें मिट्टी, जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं होती है।
के पररूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी, जल आदि से कुछ परिवर्त्तन आता है, तभी उसमें
ं की उत्पत्ति होती है। अतः बीज दोनों अवस्थाओं में एक-सा नहीं रहता, वरं वह
रवर्तित हो जाता है। परिवर्त्तनशीलता केवल बीज के लिए लागू नहीं है। संसार
सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, क्योंकि किसी भी वस्तु से प्रतिक्षण एक ही प्रकार
परिणाम की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक
तु की सत्ता क्षण ही भर रहती है। इसीको क्षणिकवाद कहते हैं।

(घ) अनात्मवाद

संसार परिवर्त्तनशील है। मनुष्येतर जीव या अन्य कोई भी वस्तु परिवर्त्तन से
हित नही है। लोगों में एक धारणा है कि मनुष्य के अंतर्गत आत्मा नाम की एक चिर-
ायी वस्तु है। शरीर के परिवर्त्तन होते रहने पर भी आत्मा सब दिन कायम रहता है।
उसकी सत्ता जन्म के पूर्व तथा मृत्यु के बाद भी कायम रहती है। एक
शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर में भी इसका प्रवेश होता है। किंतु
-प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण बुद्ध परिवर्त्तनशील दृष्ट धर्मों से अतिरिक्त
सी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानते हैं। अतः वे आत्मा को भी नहीं मानते हैं।
सीका नाम अनात्मवाद (या अनत्तवाद) है।

य या आत्मा
हीं है

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि बुद्ध आत्मा की नित्यता को नहीं मानते
तो फिर पुनर्जन्म में उनका विश्वास कैसे हो सकता था? वह यह भी कैसे कह सकते थे
क बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे में एक ही व्यक्ति कायम रहता है? स्थिर आत्मा का
स्तित्व अस्वीकार करते हुए भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन, विभिन्न क्रमबद्ध और
व्यवस्थित अवस्थाओं का एक प्रवाह या संतान है। विभिन्न अवस्थाओं की संतति को
जीवन कहते हैं। इस संतति के अंदर किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्त्ती अवस्था
होती है। इसी तरह वर्त्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन
ी विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण-कार्य का संबंध रहता है। इसलिए संपूर्ण

जीवन एकमय मालूम पड़ता है। जीवन की एकसूत्रता को रात भर जलते दीपक के
समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर
होती है। क्षण-क्षण में दीपक की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। अतः प्रतिक्षण ज्यो
भिन्न-भिन्न होती है। लेकिन ज्योतियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी वे बिलकुल अवि
मालूम पड़ती हैं। पुनर्जन्म-संबंधी कठिनाई को दूर करने के लिए भी हम इस
दृष्टांत को सामने रख सकते हैं। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित कि
सकता है। किंतु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जा सकतीं। दोनों का अस्तित्व
से पृथक् है। उनमें केवल कारण-कार्य का संबंध है। इसी तरह वर्तमान जीव
अंतिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति हो सकती है। कि
दो पृथक् जीवन होंगे। इस तरह पुनर्जन्म सर्वथा संभव है। हाँ, पुनर्जन्म का अर्थ
समझना चाहिए कि आत्मा नित्य है और एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका प्रवे
सकता है। बौद्ध-दर्शन विलियम जेम्स (Wiliam James) के मत की तरह, वि

आत्मा विज्ञान का प्रवाह है

प्रवाह को मानता है। वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्व
मानसिक अवस्था है। इसलिए पूर्ववर्ती अवस्था का प्रभाव वर्त
अवस्था पर अवश्य पड़ता है। इस तरह बिना आत्मा में वि
किए ही हम स्मृति का उपपादन कर सकते हैं। यह अनात्मवाद (अनत्तवाद) बु
उपदेशों को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। बुद्ध बराबर अपने शिष्यों से यह
करते थे कि वे आत्मा के संबंध में मिथ्या विचारों का परित्याग करें। जो आत्म
यथार्थ रूप नहीं समझते हैं उन्हीं को इसके संबंध में भ्रांत वि

आत्मा को नित्य समझने के कारण आसक्ति बढ़ती और दुःख उत्पन्न होता है

रहता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा को सत्य मानकर उससे आसक्
हैं। उनकी आकांक्षा रहती है कि मोक्ष प्राप्त कर आत्मा को
बनायें। बुद्ध कहते हैं कि किसी अदृष्ट, अश्रुत तथा कल्पित
रमणी से प्रेम रखना जैसा हास्यास्पद है वैसा ही अदृष्ट
अप्रमाणित आत्मा से प्रेम रखना भी हास्यास्पद है। आत्मा के
अनुराग रखना मानो एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी
करना है जिस प्रासाद को किसी ने कभी देखा तक नहीं है।[1]

काय, चित्त और विज्ञान के संघात को मनुष्य कहते हैं

मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है। जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के
को रथ कहते हैं; उसी तरह बाह्य रूपयुक्त शरीर, मानसिक अवस्थाएँ और चैतन्य
(या विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं।
इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व
और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जा
इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।
दृष्टि से मनुष्य, पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का एक संग्रह है। इन्हें
कहते हैं। पहला स्कंध है रूप। मनुष्य के शरीर के जो आकार, रंग आदि हैं

1 पोट्ठपाद-सुत्त

य दृष्टि से सब रूप के अंतर्गत हैं। दूसरा स्कंध वेदनाओं का है। सुख, दुःख तथा विषाद के बोध इसके अंतर्गत हैं। तीसरा स्कंध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथे में संस्कार आते हैं। पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही संस्कार कहते हैं। पाँचवाँ है विज्ञान (Consciousness) या चेतना।

ुष्य पाँच स्कंधों ं संयोग है—— सि पंचस्कंध हुते हैं

अपने उपदेशों का सार बताते हुए भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था—"मैं बराबर दो ही मुख्य उपदेश देता आया हूँ—दुःख और दुःख निरोध।" इसीके आधार पर रिज डेभिड्स (Rhys Davids) का कहना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद[1] तथा अष्टांगिक-मार्ग में ही प्राचीन बौद्ध-धर्म का सार निहित है। यथार्थतः बुद्ध के उपदेशों का यही सारांश है।

ुद्ध के उपदेशों ा सार

(३) बौद्ध-दर्शन के संप्रदाय

दर्शन के इतिहास से पता चलता है कि जहाँ युक्तियों के द्वारा दर्शन की व्यर्थता ाणित करने की कोशिश की गई है वहीं एक दार्शनिक मत की सृष्टि हो गई है। हम ऊपर देख चुके हैं कि शुष्क दार्शनिक विवादों के प्रति बुद्ध का कोई आग्रह नहीं था। किंतु उन्होंने अपने अनुयायियों से यह भी नहीं कहा कि हम बिना विचारे या बिना समझे किसी कर्त्तव्य का अनुसरण करें। वे तो पूर्ण युक्तिवादी थे। वे अंधविश्वास को प्रश्रय नहीं देना चाहते थे। वे शांति के मूल स्रोतों का अन्वेषण करना चाहते थे। उन्होंने जिस नीति का अनुसरण किया, या जिसकी शिक्षा लोगों को दी, उसका र्थन वे अनुभव और युक्तियों के द्वारा करते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात ीं कि यद्यपि वे स्वयं अनेक दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा करने से विरत रहते थे तथापि उनके विचारों तथा उपदेशों में एक नया दार्शनिक मत का बीज वर्त्तमान था। स्वयं सब दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा नहीं करने के कारण उनका मत सर्वथा स्पष्ट नहीं है। उनके दार्शनिक मत को एक दृष्टि से तो ऐतिहासिकवाद (Positivism) कहा जा सकता है क्योंकि उनका उपदेश यह था कि हमें इस लोक में तथा इस जीवन में ही उन्नति की चेता करनी चाहिए। अन्य दृष्टि से इसे प्रतीतिवाद (Phenomenalism) कहते हैं। क्योंकि बुद्ध के उपदेशानुसार हमें केवल उन्हीं विषयों का निश्चित ज्ञान मिलता है जो अनुभवगोचर तथा दृष्टफल हैं। इसे अनुभववाद (Empiricism) भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके अनुसार अनुभव ही प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के दार्शनिक विचारों में विभिन्न प्रकार की धाराएँ थीं।

ार्निक प्रश्नों से ु की उदासीता से कई प्रकार दार्शनिक मतों उत्पत्ति

द्ध के उपदेशों ऐहिकवाद, तीतिवाद और नुभववाद

बौद्ध-धर्म का जब भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में प्रचार हुआ तो सभी जगह इसकी कठोर आलोचनाएँ हुईं। इसलिए बौद्ध प्रचारकों ने अपने धर्म की रक्षा के लिए तथा

[1] प्रतीत्यसमुत्पाद से जगत् के स्वरूप तथा दुःख के कारण की भी उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद से इन दोनों ही को समझना चाहिए।

दूसरों को अपने धर्म के प्रति आकृष्ट करने के लिए विभिन्न दिशाओं में बुद्ध के उ
परिवर्द्धन और परिपोषण करना आवश्यक समझा। हम देख चुके हैं कि बुद्ध
प्रश्नों का समाधान नहीं करना चाहते थे और इस तरह के प्रश्
जाने पर वे मौन हो जाते थे। अनुयायियों ने उनके इस मौन
विभिन्न प्रकार से व्याख्या की। कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने
कि बुद्धदेव अनुभववादी (Empiricist) थे अर्थात् अनुभवातीत
का ज्ञान असंभव मानते थे। इस विचार के अनुसार बुद्ध
वादी कहे जा सकते हैं। अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने, विशेषतः
यानियों ने, बुद्ध के मौन का दूसरा ही अर्थ समझा। इनके अनुसार बुद्ध न तो
पारमार्थिक सत्ता का बहिष्कार ही करते थे और न उसको अज्ञेय ही मानते थे।
मौन का यही तात्पर्य था कि वे उस सत्ता को तथा तत्संबंधी ज्ञान को अवर्णनीय मान
इस मत की पुष्टि बुद्ध के जीवन तथा उपदेशों से भी की जा सकती है। साधारण
वादियों का मत है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।
ज्ञान को ये नहीं मानते हैं। किंतु बुद्ध ने यह बतलाया है कि
की अवस्था में प्रज्ञा का उदय होता है, जो इंद्रियजनित नहीं है।
प्रज्ञा को बुद्ध इतनी प्रधानता देते थे कि उससे यह अनुमान
सकता है कि बुद्ध प्रज्ञा को ही चरम ज्ञान मानते थे। बुद्ध
करते थे कि मुझे ऐसे-ऐसे अलौकिक विषयों की अनुभूति होती है जो केवल प्रज्ञावान
ही समझ सकते हैं तथा जिनका ज्ञान तार्किक युक्ति के द्वारा नहीं हो सकता है। इसका
यह होता है कि यह अनुभव या तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता और न साधारण
विचारों एवं शब्दों के द्वारा उसका वर्णन ही हो सकता है। इस तरह कुछ बौद्ध दार्
बुद्ध के मौन के आधार पर रहस्यवाद तथा अतींद्रियवाद (Transcendentalism)
उपपादन करते हैं। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि दार्शनिक तर्क-वितर्कों से
स्वयं तो अलग रहते थे लेकिन उनके परिनिर्वाण के बाद बौद्ध-धर्म में दार्शनिक
भेदों की कमी नहीं रही।

कुछ दार्शनिक बुद्ध को अनुभववादी एवं संशयवादी मानते थे

कुछ उन्हें रहस्यवादी एवं अतींद्रियवादी मानते थे

फल यह हुआ कि क्रमशः बौद्ध-धर्म की तीन से अधिक शाखाएँ कायम हो गईं।
बुद्ध अपने शिष्यों को दार्शनिक जाल में नहीं फँसने की बराबर चेतावनी देते थे, कि
उनके बाद जो शाखाएँ कायम हुईं उनमें अनेक शाखाएँ गंभीर और जटिल दार्
प्रश्नों के विचारों में पड़ गईं। इनमें चार प्रधान-प्रधान शाखाओं का उल्लेख भा
दर्शनों में किया जाता है। इन चार शाखाओं के अंतर्गत जो
दार्शनिक हैं उनमें कुछ (१) शून्यवादी या माध्यमिक हैं, कुछ
विज्ञानवादी या योगाचार हैं, कुछ (३) बाह्यानुमेयवादी या
त्रिक हैं तथा कुछ (४) बाह्यप्रत्यक्षवादी या वैभाषिक हैं। शून्
तथा विज्ञानवाद महायान संप्रदाय के अंतर्गत हैं और बाह्यानुमेयवाद तथा बाह्य
वाद हीनयान के अंतर्गत हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि

बौद्ध दर्शन की चार प्रमुख शाखाएँ

ाओं के इस ार-भेद के मूल प्रश्न हैं— किसी प्रकार सत्ता का ात्व है ? ः तीन उत्तर

तथा हीनयान के अंतर्गत और भी अनेक शाखाएँ हैं।[1] इस तरह बौद्ध दर्शन का चार शाखाओं में जो वर्गीकरण हुआ है इसके पीछे दो प्रश्न वर्तमान हैं, एक अस्तित्व-संबंधी और दूसरा ज्ञान संबंधी। अस्तित्व-संबंधी प्रश्न यह है कि मानसिक या वाह्य कोई वस्तु है या नहीं ? इस प्रश्न के लिए तीन उत्तर दिए गए हैं। (१) माध्यमिकों के अनुसार[2] मानसिक या वाह्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। सभी शून्य है। अतः ये शून्यवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। (२) योगाचारों के अनुसार मानसिक अवस्थाएँ या ान ही एकमात्र सत्य है। वाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः योगाचार ानवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। (३) कुछ बौद्ध यह मानते हैं कि मानसिक तथा वाह्य सभी वस्तुएँ सत्य हैं। अतः ये वस्तुवादी हैं। ये सर्वास्तित्ववादी या सर्वास्तिवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] ये सभी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, इसलिए इन्हें सर्वास्तित्ववादी का नाम दिया गया है।

ाह्य वस्तु का किस प्रकार ः होता है ? ः दो उत्तर

ज्ञान-संबंधी प्रश्न इस प्रकार है। वाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए क्या प्रमाण है ? सर्वास्तित्ववादी अर्थात् जो वस्तुओं की सत्ता को मानते हैं। इस प्रश्न के दो उत्तर देते हैं। कुछ, जो सौत्रांतिक ाम से प्रसिद्ध है, यह मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता। उनका ः अनुमान के द्वारा ही होता है। दूसरे, जो वैभाषिक नाम से विख्यात हैं, यह कहते के वाह्य-वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्राप्त होता है।

इस तरह बौद्ध-धर्म की चार प्रमुख शाखाएँ हो गई हैं। इन शाखाओं की पृथक्-क् विचार-धाराएँ हैं। पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टि से ये विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। में जिन दार्शनिक सिद्धांतों की चर्चा हुई है उनका समर्थन आधुनिक दार्शनिक भी ते हैं। हम इन चार मतों का यहाँ पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) माध्यमिक-शून्यवाद

न्यवाद के वर्त्तक नागार्जुन

शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन थे। दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। बुद्ध-चरित के प्रणेता अश्वघोष भी शून्यवाद के समर्थक थे। नागार्जुन की मूल माध्यमिक कारिका ही इस मत की आधारशिला है। आर्यदेव की चतुःशतिका भी एक और प्रधान ग्रंथ है।

Sogen, Systems पृ० ३—सोगेन के अनुसार हीनयान की २१ शाखाएँ तथा महायान की ८ शाखाएँ हैं। इनके अतिरिक्त और भी अप्रख्यात शाखाएँ हैं।

ऐसी व्याख्या बौद्धेतर भारतीय आलोचकों ने की है। महायानियों ने इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है। इस संबंध में आगे चर्चा की जाएगी।

सर्वास्तिवादी से प्रधानतः वैभाषिक ही को समझा जाता है।

ने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् वस्तुओं की परनिर्भरता की सहायता ली गई है।

ता और त्यसमुत्पाद

अतः नागार्जुन कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है।[1] वस्तुओं का कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो। अर्थात् जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं[2]। इस विचार से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के परावलंबन को, उनकी निरंतर परिवर्त्तनशीलता उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहते हैं[3]।

इस मत को मध्यम-मार्ग कहते है क्योंकि यह ऐकांतिक मतों से भिन्न है। यह न तो तुओं को सर्वथा तथा निरपेक्ष आत्मनिर्भर मानता है और न वस्तुओं को पूरा असत्य ही

यवाद को यम-मार्ग भी ते हैं

समझता है। वरं यह वस्तुओं के परनिर्भर अस्तित्व को मानता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि इसी कारण से बुद्ध भी प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यम-मार्ग मानते थे। नागार्जुन भी कहते हैं कि शून्यवाद को माध्यमिक इसलिए कहा जाता है कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद से ही उत्पन्न है। परनिर्भर होने के कारण वस्तुओं का स्वरूप (स्वभाव) अर्थात् ना रूप अवर्णनीय होता है। यह असंदिग्ध रूप से नही कहा जा सकता कि यह य है या असत्य है।

इसे हम सापेक्षवाद भी कह सकते है। वस्तुओं का प्रत्येक धर्म अन्य वस्तुओं पर

यवाद एक कार का पेक्षवाद है।

निर्भर होता है। अतः उनका अस्तित्व ही मानो उन वस्तुओं से अपेक्षित रहता है। इस प्रकार शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कह सकते हैं। सापेक्षवाद के अनुसार किसी भी वस्तु या विषय का अपना कोई निश्चित, निरपेक्ष तथा स्वतंत्र स्वभाव नहीं है। अतः तु संबंधी कोई भी विचार निरपेक्ष ढंग से सत्य नहीं माना जा सकता।

वस्तु-जगत् के विचार के साथ-साथ माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता के संबंध में भी चार करते हैं। उनका कथन है कि बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद या अनित्यवाद केवल दृश्य

ाध्यमिक पार-र्थिक सत्ता को ानते हैं

जगत् के लिए लागू है जिसे हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं। किंतु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जिन संस्कारों से इंद्रिय ज्ञान होता है, निर्वाण में उनका जब निरोध हो जाता है, तब किस प्रकार का अनुभव होता है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उस समय जो अनुभूति होती है वह सापेक्ष नहीं होती। अतः माध्यमिक कहते है कि वह अनुभूति ही पारमार्थिक है जो दृश्य वस्तुओं से परे है, नित्य है, निरपेक्ष है तथा जो साधारण व्यावहारिक धर्मों से

ागार्जुन के अनु-ार दो प्रकार के

रहित है। नागार्जुन कहते हैं कि "दो प्रकार के सत्य हैं जिनपर बुद्ध के धर्म-संबंधी उपदेश निर्भर हैं। एक संवृति-सत्य (empirical)

---

1 माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका १८

२ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका १९

३ Sogen, Systems पृ० १४, पृ० १९४-९८, Suzuki, Outlines of Buddhism.

सत्य—(१) संवृत्ति-सत्य, (२) पारमार्थिक-सत्य

है। यह साधारण मनुष्यों के लिए है। दूसरा पारमार्थिक सत्य है। जो व्यक्ति इन दोनो सत्यों के भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शिक्षा के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते हैं।"[1]

पारमार्थिक-सत्य की प्राप्ति निर्वाण में ही होती है

संवृति-सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधन मात्र है। निर्वाण की अवस्था साधारण व्यावहारिक अवस्था से भिन्न है। निर्वाण प्राप्त करने पर मनुष्य साधारण व्यावहारिक नाम-रूप से ऊपर उठ जाते हैं। अतः हमारे लिए यह कल्पनातीत है। हम केवल इसका नकारात्मक वर्णन ही कर सकते हैं। नागार्जुन ने भी इसके नकारात्मक वर्णन किए हैं। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है (साधारण उपायों से अप्राप्य), जिसकी प्राप्ति नई नहीं है (अर्थात् जो सदैव प्राप्त है), जिसका विनाश नहीं है, जो

यह अवर्णनीय है

नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है, उसका नाम निर्वाण है[2]। निर्वाण के तथाभूत स्वरूप को जो जानते हैं उनका नाम तथागत है। जो बातें निर्वाण के लिए लागू हैं वे तथागत अर्थात् निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति के लिए भी लागू होती हैं। तथागत के स्वरूप का भी वर्णन नहीं किया जा सकता है।

बुद्धदेव को पूछा गया था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद तथागत की क्या गति होती है? इसका उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था, वे मौन रह गए थे।

इसलिए बुद्ध ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे

इस प्रकार के और प्रश्नों के उत्तर बुद्ध क्यों नहीं देते थे इसका कारण भी स्पष्ट है। उन दार्शनिक समस्याओं का समाधान बुद्ध ने इसलिए नहीं किया कि साधारण अनुभव के शब्दों से उनका समाधान संभव ही नहीं था। पहले कहा जा चुका है कि दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन या विवेचन लौकिक ढंग से नहीं हो सकता। इसीलिए उन्हें अवर्णनीय कहा है। बुद्ध प्रायः कहा करते थे कि मैंने गंभीर सत्य का अनुभव किया जो "दुर्दर्श, दुरनुबोध, अतर्कावचर" है।[3] ऐसा अनुभव तर्क के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्ध की इस उक्ति से माध्यमिकों के पारमार्थिक सत्य संबंधी सिद्धांत का समर्थन होता है।

माध्यमिक-मत और शांकर वेदांत

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि माध्यमिक दर्शन तथा शंकर के अद्वैत-वेदांत में अनेक समानताएँ हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य को मानते हैं। वे वस्तु-जगत् को असत्य मानते हैं। वे पारमार्थिक सत्य का नकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को पारमार्थिक सत्य की अनुभूति समझते हैं। ये विचार शांकर वेदांत के विचारों से बहुत मिलते-जुलते

---

१ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका, ८-९

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृति-सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः ॥
येऽनयोर्न विजानन्ति भेदं सत्य-द्वयस्य च ।
ते तत्त्वं न जानन्ति गम्भीरं बुद्धशासनम् ॥

२ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २५, कारिका ३

३ महावग्गसुत्त

(२) योगाचार—विज्ञानवाद

विज्ञानवादी माध्यमिकों के इस सिद्धांत को मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। किंतु वे यह नहीं मानते कि चित्त का भी अस्तित्व नहीं है। चित्त या मन यदि न रहे तो किसी विचार का प्रतिपादन भी संभव नहीं हो सकता। जो मत मन के अस्तित्व को नहीं मानता वह तो स्वयं असिद्ध हो जाता है। अतः मत या विचार की संभाव्यता के लिए चित्त का मानना आवश्यक है।

विज्ञान का अस्तित्व मानना नितांत आवश्यक है

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एकमात्र सत्ता है। विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। हमारे शरीर तथा अन्यान्य पदार्थ जो मन के वहिर्गत मालूम पड़ते हैं, वे सभी हमारे मन के अंतर्गत हैं। जिस तरह स्वप्न या मति-भ्रम की अवस्था में हम वस्तुओं को वाह्य समझते हैं यद्यपि वे मन के अंतर्गत ही रहती हैं, उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ वाह्य प्रतीत होते हैं वे विज्ञान मात्र हैं। चूँकि किसी वस्तु में तथा तत्संबंधी ज्ञान में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है इसलिए वाह्य वस्तु का अस्तित्व बिलकुल असिद्ध है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग में तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनो का पृथक् अस्तित्व नहीं है। यथार्थतः दोनो एक हैं। उन्हें दो समझना भ्रम है। दृष्टि-विकार के कारण कोई व्यक्ति चंद्रमा को दो देख सकता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि चंद्रमा दो हैं। किसी वस्तु का ज्ञान, ज्ञान के विना नहीं हो सकता। अतः यह किसी तरह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व भी है।

वाह्य पदार्थ चित्त के विज्ञान मात्र हैं

योगाचारों का कथन है कि वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानने से अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि कोई वाह्य वस्तु है तो वह या तो एक अणुमात्र है या अनेक अणुओं की बनी हुई है। किंतु अणु तो इतना सूक्ष्म होता है कि उसका प्रत्यक्ष संभव ही नहीं हो सकता। एक से अधिक अणुओं से बनी किसी पूरी वस्तु का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। मान लीजिए, हम एक घट को देखना चाहते हैं। संपूर्ण घट को एक साथ देखना संभव नहीं है। हम घट को जिस तरफ से देख रहे हैं, घट का वही अंश हमें दृष्टिगोचर होता है। उसका दूसरा भाग दिखाई नहीं पड़ता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि हम घट को एक साथ पूरा नहीं भी देख सकते हैं तो कम-से-कम उसके एक-एक भाग को देखकर हम उसे पूर्णतया जान सकते हैं। किन्तु एक-एक भाग को देखना भी संभव नहीं है। क्योंकि यदि कोई भाग अणुमात्र है तब तो अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। और यदि वह अनेक अणुओं के संयोग से बना हुआ है तो फिर वही कठिनाई उपस्थित हो जाती है जो पूरे घट को देखने में होती है। अतः मन के बाहर यदि किसी वस्तु का अस्तित्व माना भी जाए तो उसका ज्ञान असंभव है। किंतु यदि कोई वस्तु तत्संबंधी मानसिक ज्ञान से भिन्न नहीं है तो उपर्युक्त आक्षेप बिलकुल निराधार हो जाते हैं।

वाह्य वस्तुओं को मानने से कठिनाइयाँ

दूसरी कठिनाई यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती। किंतु यह भी कैसे संभव हो सकता है? वस्तु तो क्षणिक है। उत्पत्ति के साथ ही उसका नाश हो जाता है। कोई वस्तु और उसका ज्ञान

सत्य–(१)संवृत्ति-सत्य, (२) पार-मार्थिक-सत्य

है। यह साधारण मनुष्यों के लिए है। दूसरा पारमार्थिक स
जो व्यक्ति इन दोनो सत्यों के भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शि
के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते हैं।"[1]

संवृति-सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधन मात्र है। नि

पारमार्थिक-सत्य की प्राप्ति निर्वाण में ही होती है

की अवस्था साधारण व्यावहारिक अवस्था से भिन्न है। प्राप्त करने पर मनुष्य साधारण व्यावहारिक नाम-रूप से ऊप जाते हैं। अतः हमारे लिए वह कल्पनातीत है। हम केवल नकारात्मक वर्णन ही कर सकते हैं। नागार्जुन ने भी इसके व रात्मक वर्णन किए हैं। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है (साधारण उपायों से अविदि जिसकी प्राप्ति नई नहीं है (अर्थात् जो सदैव प्राप्त है), जिसका विनाश नहीं है, अ

यह अवर्णनीय है

भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है, उसका नाम है[2]। निर्वाण के तथाभूत स्वरूप को जो जानते हैं उनका नाम हैं। जो बातें निर्वाण के लिए लागू हैं वे तथागत अर्थात् निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति के लि लागू होती हैं। तथागत के स्वरूप का भी वर्णन नहीं किया जा सकता है।

बुद्धदेव को पूछा गया था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद तथागत की क्या गति हो इसका उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था, [illegible]

इस प्रकार के और प्रश्नों के उत्त [illegible]
स्पष्ट है। उन दार्शनिक समस्याओं का समाधान बुद्ध ने इसलिए नहीं कि

इसलिए बुद्ध ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे

अनुभव के शब्दों से उनका समाधान संभव ही नहीं था। कहा जा चुका है कि दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन या विवेचन लौकिक ढंग से नहीं हो सकता। इसीलिए उन्हें अवर्णनीय मा है। बुद्ध प्रायः कहा करते थे कि मैंने गंभीर सत्य का अनुभव कि जो "दुर्दर्श, दुरनुवोध, अतर्कावचर" है।[3] ऐसा अनुभव तर्क के द्वारा नहीं हो सकत की इस उक्ति से माध्यमिकों के पारमार्थिक सत्य संबंधी सिद्धांत का समर्थन होता है

यहां यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि माध्यमिक दर्शन तथा शं

माध्यमिक-मत और शांकर वेदांत

के अद्वैत-वेदांत में अनेक समानताएँ हैं। माध्यमिक दो प्रकार को मानते हैं। वे वस्तु-जगत् को असत्य मानते हैं। वे पार सत्य का नकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को पारमार्थि की अनुभूति समझते हैं। ये विचार शांकर वेदांत के विचारों से बहुत मिलते-जु

---

१ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका, ८-६
"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृति-सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः॥
येऽनयोर्न विजानन्ति भेदं परम-तात्त्विकम्।
ते कदाऽपि न जानन्ति गम्भीरं बुद्धशासनम्॥

२ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २५, कारिका ३

३ ब्रह्मजालसुत्त

(२) योगाचार—विज्ञानवाद

विज्ञानवादी माध्यमिकों के इस सिद्धांत को मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। किंतु वे यह नहीं मानते कि चित्त का भी अस्तित्व नहीं है। चित्त या मन यदि न रहे तो किसी विचार का प्रतिपादन भी संभव नहीं हो सकता। जो मत मन के अस्तित्व को नहीं मानता वह तो स्वयं असिद्ध हो जाता है। अतः मत या विचार की संभाव्यता के लिए चित्त का मानना आवश्यक है।

विज्ञान का अस्तित्व मानना नितांत आवश्यक है

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एकमात्र सत्ता है। विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। हमारे शरीर तथा अन्यान्य पदार्थ जो मन के बहिर्गत मालूम पड़ते हैं, वे सभी हमारे मन के अंतर्गत हैं। जिस तरह स्वप्न या मति-भ्रम की अवस्था में हम वस्तुओं को वाह्य समझते हैं यद्यपि वे मन के अंतर्गत ही रहती है, उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ वाह्य प्रतीत होते हैं वे विज्ञान मात्र हैं। चूँकि किसी वस्तु में तथा तत्संबंधी ज्ञान में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है इसलिए वाह्य वस्तु का अस्तित्व बिलकुल असिद्ध है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग में तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। यथार्थतः दोनों एक हैं। उन्हें दो समझना भ्रम है। दृष्टि-विकार के कारण कोई व्यक्ति चंद्रमा को दो देख सकता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि चंद्रमा दो हैं। किसी वस्तु का ज्ञान, ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः यह किसी तरह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व भी है।

वाह्य पदार्थ चित्त के विज्ञान मात्र हैं

योगाचारों का कथन है कि वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानने से अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि कोई वाह्य वस्तु है तो वह या तो एक अणुमात्र है या अनेक अणुओं की बनी हुई है। किंतु अणु तो इतना सूक्ष्म होता है कि उसका प्रत्यक्ष संभव ही नहीं हो सकता। एक से अधिक अणुओं से बनी किसी पूरी वस्तु का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। मान लीजिए, हम एक घट को देखना चाहते हैं। संपूर्ण घट को एक साथ देखना संभव नहीं है। हम घट को जिस तरफ से देख रहे हैं, घट का वही अंश हमें दृष्टिगोचर होता है। उसका दूसरा भाग दिखाई नहीं पड़ता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि हम घट को एक साथ पूरा नहीं भी देख सकते हैं तो कम-से-कम उसके एक-एक भाग को देखकर हम उसे पूर्णतया जान सकते हैं। किन्तु एक-एक भाग को देखना भी संभव नहीं है। क्योंकि यदि कोई भाग अणुमात्र है तब तो अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। और यदि वह अनेक अणुओं के संयोग से बना हुआ है तो फिर वही कठिनाई उपस्थित हो जाती है जो पूरे घट को देखने में होती है। अतः मन के बाहर यदि किसी वस्तु का अस्तित्व माना भी जाए तो उसका ज्ञान असंभव है। किंतु यदि कोई वस्तु तत्संबंधी मानसिक ज्ञान से भिन्न नहीं है तो उपर्युक्त आक्षेप बिलकुल निराधार हो जाते हैं।

वाह्य वस्तुओं को मानने से कठिनाइयाँ

दूसरी कठिनाई यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती। किंतु यह भी कैसे संभव हो सकता है? वस्तु तो क्षणिक है। उत्पत्ति के साथ ही उसका नाश हो जाता है। कोई वस्तु और उसका ज्ञान

एक ही क्षण में हो, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाह्यवस्तुवादी ...
कारण मानते हैं। किंतु कारण तो कार्य के पहले ही होता है। ...
हो सकते। हम यह नहीं कह सकते हैं कि वस्तु के नष्ट होने पर उसका प्रत्यक्ष होता है
क्योंकि वस्तु जब नष्ट हो जाती है तो फिर उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?
वर्त्तमान वस्तुओं का ही हो सकता है। अतः बाह्य वस्तुओं का ज्ञान संभव नहीं ...
पड़ता। उपर्युक्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के अतिरिक्त वस्तुओं ...
अस्तित्व नहीं है।

इस मत को विज्ञान-वाद कहते हैं

योगाचार के इस मत को विज्ञानवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार ... एकमात्र अस्तित्व है। जो वस्तु वाह्य प्रतीत होती है वह ... में मन का एक प्रत्यक्ष है। इसीका नाम पाश्चात्य दर्शन Subjective Idealism है।

विज्ञानवाद की अनेक कठिनाइयाँ हैं। विज्ञानवाद के विरुद्ध यह आक्षेप ...
सकता है कि यदि किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता पर निर्भर है तो वह ...
किसी वस्तु को उत्पन्न क्यों नहीं कर सकता? उसकी इच्छानुसार वस्तुओं का ...
आविर्भाव या तिरोभाव क्यो नहीं होता? इसका समाधान विज्ञानवादी इस
करते हैं। वे कहते हैं कि मन एक प्रवाह है। इस प्रवाह में अतीत अनुभव को
निहित हैं। जिस समय जिस संस्कार के लिए परिस्थिति अनुकूल रहती है उस ...
संस्कार का प्रादुर्भाव होता है। हम कह सकते हैं कि उस समय उसी संस्कार का परि...
होता है। फल यह होता है कि उस समय उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। ...
तरह विशेष समय में विशेष प्रकार का ज्ञान ही संभव हो सकता है। स्मृति के दृष्टां...
यह बात स्पष्ट होती है। यों तो हमारे मन में अनेक संस्कार निहित हैं, किन्तु विशेष ...
में विशेष संस्कार की ही स्मृति संभव होती है।

अतः विज्ञानवादी मन को आलय-विज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह विभिन्न विज्ञानों ...
आलय या भंडार है। इसमें सभी ज्ञान बीज रूप से निहित हैं। अतः यह अन्य ...

सब विज्ञानों का आधार एक आलय-विज्ञान है

के आत्मा सदृश है। किंतु इसमें तथा आत्मा में एक बहुत बड़ा
है। आत्मा की तरह हम आलय-विज्ञान को ...
नित्य नहीं मान सकते।
प्रवाह है। अभ्यास तथा
में आने पर उससे विषय-ज्ञान की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस तरह निर्वाण प्र...
हो सकता है। आत्मसंयम तथा योगाभ्यास के मार्ग का अनुसरण यदि नहीं किया जाए
तृष्णाओं तथा आसक्तियों से मुक्ति नहीं मिल सकती है। और फलस्वरूप इस काल्पनि...
बाह्य जगत् का बंधन भी नहीं छूट सकता है। इतना ही नहीं, इसके प्रति आसक्ति ...
बढ़ती ही जाती है। केवल विज्ञान ही परिनिष्पन्न और स्वतंत्र है। जगत् इसी...
आधारित है, अतः परतंत्र है, जैसे—मिथ्या सर्प, स्वप्न आदि जगत् की वस्तु पर आधारि...
या परिकल्पित है।

योगाचार नाम के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि आलय-विज्ञान के अस्ति...
का प्रतिपादन करने के लिए योगाचार योग का आचरण करते थे। अर्थात् बाह्य जगत्

ल्पनिकता को समझने के लिए वे योग का अभ्यास करते थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि योगाचारों की दो विशेषताएँ थीं—योग तथा आचार। योग का तात्पर्य यहाँ जिज्ञासा से तथा आचार का सदाचार से है। योगाचार-दर्शन के प्रवर्त्तक असंग, वसुबंधु तथा ङनाग थे। लंकावतार सूत्र इसका एक प्रमुख ग्रंथ है। वसुबंधु की विज्ञप्तिमात्र सिद्धि था त्रिस्वभाव निर्देश और दिङ्नाग की आलंबन परीक्षा भी इस मत के परिपोषक हैं।

ोगाचार' का अर्थ

(३) सौत्रांतिक—बाह्यानुमेयवाद

सौत्रांतिक चित्त तथा बाह्यजगत् दोनो को ही मानते हैं। उनका कथन है कि यदि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं माना जाए तो बाह्य वस्तुओं की प्रतीति कैसे होती है—इसका प्रतिपादन हम नहीं कर सकते हैं। जिसने बाह्य वस्तु को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है यह यह नहीं कह ता कि भ्रमवश अपनी मानसिक अवस्था ही बाह्य वस्तु के सदृश प्रतीत होती है। उसके लिए 'बाह्य वस्तु के सदृश' यह कहना उसी तरह अर्थहीन है जिस तरह वंध्या-पुत्र। विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्य वस्तु की तो कोई सत्ता ही नहीं है। अतः बाह्यत्व का न तो कोई ज्ञान हो सकता, न के साथ किसी की तुलना ही की जा सकती है।

। और बाह्य-
ु दोनो सत्य हैं

ा वस्तुओं के
तत्व के प्रमाण

सौत्रांतिक कहते हैं कि यह सही है कि वस्तु के वर्तमान रहने पर ही उसका प्रत्यक्ष ा है। किंतु वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन हैं इसलिए अभिन्न है यह युक्ति ठीक ं है। हमें जब घट का प्रत्यक्ष होता है तो घट हमारे बाहर है और ज्ञान अंदर है इसका ट अनुभव होता है। अतः वस्तु को ज्ञान से भिन्न मानना चाहिए। यदि घट में तथा ा में कोई भेद नहीं होता तो मैं कहता कि 'मैं ही घट हूँ'। दूसरी बात यह है कि यदि ह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं होता तो 'घट-ज्ञान' तथा 'पट-ज्ञान' में भी कोई भेद ीं होता। घट और पट दोनो यदि केवल ज्ञान हैं तो दोनों एक हैं। लेकिन 'घट-ज्ञान' था 'पट-ज्ञान' को हम एक नहीं मानते हैं। अतः इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि दोनो वस्तु-संबंधी भेद अवश्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितांत आवश्यक है। ाह्य वस्तुओं के अनेक आकार होने के कारण ही ज्ञान के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। भिन्न आकार के ज्ञानों से हम उनके कारण-स्वरूप विभिन्न बाह्य वस्तुओं का अनुमान र सकते हैं।

हम अपनी ही इच्छानुसार जहाँ कहीं किसी वस्तु को नहीं देख सकते हैं। इससे भी यह प्रतीत होता है कि ज्ञान केवल हमारे मन पर निर्भर नहीं है। ज्ञान के चार प्रकार के कारण या प्रयत्न होते हैं। जिनके नाम सौत्रांतिकों के अनुसार (१) आलंबन, (२) समनंतर, (३) अधिपति और (४) सहकारी प्रत्यय हैं।

ान के चार कारण
—आलंबन, सम-
ंतर, अधिपति
ौर सहकारी

(१) घटादि बाह्य विषय ज्ञान का आलंबन-कारण है। क्योंकि ज्ञान का पा[illegible]
उसीसे उत्पन्न होता है।

(२) ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था से ज्ञान में चेतना आती
इसलिए इसका नाम समनंतर प्रत्यय है[1]।

(३) [illegible]
सकता
प्रकार
प्रत्यय या नियामक कारण कहा जाता है।

(४) इनके अतिरिक्त आलोक, आवश्यक दूरत्व, आकार आदि सहायक का
का होना भी ज्ञान होने के लिए आवश्यक है। अतः इन्हें सहकारी प्रत्यय कहते हैं।

इन चार प्रकार के कारणों के संयोग से ही किसी वस्तु का ज्ञान संभव होता है।
[illegible]

यह मत 'बाह्यानुमेयवाद' है

ज्ञान वस्तु-जनित मानसिक आकारों से अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। अत
मत को बाह्यानुमेयवाद कहते हैं।

सौत्रांतिक का अर्थ

इस मत को सौत्रांतिक इसलिए कहते हैं कि सूत्र-पिटक ही इसका मुख्य
है। कहा जाता है कि कुमारलात इस मत के प्रतिष्ठा
इनके कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं।

(४) वैभाषिक-बाह्यप्रत्यक्षवाद

सौत्रांतिकों की तरह वैभाषिक भी चित्त तथा बाह्य वस्तु के अस्तित्व को मानते
किंतु आधुनिक नव्य-वस्तुवादियों (Now-realists) की तरह ये कहते हैं

वैभाषिकों और सौत्रांतिकों में साम्य और वैषम्य

वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं
सकता। यह सही है कि धुआँ देखकर हम आग का अनुमान क
हैं। *किंतु यह इसलिए संभव होता है कि अतीत में हमने आग*
धुआँ एक साथ देखा है। जिसने इन दोनों को साथ-साथ कभी न
देखा वह धुआँ देखकर आग का अनुमान नहीं कर सकता।
बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं हुआ रहे तो केवल मानसिक प्रतिरूपों
आधार पर उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसने कभी कोई बाह्य व
नहीं देखी है वह यह नहीं समझ सकता कि कोई मानसिक अवस्था किसी बाह्य वस्तु

यह मत बाह्य-प्रत्यक्षवादी है

प्रतिरूप है। प्रत्युत वह तो यह समझेगा कि मानसिक अवस्था ही
मौलिक और स्वतंत्र सत्ता है, उसका अस्तित्व किसी बाह्य वस्तु प
निर्भर नहीं है। अतः या तो हमें विज्ञानवाद को स्वीकार कर
होगा या यह मानना होगा कि बाह्य वस्तुओं का प्रत्य
ज्ञान ही संभव है। अतः वैभाषिकमत को बाह्य-प्रत्यक्षवाद कहते हैं। इस मत

१ समनंतर (जिसका कोई अंतर या व्यवधान नहीं है।)

उत्पत्ति मुख्यतः काश्मीर में हुई थी। अभिधर्मग्रंथों पर यह अधिक निर्भर था। अभिधर्म पर महाविभाषा या विभाषा नाम की एक प्रकांड टीका इस मत का मूल अवलंबन थी, इसलिए इसका नाम वैभाषिक पड़ा है।

(५) बौद्ध मत के धार्मिक संप्रदाय

(हीनयान तथा महायान)

धार्मिक विषयों को लेकर बौद्ध मत के दो संप्रदाय हो गए हैं। इन्हें हीनयान (या थेरावाद) तथा महायान कहते हैं। हीनयान में बौद्ध-धर्म का प्राचीन रूप पाया जाता है। यह जैन-धर्म की तरह अनीश्वरवादी है। इसमें ईश्वर के बदले 'कम्म' तथा 'धम्म' को माना जाता है। संसार का परिचालन इसी धम्म के द्वारा होता है। धम्म के कारण कर्मफल का नाश नहीं होता। प्रत्युत अपने कर्मानुसार ही प्रत्येक व्यक्ति मन, शरीर तथा निवासस्थान को प्राप्त करता है। बुद्ध के जीवन तथा उपदेश से मनुष्य अपने आदर्श को जानता है तथा यह भी समझता है कि कोई भी बंधनग्रस्त व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

हीनयान बुद्ध के उपदेशों के ही अनुसार है

अपने धर्म के अनुयायियों के साथ संघबद्ध होने पर भी आध्यात्मिक जीवन को सहायता मिलती है। इसलिए बुद्ध, धम्म और संघ, इन तीनों की शरण लेनी चाहिए। परंतु, हीनयानी को अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास रहता है। उसे 'धर्म' की नियामकता पर भी पूरी श्रद्धा रहती है। उसे बराबर यह आशा बनी रहती है कि बुद्ध के बताए मार्ग पर चलकर इस जीवन में या अन्य किसी भविष्य जीवन में निर्वाण-प्राप्ति अवश्य होगी। हीनयानी का लक्ष्य अर्हत् होना या निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण या निब्बाण में दुःख का अस्तित्व नहीं रहता। हीनयान के अनुसार मनुष्य अपने प्रयत्न से ही निर्वाण या लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा था—'आत्मदीपो भव'।

हीनयान में स्वावलंबन पर आग्रह

उनकी यह उक्ति ही मानो हीनयान का मूलमंत्र है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी चेष्टा से अपने कल्याण के लिए निर्वाण प्राप्त करना चाहिए। यह संभव भी है। बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के ठीक पहले कहा था—"सावयव पदार्थ या संघात सभी नाशवान् हैं। परिश्रम के द्वारा अपनी मुक्ति का उपाय करना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि यह मार्ग धर्मवीरों के लिए है। किंतु संसार में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है।

समय की प्रगति के अनुसार बौद्ध-धर्म के अनुयायी भी बहुत अधिक बढ़ गए। फल यह हुआ कि इसमें ऐसे लोग आ गए जिनके लिए ऊपर के बतलाए मार्ग पर चलना अत्यंत कठिन था। अधिकांश लोग दूसरे-दूसरे धर्मों को छोड़कर आए थे।

स्वावलंबन सबों के लिए संभव नहीं है

वे न तो बुद्ध के बतलाए हुए मार्ग को समझते थे और न उसके अनुसार चलने की शक्ति ही उनमें थी। सम्राट् अशोक जैसे संरक्षकों की सहायता से बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ तो गई थी किंतु अधिकांश अनुयायी उसके प्राचीन आदर्श के अनुसार चल नहीं सके। ये लोग बौद्ध-धर्म को

एक नीचे स्तर पर ले आए। बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के पूर्व जो इनलोगों के मत थे, वे धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म में मिलने लगे। इस तरह बौद्धों के सामने एक विकट ... हो गई। उन्हें आदर्श की रक्षा के लिए अनुयायियों की एक बड़ी संख्या से संबंध ... पड़ता था या अनुयायियों को साथ रखने के लिए आदर्श को छोड़ना पड़ता था। ... धार्मिकों ने आदर्श के बजाय अनुयायियों से संबंध तोड़ना ही अच्छा समझा।

महायान का जन्म

अधिकांश लोगों ने कट्टर-पंथियों का साथ छोड़ और ... लिए एक भिन्न संप्रदाय कायम किया। नये संप्रदाय का ... 'महायान' तथा पुराने का 'हीनयान' पड़ा। यह नामकरण ... दृष्टि से ठीक ही है। हीनयान का अर्थ 'छोटी गाड़ी' या 'छोटा पंथ' है। इसका ... यह है कि इसके द्वारा कम ही व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक जा सकते हैं। ... महायान का अर्थ 'बड़ी गाड़ी' या बड़ा पंथ है। इसके द्वारा अनेक व्यक्ति ... लक्ष्य-स्थान तक पहुँच सकते हैं।

महायान की उदारता

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि महायान में उदारता तथा धर्म-प्रचार की ... वर्तमान थी। फलस्वरूप महायान का प्रचार हिमालय के उत्तर चीन, कोरिया ... जापान तक हो गया। इसमें अन्यान्य मतों के अनुयायी भी ... हो गए। ज्यों-ज्यों इसका प्रचार हुआ त्यों-त्यों नए आगंतु... धार्मिक विचारों का भी इसमें समावेश होता गया। वर्त... महायानियों को अपने धार्मिक संप्रदाय के लिए गर्व है। ये ... धर्म को जीवित तथा प्रगतिशील धर्म मानते हैं। इस संप्रदाय की उदारता ही ... अनुप्राणित करती रहती है।

महायान में पर-सेवा पर आग्रह

महायान में हम जिस उदार मनोवृत्ति का अस्तित्व पाते हैं उसका प्रारंभ बुद्ध ... हो गया था। स्वयं बुद्ध को जनसाधारण के मोक्ष की चिंता रहती थी। महाया... बुद्ध के इस आदर्श को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। हम पहले देख चुके हैं कि ... प्राप्त करने पर महात्मा बुद्ध दुःखित मानव के कल्याण के लिए ... भर परिभ्रमण करते रहे तथा उपदेश देते रहे। बुद्ध की इस ... सेवा के आदेश को ध्यान में रखकर महायानी कहते हैं कि अपनी ... ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। वरं दूसरों की मुक्ति के लिए भी हमलोगों को ... करना चाहिए। महायानी हीनयानियों के आदर्श को स्वार्थपूर्ण समझते हैं। हीनया... का आदर्श चाहे कितना भी महान् क्यों न हो, सूक्ष्मरूप से उसमें एक प्रकार की स्वार्थ... अवश्य वर्तमान है, क्योंकि हीनयानी केवल अपनी मुक्ति के लिए ही प्रयत्न करते ... इसलिए महायानी हीनयान के आदर्श को निकृष्ट समझने लगे और उसका नाम हीन... पड़ा। महायानियों ने बुद्ध के लोक-कल्याण संबंधी उपदेश को ही प्रधान ... अन्य उपदेशों को गौण माना। महायानियों का यह कहना है कि लोक-कल्याण की भा... से ओत-प्रोत होने के कारण महायान महान् है तथा हीनयान में उसका अभाव हो... कारण वह हीन है।

हायान में नए विचारों का समावेश

महायान की विभिन्न शाखाओं में क्रमशः अनेक नए विचारों का जन्म हुआ। इनमें कुछ विचार परस्पर-विरोधी हैं। हम यहां वल तीन महत्त्वपूर्ण नए विचारों का वर्णन करेंगे।

(१) बोधिसत्त्व

(१) बोधिसत्व—हम ऊपर देख चुके हैं कि महायानियों ने केवल अपना मोक्ष प्राप्त करना स्वार्थपूर्ण माना है। ये केवल अपनी मुक्ति की अपेक्षा सब जीवों की मुक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। ये यह प्रण करते हैं कि हम संसार से विमुख नहीं होंगे, वरं दुःखी प्राणियों के ःख-विनाश तथा निर्वाण-लाभ के लिए सतत प्रयत्न करेंगे। महायानियों का यह आदर्श धिसत्व' कहलाता है।

जो व्यक्ति बोधिसत्व को प्राप्त करता है तथा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता उसे भी बोधिसत्त्व कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन करुणा तथा प्रज्ञा से अनुप्राणित ा रहता है। ऐसे सिद्ध पुरुषों के संबंध में नागार्जुन ने 'बोधिचित्त' में कहा है—भी बोधिसत्व महाकरुणाचित्त वाले होते हैं और प्राणिमात्र उनकी करुणा के पात्र होते ।" "प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के लिए उनमें एक अलौकिक शक्ति का संचार ता रहता है। वे लोक-कल्याण के लिए आवागमन के कष्ट से डरते नहीं हैं; प्रत्युत म-ग्रहण के चक्र में पड़े रहने पर भी उनका चित्त स्वच्छ रहता है। किसी प्रकार की प-प्रवृत्ति या आसक्ति उनमें नहीं रहती है। उनकी तुलना पंकज से की जा सकती है। स तरह पंकज पंक में जन्म लेकर भी स्वच्छ तथा सुंदर रहता है, उसी तरह ये बोधिसत्व म-मरण के जाल में फंसे रहकर भी बिल्कुल स्वच्छ तथा निर्मल रहते हैं।" बोधिसत्त्व पने पुण्यमय कर्मों के द्वारा दूसरों को दुःख-विमुक्त करता है और उनके पापमय कर्मों स्वयं भोग करता है। कर्मों के इस आदान-प्रदान को 'परिवर्त्त' कहते हैं।

महायान-दर्शन में बोधिसत्व के अर्थ का उत्तरोत्तर विकास और परिवर्त्तन होता गया। महायान में आगे चलकर प्राणियों के स्वतंत्र अस्तित्व को असत्य माना गया है। ल्कि उन्हें पारमार्थिक सत्ता में ही सन्निविष्ट माना गया है। योगाचार इस पारमार्थिक त्ता को 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। माध्यमिक इसे 'शून्य' या (तथता) कहते हैं। इस रमतत्त्व की अभिव्यक्ति अंशतः भिन्न-भिन्न प्राणियों में होती है। इस विचार के अनुसार यक्तिक आत्मा के बदले महात्मा या परमात्मा की कल्पना की गई है। मनुष्य का आत्मा ोई पृथक् आत्मा नहीं है। सभी मनुष्यों में एक ही परमात्मा वर्त्तमान है। इस प्रकार भी व्यक्तियों का एकात्मा सिद्ध होता है। इस विचार के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य व्यक्तिगत आत्मा का उद्धार नहीं माना जा सकता। इस विचार में जिस पारमार्थिक तत्त्व की कल्पना की गई है वह संसार से भिन्न नहीं माना जाता, वरं सारा संसार उसी तत्त्व का बाह्य रूप है। अतः निर्वाण की प्राप्ति संसार से पृथक् होने से नहीं हो सकती, वरं संसार में रहकर ही हो सकती है। नागार्जुन कहते हैं कि यदि मनुष्य यह समझ सके कि संसार का पारमार्थिक रूप क्या है तो वह संसार में रहकर भी निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। न संसारस्य निर्वाणात् किञ्चिदस्ति विशेषणम्—यह नागार्जुन की उक्ति है। हीनयान में

संन्यास या भिक्षु-जीवन अधिक श्रेयस्कर समझा गया है। किंतु महा... संघर्षों से अलग रहने की शिक्षा नहीं देता। किंतु इसपर अवश्य जोर देता है ... सांसारिक कार्य आसक्तिपूर्ण न हों।

(२) **बुद्ध का उपास्य रूप**—महायानी दो प्रकार के थे। कुछ तो बहुत उन्नत थे। ये बोधि-सत्त्व को जीवन का अभीष्ट मानते थे। किंतु अनेक ऐसे थे जिनके ... का आदर्श अत्यंत दुरूह था। ऐसे लोगों के लिए ... आशा का संदेश विद्यमान था। जब मनुष्य जीवन के ... भार से दब जाता है और अपने उद्धार का कोई उपाय नहीं ... सकता है तो उसकी आत्मा एक ऐसी शक्ति की अपेक्षा करने लगती है जो ... कर सके। उस समय वह ईश्वरापेक्षी हो जाता है और स्वावलंबन से उसकी ... जाती है। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी महायान में स्थान है। महायान के अनुसार ... सभी दुःखार्त्त मनुष्यों के प्रति दया की भावना रखते हैं। उनकी दया से सबों का उ... हो सकता है।

बुद्ध ही उपास्य हो गए

आगे चलकर महायान की पारमार्थिक सत्ता तथा बुद्ध में तादात्म्य स्थापित हो... है। सिद्धार्थ गौतम को 'पारमार्थिक सत्य' या 'बुद्ध' का एक अवतार माना गया ... जातकों में बुद्ध के पूर्वावतारों का विशद वर्णन पाया जाता है।[1] जिस तरह अद्वैत-वे... में परम ब्रह्म को निर्गुण माना गया है, उसी तरह यहाँ भी परमतत्त्व को अवर्णनीय म... गया है। किंतु यहाँ परमतत्त्व की अभिव्यक्ति धर्मकाय के रूप में अर्थात् जगन्नियं... रूप में होती है। धर्मकाय की अवस्था में पारमार्थिक सत्य अर्थात् बुद्ध प्राणिमात्र के क... की चिंता करता है। वह महात्माओं के रूप में अवतीर्ण होकर प्राणियों को दुःख... छुड़ाने में सहायक होता है। इस तरह धर्मकाय के रूप में बुद्ध मानो ईश्वर में ही परिव... हो जाता है। दुःखित मानव बुद्ध को ईश्वर मानकर उसकी सहायता, प्रीति तथा दया ... अपेक्षा करने लगता है। इस रूप में बुद्ध को 'अमिताभ बुद्ध' कहते हैं। इस प्रकार ... को ईश्वर मानकर महायानी अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों की संतुष्टि करते हैं।

(३) **आत्मा में पुनर्विश्वास**—प्राचीन बौद्ध-दर्शन में आत्मा का अस्तित्व नहीं ... गया है। यह भी साधारण मनुष्य की अशांति तथा आशंका का कारण है। यदि आ... का अस्तित्व ही नहीं है तो मुक्ति किसकी होगी? महायान के अनुसार केवल हीन... को मिथ्या माना गया है। पारमार्थिक आत्मा अर्थात् मह... मिथ्या नहीं है। इस तरह जब हीनात्मा के स्थान पर महात्म... अस्तित्व स्थापित होता है तो महायानियों में आशा का पुनः स... होता है।

आत्मा में पुनर्विश्वास

वर्त्तमान समय में हीनयान तथा महायान में परस्पर विरोध पाया जाता है। जो तटस्थ होकर इस विरोध को समझने की कोशिश करते हैं, वे देखते हैं कि इसके ... आदर्शों का विरोध निहित है। हीनयान का संबंध आदर्श की शुद्धता या स्वच्छ...

---

१. बुद्ध के पूर्वजन्मों के संबंध में जो कथाएँ हैं, उन्हें 'जातक' कहते हैं।

किंतु महायान का संबंध उसकी उपयोगिता से है। बौद्ध-धर्म की तुलना हम एक के साथ कर सकते हैं। नदी की धारा स्रोत-स्थान के निकट अत्यंत संकीर्ण रहती है, उसका जल परम निर्मल रहता है। स्रोत के निकट वह ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के बीच र प्रवाहित होती है। किंतु वही जब पर्वतमालाओं से नीचे उतरती है तो नीचे के तीर्ण भूमिखंडों को आप्लावित करने लगती है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती है उसके अन्य अनेक धाराएँ आकर मिलती जाती हैं। फलस्वरूप उसकी जल-राशि बढ़ती ती है और क्रमशः वह मलिन होती जाती है। इस जल-धारा का पहला भाग मानों स्थान है तथा दूसरा भाग महायान है। और, समग्र धारा है बौद्ध-धर्म।

५

न्याय-दर्शन

१. विषय-प्रवेश

न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम थे। वे गौतम तथा अक्षपाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः न्याय का दूसरा नाम अक्षपाद-दर्शन भी है। न्याय-दर्शन में प्रधा शुद्ध विचार के नियमों तथा तत्त्व-ज्ञान करने के उपायों का वर्ण किया गया है। न्याय के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार करने त आलोचना करने की शक्ति बढ़ती है। इसलिए न्याय को तर्क विद्या, तर्क-शास्त्र तथा आन्वीक्षिकी भी कहते हैं। आन्वीक्षिकी युक्तिपूर्वक आलोच को कहते हैं।

न्याय के प्रवर्त्तक गौतम थे

न्याय-दर्शन का अंतिम उद्देश्य शुद्ध-विचार या तार्किक आलोचना के नियमों अन्वेषण करना नहीं है। इसका भी उद्देश्य अन्य दर्शनों की तर मोक्ष-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन के दुःखों का किस तरह नाश इसका उपाय ढूँढ़ निकालना ही इसका अंतिम उद्देश्य है। इस उद्दे की पूर्ति के लिए तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना तथा यथार्थ-ज्ञान के लिए नियमों को जान अत्यंत आवश्यक है। अतः अन्य दर्शनों की तरह न्याय भी जीवन की समस्याओं का समाधान करता है। किंतु विशेषतः इसका संबंध तर्क-विज्ञान तथा प्रमाण-विज्ञान है। वात्स्यायन कहते हैं—"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" अर्थात् प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।[1]

न्याय का अंतिम लक्ष्य अपवर्ग है

न्याय-दर्शन का मूल-ग्रंथ गौतम का न्याय-सूत्र है। न्याय-सूत्र में पाँच प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभक्त है। न्याय-सूत्र के बाद न्याय-भाष्य के अनेक लिखे गए; जैसे वात्स्यायन का न्याय-भाष्य, उद्योतकर का न्याय वार्तिक, वाचस्पति की न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका, की उदयन न्याय वार्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि तथा कुसुमांजलि, जयंत की न्याय-मंज इत्यादि। इन ग्रंथों में न्याय-सूत्र के विचारों की विशद व्याख्या की गई है और न्याय के विरुद्ध जो आक्षेप किए गए हैं उनका खंडन किया गया है। प्राचीन समय के न्याय प्राचीन-न्याय कहते हैं तथा आधुनिक काल के न्याय को नव्य-न्याय कहते हैं। प्राचीन-न्य के अंतर्गत गौतम का न्याय-सूत्र, उसके भाष्य, उसके विरुद्ध किए गए आक्षेपों का खंडन- ये सभी हैं। नव्य-न्याय का प्रारंभ गंगेश की तत्त्व-चिंतामणि से हुआ है। नव्य-न्याय प्रचार प्रारंभ में मिथिला में हुआ। वहाँ इसकी बड़ी प्रगति हुई। किंतु आगे चल इसने बंगाल को सुशोभित किया। बंगाल में इसके पठन-पाठन का केंद्र नवद्वीप था

न्याय-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

1 न्याय-सूत्र 1।1।1 पर भाष्य।

न्याय में न्याय-दर्शन के तर्क-विज्ञान-संबंधी विषयों का ही विशद विचार है। न्याय के उत्थान के बाद प्राचीन-न्याय का प्रचार बहुत कम हो गया और यह अधिक प्रेय न रह सका। नव्य-न्याय के उत्थान तथा प्रचार के बाद न्याय-दर्शन तथा क दर्शन एक साथ सम्मिलित हो गए। इसे न्याय-वैशेषिक मत कहते हैं।

संपूर्ण न्याय-दर्शन को चार खंडों में बाँटा जा सकता है। प्रथम खंड में प्रमाण-, दूसरे में भौतिक जगत्-संबंधी, तीसरे में आत्मा तथा मोक्ष-संबंधी, तथा चौथे में ईश्वर-संबंधी विचार किए जा सकते हैं। किंतु न्याय-दर्शन का जो अपना मौलिक रूप है उसके अनुसार उसमें सोलह पदार्थों

. पदार्थ

उद्देश्य (नामोल्लेख), लक्षण (परिभाषा) और परीक्षापूर्वक विशद विवेचन किया है। वे पदार्थ ये हैं—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, दृष्टांत, (६) सिद्धांत, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद,) जल्प, (१२) वितंडा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) ह-स्थान। यहाँ प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

१. प्रमाण—किसी विषय का यथार्थ-ज्ञान पाने का कारण या उपाय है। इसके यथार्थ-ज्ञान ही मिल सकता है। इससे यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने के सभी उपायों बोध होता है। न्याय के अनुसार जितने पदार्थ हैं, सबों में यही प्रधान है। इसका द वर्णन आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

२. प्रमेय—प्रमाण के द्वारा जो विषय जाने जाते हैं उन्हें प्रमेय कहते हैं। गौतम के सार प्रमेय ये हैं—(१) आत्मा; (२) शरीर जो जीव के विभिन्न व्यापारों का तथा दुःखों का आश्रय है; (३) पंच ज्ञानेंद्रिय; (४) इंद्रियों के अर्थ या विषय अर्थात् , रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द, (५) बुद्धि जिसे ज्ञान और उपलब्धि भी कहते हैं; (६) मन अंतरिंद्रिय या अंतःकरण है और जिससे सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है और अणु होने के कारण तथा एक शरीर में एक ही होने के कारण एक समय में एक ही विषय अनुभव कर सकता है; (७) प्रवृत्ति जो अच्छी या बुरी हो सकती है और जो वाचिक, नसिक या शारीरिक हो सकती है; (८) दोष अर्थात् राग-द्वेष एवं मोह जो हमारी च्छी या बुरी सभी प्रवृत्तियों के मूल हैं; (९) प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म जो हमारे अच्छे बुरे कर्मों से होता है; (१०) फल अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव जो हमारे दोषों के रण हमारे पूर्वकर्मों से उत्पन्न होता है; (११) दुःख जो इतना कटु है कि उसका नुभव सबों को प्राप्त ही है; (१२) अपवर्ग अर्थात् दुःखों से पूर्ण विमुक्ति की अवस्था सके बाद फिर दुःखों की कोई संभावना नहीं रहती।[1] इन बारह प्रमेयों के अति-रिक्त और भी प्रमेय हैं। वात्स्यायन कहते हैं[2] कि गौतम ने यहाँ केवल प्रमेयों का उल्लेख किया है जिनका ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है।

---

[1] देखिए न्याय-सूत्र और भाष्य, १. १. ९-२२

[2] भाष्य १. १. ९

३. संशय मन की वह अवस्था है जिसमें मन के सामने दो या अधिक विकल्प उपस्थित होते हैं। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में कि एक ... धर्म का ज्ञान नहीं रहता, प्रत्युत एक से अधिक विषयों ... धर्म ... जब हम दूरस्थ किसी वस्तु की साधारण आकृति, लंबाई एवं मुटाई को ही लेकिन हाथ, पैर, पत्थर आदि विशेष धर्मों को नहीं देख पाते तो हमारे मन ... उत्पन्न होता है कि यह मनुष्य है या स्तंभ ? संशय न तो निश्चित ज्ञान है, न ... पूर्ण अभाव है, और न यह भ्रम या विपर्यय ही है। यह ज्ञान की ही एक अवस्था है ... किसी एक विषय के संबंध में साथ ही साथ दो विप्रतिपत्तियाँ ... उठती हैं।[1]

४. प्रयोजन उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति के लिए या जिसका वर्णन करने ... कोई कार्य करते हैं। हम या तो इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए ... त्याग करने के लिए ही कोई कार्य करते हैं। ये दोनो ही प्रयोजन कहलाते हैं।

५. दृष्टांत सर्वसम्मत उदाहरण को कहते हैं जिसके द्वारा युक्ति की पुष्टि ... यह किसी विवाद या तर्क का आवश्यक और उपयोगी अंग है। दृष्टांत ... चाहिए जिसे वादी और प्रतिवादी दोनो ही एकमत से स्वीकार करें। जब ... कि अमुक स्थान में आग अवश्य होगी क्योंकि वहाँ धुआँ है तो यह चूल्हे का दृष्टांत ... है क्योंकि चूल्हे के संबंध में तो यह सभी मानते हैं कि वहाँ धुआँ भी है और आग भी ...

६. सिद्धांत उसे कहते हैं जो किसी दर्शन के अनुसार युक्तिसिद्ध सत्य माना जा... यदि कोई दर्शन किसी मत को प्रतिष्ठित सत्य मानता है तो वह उस मत का सिद्धांत ... जाता है। जैसे न्याय-दर्शन का यह एक सिद्धांत है कि चैतन्य आत्मा ... आकस्मिक गुण है। उसी तरह भारतीय दर्शनों में यह सर्वतंत्र या ... है कि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए इंद्रियों की आवश्यकता है।

७. अवयव—जब किसी मत या सिद्धांत को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता होती है तो अनुमान पाँच वाक्यों से बना होता है। इन वाक्यों को ... कहते हैं। किंतु जो वाक्य अनुमान का अंग नहीं है उसे अवयव नहीं कह सकते हैं ... अवयवों का विस्तृत वर्णन हम अनुमान-प्रकरण में करेंगे।

८. तर्क उस युक्ति को कहते हैं जिसमें किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि ... उसकी विपरीत-कल्पना के दोष दिखलाए जाते हैं। यह एक प्रकार का ऊह (कल्पना) है। इसलिए यह प्रमाणों के अंदर नहीं आता। लेकिन यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति ... बड़ा सहायक होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जाएगी।

९. निर्णय किसी विषय के संबंध में निश्चित ज्ञान को कहते हैं। इसकी ... किसी प्रमाण के द्वारा ही होती है। संशय दूर होने पर ही निर्णय पर पहुँचा जा... है और इसके लिए सिद्धांत के पक्ष और विपक्ष की सभी युक्तियों का विचार करना आ... होता है। संशय के निराकरण के बाद ही निर्णय की प्राप्ति होती है। इसकी प्रा...

१ न्याय-सूत्र और भाष्य १. १. २३

निर्णायक के मन में कुछ भी संशय अवशिष्ट नहीं रहता। संक्षेप में हम कह सकते हैं
सी प्रमाण के द्वारा किसी विषय के संबंध में निश्चित ज्ञान पाना ही निर्णय है।

१०. वाद उस विशद विचार को कहते हैं जिसमें सर्वप्रमाणों और तर्क की सहायता
पंच अवयवों के द्वारा विपक्ष का खंडन करके स्वपक्ष समर्थन किया जाता है और
अंतिम निर्णय किसी स्वीकृत सिद्धांत के विरुद्ध नहीं होता। वाद में वादी और
वादी दोनों ही अपने मत की पुष्टि करना चाहते हैं और दूसरे के मत का खंडन करना
ते हैं। किंतु दोनों का ही उद्देश्य यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति करना ही रहता है।

११. जल्प वादी और प्रतिवादी के कोरे वाद-विवाद को, जिसका उद्देश्य यथार्थ-
प्राप्त करना नहीं होता है, जल्प कहते हैं। इसमें वाद के सभी लक्षण तो वर्तमान रहते
किन इसमें सत्य-प्राप्ति की इच्छा का ही अभाव रहता है। यहाँ वादियों का उद्देश्य
विजय प्राप्त करना रहता है, जिसका फल यह होता है कि वे जान-बूझकर भी
यों का प्रयोग करते हैं। वकील कभी-कभी अपनी बहस में जल्प का प्रयोग करते हैं।

१२. वितंडा वह है जिसमें वादी अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता, केवल प्रतिवादी
क्ष का खंडन ही करता है। जल्प में वादी किसी न किसी तरह अपने मत का प्रति-
न करता है और प्रतिवादी के मत का खंडन कर उसपर विजय प्राप्त करना चाहता है,
वितंडा में तो वह केवल प्रतिवादी के मत का जैसे-तैसे खंडन करके ही जीतना चाहता
इसके सिवा अन्य बातों में जल्प और वितंडा में पूरा साम्य है। अतः हम वितंडा
निरर्थक बकवाद कह सकते हैं जिसमें वादी प्रतिवादी के मत का खंडन ही करता है।
अपने पक्ष को साबित करने के बदले दूसरे पक्ष के वकील को गाली देना।

१३. हेत्वाभास उस हेतु को कहते हैं जो वस्तुतः हेतु नहीं है, लेकिन हेतु के जैसा
त होता है। सामान्यतः अनुमान के दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। अनुमान
रण में हेत्वाभासों का अलग-अलग वर्णन किया जाएगा।

१४. छल एक प्रकार के दुष्ट उत्तर का नाम है। जब प्रतिवादी के शब्दों का विवक्षित
ति बोधित अर्थ को छोड़कर कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करके दोष दिखलाता है तो उसे छल
ते हैं। मान लीजिए कोई कहता है कि 'बालक नव-कंबल' है।[१] उसके कहने का
शय है कि बालक को एक नया कंबल है। अब यदि 'नव-कंबल' का दूसरा अर्थ लेकर
ई आक्षेप किया जाए कि 'नहीं, बालक नव-कंबल नहीं है, क्योंकि उसके पास नौ कंबल
हीं हैं तो यह छल होगा। व्यापक अर्थ में प्रयुक्त शब्द को संकुचित अर्थ में लेकर या
ख्यार्थ को छोड़कर गौण या लाक्षणिक अर्थ को लेकर आक्षेप करना भी छल होगा।

१५. जाति—'जाति' शब्द यहाँ एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भी दूसरे
कार का दुष्ट उत्तर है। जब हम वादी को दोष-रहित युक्ति का खंडन करने के लिए
सी भी प्रकार के सादृश्य या वैधर्म्य पर अवलंबित दुष्ट अनुमान की सहायता लेते हैं,
उस अनुमान को जाति कहते हैं। मान लीजिए एक अनुमान है कि 'शब्द अनित्य है,
योंकि यह घट की भाँति एक कार्य है।' अब यदि इस अनुमान का खंडन करने के लिए

---

[१] संस्कृत में नव का अर्थ नया और नौ, दोनों हैं।

कोई कहे कि 'नहीं, शब्द नित्य है, क्योंकि यह काल की तरह अदृश्य है', तो ए[illegible] होगी, क्योंकि नित्य और अदृश्य में कोई नियत संबंध नहीं है।

१६. निग्रहस्थान—वाद-विवाद में जहाँ पराजय का स्थान पहुँच जाता है, उसे नि[illegible] स्थान कहते हैं। निग्रह-स्थान के दो कारण हैं—एक तो गलत ज्ञान, दूसरा अज्ञान। [illegible] कोई वादी या अपने विपक्ष की युक्तियों का अर्थ ठीक रूप से नहीं समझता [illegible] समझ ही नहीं सकता तो वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसे हार मानन[illegible] है। जब वाद-विवाद में कोई प्रतिज्ञा हेतु को बदलता है या दोषपूर्ण युक्तियों की स[illegible] लेता है तो वह भी उसकी पराजय का कारण होता है।

न्याय-दर्शन तर्कप्रधान वस्तुवाद है। वस्तुवाद उस मत को कहते हैं जिसके [illegible] बाह्य-वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं होता। अर्थात् [illegible] या ज्ञाता से स्वतंत्र रहता है। मानसिक भावों का तथा सुख-दुःख की [illegible] मन पर निर्भर होता है। जब तक मन के द्वारा इसकी अनुभ[illegible] होती है, तब तक उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता है। कि[illegible]

न्याय वस्तुवादी

पट, वृक्ष, पशु जैसे बाह्य पदार्थ हमारे मन पर निर्भर नहीं हैं। हमें इन वस्तुओं का[illegible] हो या न हो, इनका अपना अस्तित्व है। वस्तुवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके [illegible] किसी भी वस्तु का अस्तित्व आत्मा के ज्ञान पर निर्भर नहीं होता। किंतु विज्ञान[illegible] अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान ही के कारण है। ज्ञान से पृथक् उसका कोई [illegible] नहीं है। जिस तरह भावनाओं का या विचारों का अस्तित्व मन के अंतर्गत है, उस[illegible] सांसारिक वस्तुओं का अस्तित्व भी हमारे या ईश्वर के मन के अंतर्गत है। न्याय वस्[illegible] इसलिए है कि न्याय के अनुसार प्रत्येक प्रतीति या ज्ञान का एक विषय है।[1] विषय [illegible] पृथक् है। न्याय का वस्तुवाद अनुभव एवं तर्क पर अवलंबित है। न्याय के अनुसार [illegible] की प्राप्ति अर्थात् जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने पर ही हो[illegible] है। किंतु तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के पहले यह जानना आवश्यक है कि ज्ञान क्या है, [illegible] प्राप्ति के क्या-क्या उपाय हैं, यथार्थ ज्ञान में और मिथ्या-ज्ञान में क्या भेद है, इ[illegible] अतः न्याय-वस्तुवाद ज्ञान-संबंधी विचारों पर पूरा-पूरा अवलंबित है। वस्तुतः [illegible] मात्र का आधार प्रमाण-विचार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय-दर्शन को तर्क[illegible] वस्तुवाद कह सकते हैं।

१. प्रमाण-विचार

न्याय का तत्त्व-विचार उसके प्रमाण-विचार पर अवलंबित है। इसके अ[illegible] यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने के चार उपाय हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उ[illegible] तथा (४) शब्द। हम एक-एक कर इनकी व्याख्या करेंगे। किंतु इन प्रमाणों की [illegible] करने के पहले हमें जान लेना चाहिए कि ज्ञान क्या है, ज्ञान के कितने भेद हैं, और य[illegible] ज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान में क्या अंतर है।

१ "प्रतीतिः सविषया।"

(१) ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

स्तुओं की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं। जिस तरह किसी दीपक का
या है ? प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अपने विषय
काशित करता है। ज्ञान कई प्रकार का होता है। पहले तो ज्ञान के दो भेद हैं—प्रमा
ति) तथा अप्रमा। प्रमा यथार्थ-ज्ञान को कहते हैं। प्रमा के चार भेद हैं। प्रत्यक्ष,
कार के ज्ञान, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इनके अतिरिक्त ज्ञानों को अप्रमा
और अप्रमा कहते हैं। अप्रमा चार प्रकार की होती है। स्मृति, संशय, भ्रम
तर्क। प्रमा किसी वस्तु के असंदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव को कहते हैं। हाथ की कलम
या है ? का जो मुझे अभी प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है वह यथार्थ-ज्ञान है। क्योंकि
त्यक्ष-ज्ञान के द्वारा कलम मुझे मिल रही है और इसमें मुझे जरा भी संदेह नहीं हो

ा के भेद— ..., संशय, और तर्क

रहा है। स्मृति को यथार्थ-ज्ञान नहीं कह सकते हैं। क्योंकि स्मृति किसी बीती हुई वस्तु या घटना के अनुभव पर आधारित है। वह अनुभव यथार्थ होने से स्मृति यथार्थ होती, अन्यथा अयथार्थ होती है।[1] संशयात्मक ज्ञान को प्रमा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें
दिग्ध ज्ञान नहीं होता। यद्यपि भ्रम में कोई संशय नहीं है और यह प्रत्यक्ष भी हो
ा है, फिर भी वह विषय का यथार्थरूप प्रकाशित नहीं करता। ऐसा होता है कि
काल किसी रस्सी को हम साँप समझ लेते हैं। ऐसी अवस्था में जो साँप का ज्ञान
ा है, वह संशयात्मक नहीं होता। जब तक साँप का ज्ञान रहता है तब तक
बिलकुल असंदिग्ध रहता है। लेकिन फिर भी यह सत्य नहीं है, क्योंकि इसमें यथार्थ
भव नहीं होता। तर्क भी प्रमा नहीं है, क्योंकि केवल इसके द्वारा वस्तुओं का निश्चित
नहीं मिलता। मान लीजिए, आप अपनी कोठरी की खिड़की के निकट बैठे हुए हैं।
ड़की से आप देखते हैं कि दूर के एक घर से धुआँ उठ रहा है। आप कहते हैं कि
घर में आग लग गई है। आपके निकट बैठा हुआ आपका मित्र कहता है कि
ग नहीं लगी है। आप तर्क करते हैं कि यदि आग नहीं लगी है तो धुआँ नहीं उठ सकता।
दि ऐसा न हो तो वैसा नहीं हो सकता'—इस तरह की युक्ति देकर आप अपने मित्र
कथन का खंडन करना और अपने कथन की पुष्टि करना चाहते हैं। इसी प्रकार की
क्ति को तर्क कहते हैं। इसे प्रमा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि केवल इसी के द्वारा
सी वस्तु का यथार्थानुभव नहीं होता। जैसे, ऊपर के उदाहरण में आग का अनुभव
हीं होता, वरं धुएँ के आधार पर आग के संबंध में जो अनुमान किया गया है, केवल
सी की पुष्टि होती है। आप कहते हैं कि यदि आग न रहे तो धुआँ न हो। किंतु इसका
ह अर्थ नहीं होता कि इसी के द्वारा आप को आग का निश्चित ज्ञान ही हुआ।

---

[1] तर्कसंग्रहः "स्मृतिरपि द्विविधा," "प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था।"
कुछ मीमांसक स्मृति को प्रमा इसलिए नहीं मानते कि इसके द्वारा कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसके द्वारा किसी बीते अनुभव की पुनरावृत्ति होती है।

प्रमा और भ्रम में भेद क्या है ? अर्थात् ज्ञान कब सत्य होता और कब असत्य है ? ज्ञान तभी सत्य होता है जब वह अपने विषय के यथार्थरूप को प्रकाशित करे

प्रमा और भ्रम का भेद

ऐसा नहीं होने पर उसे असत्य समझना चाहिए। मान लीजिए किसी फूल को देखकर कहते हैं कि वह फूल लाल है। आपका ज्ञान सत्य तभी समझा जा सकता है, जब वह फूल वास्तव में लाल

आपका य[illegible]

भ्रमवश सू[illegible]

समझते हैं। [illegible]

हम किसी ज्ञान की सत्यता या असत्यता की परख कैसे करते हैं ? वैशेषिक, जैन दार्शनिकों की तरह नैयायिक उपर्युक्त प्रश्न का इस प्रकार समाधान करते हैं। ... कि आप सुबह चाय पीने बैठे हैं। आप चाय को कुछ कम मीठे पाते हैं। अधिक चीनी की जरूरत होती है। सामने रखे हुए बर्तन में एक प्रकार की है जिसे चीनी समझकर अपनी चाय में मिला देते हैं। इसके बाद आपको अधिक मीठी मालूम पड़ने लगती है। ऐसा होने पर ही 'यह बुकनी चीनी है' यथार्थ साबित होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आप नमक को ... चाय में मिला देते हैं। किंतु चाय पीने पर आपको पता चलता है कि यह चीनी नहीं था। इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान जब ज्ञात वस्तु के यथार्थ धर्म का प्रकाशक होता सत्य होता है, जब ऐसा नहीं होता तब वह अयथार्थ होता है।[1] ऊपर के दृष्टांत से ह भी देखते हैं कि किसी वस्तु के ज्ञान के आधार पर यदि हम उस वस्तु के संबंध कार्य करें और वे कार्य सफल निकलें तो उस ज्ञान को यथार्थ समझना चाहिए। सफलता के बदले यदि विफलता प्राप्त हो तो उस ज्ञान को मिथ्या समझना चाहिए। ज्ञान से सफलता मिलती है तथा मिथ्या-ज्ञान से विफलता। इन्हें क्रमशः अनुकूल सामर्थ्य तथा प्रवृत्तिसंवाद कहते हैं[2]।

(२) प्रत्यक्ष

पाश्चात्य तर्क-विज्ञान में प्रत्यक्ष-प्रमाण की समस्याओं का पूरा समाधान हुआ है। हम साधारणतः प्रत्यक्ष-ज्ञान को यथार्थ समझते हैं। साधारणतया कोई अपने इंद्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को झूठा नहीं समझता है। प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के विषय में छान-बीन करना हास्यास्पद नहीं, तो कम से कम अनावश्यक जरूर समझा जाता है। भारतीय दार्शनिक इस संबंध में अधिक अन्वेषी हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष समस्याओं का उसी प्रकार अनुसंधान किया है जिस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक अनुमान संबंधी समस्याओं का किया है।

---

१ तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थम्। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः।

२ पूरी व्याख्या के लिए श्रीयुत सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय का The Nyaya Th... of Knowledge, तृतीय तथा पंचम अध्याय देखिए।

(क) प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रमा का अर्थ यथार्थ-ज्ञान है। अतः प्रत्यक्ष-प्रमा का निम्नलिखित लक्षण बतलाते
प्रत्यक्ष उस असंदिग्ध अनुभव को कहते हैं जो इंद्रिय-संयोग से उत्पन्न होता है और

क्षा क्या है?

यथार्थ भी होता है। मेरे सामने जो पुस्तक है उसका ज्ञान मेरी आँखों तथा पुस्तक के संपर्क से होता है। साथ-साथ मैं बिलकुल
दग्ध भाव से समझता हूँ कि यह वस्तु पुस्तक है। दूर की किसी वस्तु को मैं अनुमान
ोई स्तंभ समझता हूँ। इसका अर्थ यह होता है कि उस वस्तु के संबंध में मेरा
दग्ध ज्ञान नहीं है। अतः इस ज्ञान को यथार्थ-ज्ञान नहीं कहा जा सकता। रस्सी को
साँप समझ लिया जाता है तो यह ज्ञान असंदिग्ध तो होता है किन्तु यथार्थ नहीं होता।
भ्रमात्मक ज्ञान को भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं मान सकते हैं।

वस्तु के साथ इंद्रिय के संपर्क होने से जो अनुभव उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।[1]
क्ष के इस लक्षण को अनेक भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक
इसे मानते हैं। किंतु कुछ नैयायिक तथा वेदांती इसे नहीं मानते हैं। इनका कथन
क इंद्रिय-संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो सकता है। ईश्वर को सभी विषयों का
क्ष-ज्ञान है, किंतु ईश्वर को इंद्रिय नहीं है। जब रस्सी को भ्रमवश मैं साँप समझ लेता
ो इंद्रिय-संयोग का अभाव रहता है, क्योंकि यहाँ कोई वास्तविक साँप नहीं है जिसके
आँखों का संपर्क हो। सुख-दुःख आदि जितने मनोभाव हैं सबों का प्रत्यक्ष इंद्रिय-
ग के बिना ही होता है। इससे स्पष्ट है कि इंद्रिय-संयोग प्रत्यक्ष-ज्ञान के सभी भेदों
सामान्य-लक्षण नहीं है। अतः इंद्रिय-संयोग प्रत्यक्ष के लिए नितांत आवश्यक नहीं
प्रत्यक्षों का सामान्य-लक्षण इंद्रिय-संयोग नहीं, वरं साक्षात्-प्रतीति है। किसी वस्तु
प्रत्यक्ष-ज्ञान तब होता है जब उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् जब उस वस्तु का
न बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के होता है।[2] मध्याह्न के समय
द आप अपना मस्तक ऊपर उठावें तो आपको सूर्य का ज्ञान बिना किसी अनुमान के प्राप्त
जाएगा। किसी अनुमान की वहाँ न तो कोई आवश्यकता है न अनुमान करने का
मय ही रहता है, क्योंकि सूर्य का ज्ञान मस्तक के ऊपर उठाने के साथ ही हो जाता है।
तः कुछ भारतीय तार्किक साक्षात्-प्रतीति को ही प्रत्यक्ष कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि
धिकांश प्रत्यक्ष इंद्रिय-स्पर्श के कारण ही होते हैं[3]।

(ख) प्रत्यक्षों का प्रकार-भेद

लौकिक और
अलौकिक प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण कई प्रकार से किया जा सकता है। एक प्रकार से प्रत्यक्ष लौकिक या अलौकिक हो सकता है। इस विभेद में यह देखा गया है कि इंद्रिय का वस्तु के साथ किस तरह संयोग

---

१ न्याय-सूत्र १. १. ४

२ देखिए तर्क-भाषा, (पृ० ५); सिद्धांत मुक्तावली, (पृ० २३५-३६); तत्त्व-चिंतामणि (पृ० ५३९-४३, ५५२)।

३ 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्'—गंगेश उपाध्याय, तत्त्व-चिंतामणि।

होता है। साधारण ढंग से जब इंद्रिय का संयोग वस्तु के साथ होता है तब लौकिक प्र[illegible] होता है। लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा मानस। बाह्य प्रत्यक्ष [illegible] नाक, कान, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है। मानस प्र[illegible] मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। [illegible] लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं। चाक्षुष, श्रौत, [illegible] रासन, घ्राणज तथा मानस। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। सामान्य-[illegible] ज्ञान-लक्षण तथा योगज।

बाह्य और मानस प्रत्यक्ष

न्याय के अनुसार (वैशेषिक, जैन तथा मीमांसा के अनुसार) छः ज्ञानेंद्रि[illegible] इनमें पाँच बाह्य हैं तथा एक अंतरिंद्रिय है। बाह्य [illegible] त्वचा और कान। इनके द्वारा क्रमशः गंध, रस, रंग, [illegible] है। ये इंद्रिय भौतिक होते हैं। [illegible] निर्मित है जिसका विशेष गुण वह जान सकता है। इस बात के [illegible] में यह कहा जा सकता है कि अधिकांश इंद्रियों के संबंध में हम [illegible] नाम व्यवहृत करते हैं तो उनके द्वारा ज्ञातव्य भौतिक गुणों के संबंध में करते हैं। [illegible] पीछे शायद यह सिद्धांत निहित है कि सदृश ही सदृश का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। [illegible] अंतरिंद्रिय है। इसके द्वारा आत्मा की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का [illegible] होता है। यह बाह्य इंद्रियों की तरह भूतों का बना हुआ नहीं है। इसकी ज्ञान-[illegible] किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं के ज्ञान में भी सीमित नहीं रहती; यह सभी प्रकार [illegible] ज्ञानों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह केंद्रीय इंद्रिय का काम करता [illegible] न्याय की तरह वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा प्रभृति भी मन को अंतरिंद्रिय मानते हैं। [illegible] कुछ वेदांती इस मत को नहीं मानते।

ज्ञान के छः कारण

(ग) अलौकिक प्रत्यक्ष

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। पहला सामान्य-लक्षण कहलाता है। हम कहते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल अमुक-[illegible] मनुष्य मरणशील है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि केवल मृत मनुष्य ही मरणशील [illegible] वरं इसका तो यह अर्थ है कि जितने भी मनुष्य हैं, चाहे वे अतीत काल के हों, वर्तमान [illegible] के हों या भविष्य के हों, सभी मरणशील हैं। अर्थात् मृत्यु केवल विशेष-विशेष मनुष्य [illegible] लिए लागू नहीं होती, वरं मनुष्य जाति के लिए लागू है। यहाँ [illegible] प्रश्न उठ सकता है कि हम मनुष्य-जाति के बारे में कैसे जानते हैं। साधारण या लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा हम मनुष्य-जाति को नहीं [illegible] सकते क्योंकि संपूर्ण मनुष्य-जाति का अर्थात् सभी मनुष्यों का [illegible] के द्वारा ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है। लेकिन फिर भी यह निर्विवाद है कि [illegible] मनुष्य-जाति का ज्ञान हम लोगों को प्राप्त होता है। अन्यथा हम यह कभी नहीं कह सक[illegible] कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। नैयायिक कहते हैं कि मनुष्य-जाति का ज्ञान अलौकि[illegible] प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। अर्थात् मनुष्य मात्र का ज्ञान उसके सामान्य धर्म 'मनुष्यत्व'

अलौकिक के तीन भेद—(१) सामान्य-लक्षण

ारा होता है। जब हम किसी व्यक्ति को देखकर उसे मनुष्य समझते हैं तो हमें उसमें ाथ ही मनुष्यत्व का भी प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा हम नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष ज्ञान ारा ही हम जानते हैं कि वह मनुष्य है। मनुष्यत्व का प्रत्यक्ष अनुभव होने का ही फल मनुष्यत्व-धर्म-विशिष्ट सभी व्यक्तियों को जानना। इस प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान को ामान्यलक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं, क्योंकि सामान्य धर्म के द्वारा ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष ता है। इसे अलौकिक प्रत्यक्ष के अंतर्गत इसलिए रखा गया है कि यह साधारण या किक प्रत्यक्ष से भिन्न है।

(२) ज्ञान-लक्षण

अलौकिक प्रत्यक्ष के दूसरे भेद को ज्ञान-लक्षण कहते हैं। हम प्रायः कहते हैं कि ठंडी दीख पड़ती है', 'पत्थर ठोस दीख पड़ता है', 'घास मुलायम दीख पड़ती है', इत्यादि। इन वाक्यों को अक्षरशः लिया जाए तो इनसे यही अर्थ निकलेगा कि बर्फ का ठंडापन, पत्थर का ठोसपन, या घास का मुलायम होना आँखों के द्वारा देखा जा सकता है। लेकिन ठंडापन या ठोसपन तो स्पर्श के द्वारा जाना जा ता है। उसे आँखें कैसे देख सकती हैं? नैयायिक इसका समाधान इस दृष्टांत से ते हैं। अतीत में हमने कई बार चंदन-काष्ठ को देखा है। चंदन के रंग को देखने के थ-साथ उसके गंध का भी घ्राण किया है। इस तरह मन में रंग तथा गंध में एक ंध स्थापित हो गया है। यही कारण है कि चंदन को देखने से ही उसके गंध का भी क्ष साथ-साथ हो जाता है। इस उदाहरण में वर्तमान गंध का अनुभव अतीत के व के स्मरण पर आधारित है। अर्थात् इस तरह का अनुभव अतीत ज्ञान के कारण होता । इसलिए इसे 'ज्ञान-लक्षण' प्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञान-लक्षण भी अलौकिक है, क्योंकि से एक इंद्रिय किसी दूसरे इंद्रिय के विषय का अनुभव कर सकता है जो साधारणतया भव नहीं है।

(३) योगज

तीसरे प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष को योगज कहते हैं। इसके द्वारा भूत तथा भविष्य, ढ़ तथा सूक्ष्म, निकटस्थ या दूरस्थ—सभी प्रकार की वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूति केवल उन व्यक्तियों को हो सकती है जिन्होंने अपने योगाभ्यास के द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त की है। जो योग में पूर्ण सिद्ध हैं उन्हें योगज शक्ति आपसे आप प्राप्त हो जाती है और उस शक्ति का कभी नाश नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को 'युक्त' कहते हैं। जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है उन्हें 'युंजान' कहते हैं। युंजान व्यक्ति को योगज शक्ति आपसे आप प्राप्त नहीं हो जाती, वरं उसको इसके लिए कुछ ध्यान-धारणा की आवश्यकता पड़ती है। श्रुति तथा अन्यान्य प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर अनेक भारतीय दार्शनिक योगज प्रत्यक्ष की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। वेदांती[1] न्यायदर्शन के सामान्य-लक्षण तथा ज्ञान-लक्षण का खंडन करते हैं और उनकी सत्यता को नहीं मानते।

(घ) लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

पहले हम देख चुके हैं कि लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—बाह्य तथा मानस। दूसरी दृष्टि से उसके अन्य प्रकार के दो भेद हो सकते हैं—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक।

१ अद्वैत-सिद्धि, पृ० १३७-३९; वेदांत-परिभाषा, अध्याय १ देखिए।

वह्निमान् न हो। लेकिन यद्यपि यह सत्य है कि सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं तथापि सभी वह्निमान् पदार्थ धूमवान् नहीं होते। जैसे, तप्त लौह-खंड। न्यूनाधिक विस्तार वाले दो पदों में जब व्याप्ति का संबंध होता है तो उसे असमव्याप्ति या विषम व्याप्ति कहते हैं। जैसे धुएँ और आग में। दो पदों में जब इस प्रकार का [illegible] है तो एक से (कम विस्तारवाले से) दूसरे का (अधिक विस्तारवाले का) अनुमान [illegible] जा सकता है, किंतु दूसरे से पहले का अनुमान नहीं हो सकता। धुएँ से आग का अनुमान किया जा सकता है किंतु आग से धुएँ का अनुमान नहीं हो सकता। किंतु जब [illegible] विस्तारवाले दो पदों में व्याप्ति का संबंध रहता है तो उसे समव्याप्ति कहते हैं। [illegible] व्याप्तिवाले पदों की व्यापकता बराबर होने के कारण एक से दूसरे का और दूसरे से पहले का अनुमान किया जा सकता है। जैसे अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है वह प्रमेय है और जो प्रमेय है वह अभिधेय है।

किसी भी अनुमान के हेतु तथा साध्य में किसी प्रकार की व्याप्ति का होना नि[illegible] आवश्यक है। इसी प्रकार का नियम पाश्चात्य Syllogism में भी है। Syllogi[illegible] का मूल सिद्धांत यह है कि दो पूर्ववाक्यों में कम-से-कम एक व्याप्तिमूलक अवश्य हे[illegible] चाहिए। हेतु-पद तथा साध्य-पद के बीच व्याप्ति के संबंध से साधारणतः यह [illegible] होता है कि उन दोनों में साहचर्य है। अर्थात् जहाँ धुआँ है वहाँ आग है। किंतु [illegible] साहचर्य को व्याप्ति नहीं समझना चाहिए। यह तो सत्य है कि आग के साथ प्रायः [illegible] दीख पड़ता है। फिर [illegible]

व्याप्ति का लक्षण

आग से भिन्न है। आग में धुआँ का अस्तित्व आर्द्र इंधन अर्थात् जलावन के भींगेपन पर निर्भर करता है। यदि इंधन भींगा न हो तो धुआँ नहीं हो सकता। अतः हेतु और साध्य के उस साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं जो उपाधिहीन हो, अर्थात् किसी विशेष अवस्था पर निर्भर नहीं हो। यह हेतु-पद और साध्य-पद का नियत अनौपाधिक संबंध है।

व्याप्ति का ज्ञान किस प्रकार होता है? "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं" या "सभी मनुष्य मरणशील हैं"—इस तरह के सर्वव्यापी वाक्यों की स्थापना कैसे होती है?

व्याप्ति-ज्ञान की विधियाँ चार्वाकों के अनुसार

चार्वाकों के लि[illegible] प्रत्यक्षवादी हैं। [illegible] दर्शन, जो अनु[illegible] अपने ढंग से [illegible] कार्य-कारण-स[illegible] दो वस्तुओं में यदि कार्य-कारण [illegible] होगा, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना कभी नहीं होती है। कार्य-कारण-भाव

बौद्धों के अनुसार

स्थापित करने के लिए बौद्ध-दार्शनिक पंचकारिणी की सहायता से[illegible] हैं। पंचकारिणी निम्नलिखित निरीक्षण-प्रणाली का नाम है—

(१) कारण या कार्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं है। (२) कारण का प्रत्यक्ष हुआ। (३) शीघ्र ही कार्य भी दृष्टिगोचर हुआ। (४) कारण का लोप हुआ। (५) शीघ्र [illegible]

भी लुप्त हो जाता है। व्याप्ति-संबंध स्थापित करने के लिए बौद्ध-दार्शनिक तादात्म्य की सहायता लेते हैं। दो वस्तुओं में यदि तादात्म्य है अर्थात् एक का अस्तित्व यदि वस्तु के अंतर्गत है तो दोनों में व्याप्ति का संबंध अवश्य होगा। सभी मनुष्य जीव अर्थात् मनुष्य जीवों के अंतर्गत हैं। बिना जीवत्व का मनुष्य 'मनुष्य' नहीं कहा जा ता। अतः मनुष्य तथा जीव में तादात्म्य होने के कारण व्याप्ति का संबंध है।

वेदांतियों का मत है कि व्याप्ति की स्थापना अतीत अव्यभिचारी साहचर्य के अनुभव पर अवलंबित है। अतीत में यदि दो वस्तुओं का साहचर्य देखा जाए अर्थात् बराबर उन्हें एक साथ देखा जाए तो दोनों में व्याप्ति का संबंध अवश्य मानना चाहिए। व्यभिचारादर्शने सति रदर्शनम्—अर्थात् यदि दो वस्तुओं को बराबर एक साथ देखें, और उनका व्यभिचार वाद) देखने में नहीं आवे तो दोनों में साहचर्य का संबंध मानना चाहिए।

नैयायिकों का भी वेदांतियों की तरह यही मत है कि व्याप्ति की स्थापना ऐसे ही अनुभव पर अवलंबित है जिसका अतीत में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ हो। वे, बौद्धों की तरह कार्य-कारण या तादात्म्य संबंध जैसे सिद्धांतों की सहायता नहीं लेते हैं। किंतु वे वेदांतियों की तरह अव्यभिचारी अनुभव की ही सहायता नहीं लेते, वरं इसकी पुष्टि तर्क तथा सामान्य-प्रत्यक्ष के द्वारा भी करते हैं। न्याय की व्याप्ति-स्थापना-प्रणाली इस प्रकार की है—

प्रथम हम यह देखते हैं कि दो वस्तुओं में अन्वय का संबंध है। अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी भी रहती है। इसका एक भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। उदाहरणार्थ, जब-जब जहाँ-जहाँ धुआँ देखा गया है उसके साथ आग भी देखी गई है। अन्वय के बाद व्यतिरेक की मता ली जाती है। अर्थात् आग के नहीं रहने से धुआँ भी नहीं पाया गया है। एक के रहने पर दूसरे का नहीं रहना व्यतिरेक कहलाता है। व्याप्ति के संबंध को स्थापित करने के लिए व्यतिरेक का होना नितांत आवश्यक है। अन्वय तथा व्यतिरेक यदि मिला दिए जाएँ तो वे मिलकर पाश्चात्य शास्त्र के Joint Method के सदृश हो जाते हैं।

सब धूमों और अग्नियों को तो हम देख नहीं सकते हैं। तथापि जिस व्याप्ति का निश्चय अन्वय और व्यतिरेक से हुआ, उसका कोई भी व्यतिक्रम या व्यभिचार यदि अभीतक नहीं देखा गया हो, तो इस व्याप्ति में एक आस्था होती है। इसलिए व्यभिचाराग्रह अर्थात् किसी व्यभिचार का नहीं मालूम ा भी व्याप्ति निश्चय का सहायक है।

लेकिन अभी भी हम यह नहीं कह सकते कि वह नियत संबंध अनौपाधिक अर्थात् धिहीन है। हम देख चुके हैं कि व्याप्ति केवल नियत नहीं होती वरं उसे अनौपाधिक भी होना चाहिए। अतः व्याप्ति-निर्माण-प्रणाली का चौथा क्रम उपाधि-निरास है। जिनके बारे में शंका हो, एक-एक कर सभी उपाधियों का निराकरण किया जाता है। उपाधियों का निराकरण किए बिना व्याप्ति का

(Margin notes: …ों के …ार; …कों के …ार; प्रणाली के …क अंग … अन्वय; …) व्यतिरेक; …) व्यभिचाराग्रह; …) उपाधि-निरास)

संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता । मैं बिजली का बटन दबाता हूँ और
जाती है । यदि बटन नहीं दबाता हूँ तो रोशनी नहीं होती है । यहाँ अन्वय
दोनो वर्त्तमान हैं । इससे यदि कोई इस निश्चय पर पहुँचे कि बटन दबाने में
में व्याप्ति का संबंध है तो उसका विचार दोषपूर्ण होगा, क्योंकि उसने उपाधि
ध्यान नहीं दिया है, जैसे बिजली की शक्ति । बिजली की शक्ति के बिना केवल
से रोशनी नहीं हो सकती है । बिजली की रोशनी के लिए बिजली की शक्ति
नितांत आवश्यक है । क्योंकि यह कोई जरूरी नहीं है कि बटन दबाने के
की शक्ति वर्त्तमान रहे ही, इसलिए बटन दबाने तथा रोशनी में व्याप्ति का संबंध
नहीं हो सकता । नैयायिक उपाधि का लक्षण दस प्रकार बतलाते हैं—"
जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है। किंतु हेतु या साधन के साथ
नहीं रहता है ।" अर्थात् उपाधि को साध्यसमव्याप्ति तथा अव्याप्त साधन होना
उदाहरण के द्वारा हम इन बातों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं । यदि धुएँ से अग्नि
अनुमान नहीं करके कोई अग्नि से धुएँ का अनुमान करे तो यह अनुमान उपाधि दुष्ट
पर निर्भर होने के कारण भ्रमात्मक हो जाएगा । क्योंकि यहाँ धूम साध्य है और
साधन है, और आग में तभी धुआँ हो सकता है जब आग की उत्पत्ति भींगे इंधन से
यहाँ हम देख सकते हैं कि उपाधि 'आर्द्रेंधन' साध्य 'धूम' के साथ बराबर पाया
किंतु हेतु अग्नि के साथ बराबर नहीं पाया जाता क्योंकि ऐसे भी अग्निमान् पदार्थ हैं
जो धूमवान् नहीं होते, जैसे विद्युत्, आदि । अतः हम कह सकते हैं कि यहाँ
(आर्द्रेंधन), साध्य (धूम) समव्याप्त है और अव्याप्त-साधन (अग्नि) है ।
वस्तुओं में नियत संबंध स्थापित करने के लिए उपाधि-निरास नितांत आवश्यक
ऐसा नियत अनौपाधिक संबंध स्थापित करने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में
वस्तुओं के अन्वय तथा व्यतिरेक का भूयोदर्शन या पुनः-पुन निरीक्षण करना चाहिए
इस भूयोदर्शन के क्रम में यदि हम देखें कि साध्य के उपस्थित या अनुपस्थित होने
के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उपस्थित या अनुपस्थित न हो जाती है तो हम समझें
हेतु और साध्य का साहचर्य उपाधिहीन है । इस तरह हेतु और साध्य के बीच
संबंध स्थापित करने के समय जितने उपाधियों की आशंका रहती है सबों का निरास
हो जाता है और तब हम कह सकते हैं कि उन दोनो के बीच व्याप्ति का संबंध
हुआ । अतः हम देखते हैं कि नियत और अनौपाधिक संबंध को ही व्याप्ति कहते

किंतु व्याप्ति के संबंध में एक संशय रह ही जाता है । ह्यूम (Hume)
चार्वाक जैसे संशयवादी कह सकते हैं कि यदि केवल अतीत एवं वर्त्तमान अनुभव
जाए तो हम कह सकते हैं कि धुएँ तथा आग की व्याप्ति में कोई

(५) तर्क

क्रम नहीं पाया गया है । किंतु इसका क्या प्रमाण है कि यह
ग्रह-नक्षत्रों जैसे सुदूर स्थानों के लिए तथा भविष्य के लिए भी लागू होगा ? इस संशय
दूर करने के लिए नैयायिक व्याप्ति-रक्षा के निमित्त तर्क की सहायता लेते हैं । वे कहते
कि "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं"—यह व्याप्ति तर्क के द्वारा इस प्रकार प्रमाणित

ती है। यदि यह वाक्य सत्य नहीं है तो इसका विरोधी वाक्य "कुछ धूमवान् पदार्थ मान् नहीं हैं" अवश्य सत्य होगा। किंतु यह वाक्य सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि खंडन कार्य-कारण-संबंध के सिद्धांत के द्वारा हो जाता है। कार्य-कारण-संबंध द्धांत के अनुसार बिना कारण से कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिये धुएँ का भी न कुछ कारण अवश्य होगा। अब यदि हम कहते हैं कि कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि धूम का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह्नि के अतिरिक्त का कोई अन्य कारण विदित नहीं है। अतः कार्य-कारण-सिद्धांत के अनुसार ऊपर विरोधी वाक्य सत्य नहीं समझा जा सकता। इसपर यदि कोई हठी व्यक्ति कहे कि कभी बिना कारण के भी कार्य उत्पन्न हो सकता है तो उसका उत्तर व्यवहार-संबंधी नों के द्वारा दिया जा सकता है। ऐसे हठी व्यक्ति से पूछा जा सकता है कि यदि बिना के कोई कार्य संपन्न हो जा सकता है तो रसोई पकाने के लिए आप आग भी क्यों करते हैं ? न्याय-दर्शन की तर्क-प्रणाली पाश्चात्य तर्कशास्त्र के argumentum ctioned absurdum से मिलती-जुलती है।

सामान्य-प्रत्यक्ष

पर के वृत्तांतों से यह स्पष्ट है कि किस तरह नैयायिक देखी हुई व्यक्तिगत घटनाओं व्याप्ति की स्थापना करते हैं। किंतु फिर भी वे कहते हैं कि व्यक्तियों (Particulars) को ही देखकर किसी जाति के बारे में जो व्याप्तिज्ञान होता है वह इतना निश्चित नहीं है जितना निश्चित "सब मनुष्य मरणशील हैं" ऐसे वाक्य को हम समझते हैं। "सभी कौए काले हैं" यह वाक्य अतीत के अनुभव के आधार पर स्थापित किया गया है। इस वाक्य में उतनी सत्यता नहीं है जितनी "सभी मनुष्य मरणशील हैं" में है। उजले की कल्पना करना अमर मनुष्य की कल्पना से अधिक सरल है। जिस तरह कोयल भूरी या कई रंगों की हो सकती है, उसी तरह कौआ भी काला या भूरा हो सकता है। हमलोग अपने को अमर नहीं मान सकते हैं तथा इस कल्पना के अनुसार हमलोग कोई भी काम नहीं कर सकते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि ऊपर के दोनो वाक्यों स तरह का भेद क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। कौए

बर काला पाया है। किंतु मनुष्य को मरणशील इसलिए कहते हैं कि उनके स्वाभाविक मनुष्यत्व में और मृत्यु में आवश्यक संबंध है। देवदत्त, राम तथा मोहन इसलिए णशील नहीं हैं कि वे देवदत्त, राम तथा मोहन हैं, वरं इसलिए मरणशील हैं कि वे सभी ष्य हैं अर्थात् उन सबों में 'मनुष्यत्व' है। इससे स्पष्ट है कि केवल व्यक्तियों (Parti-ars) के प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता, प्रत्युत उन सभी क्तियों में अनुगत जो जाति या सामान्य-धर्म है उसी के प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है। : नैयायिक सामान्य-लक्षण-ज्ञान के आधार पर ही व्याप्ति की स्थापना करते हैं। "सभी

मनुष्य मरणशील है"—इस वाक्य में 'मनुष्यत्व' तथा 'मृत्यु' में संबंध स्था
गया है। "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् है"—इसमें 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व'
जोड़ा गया है। जभी हम 'मनुष्यत्व' तथा 'मृत्यु' में संबंध जोड़ते हैं तभी
सकते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसका कारण यह है कि 'मनुष्यत्व'
विशेष मनुष्य के नहीं वरं मनुष्यमात्र के धर्म का बोध होता है,
है। अतः हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि थोड़े से अतीत अनुभवों के
स्थापना हो सकती है। ऐसा करना दोषपूर्ण होगा। "कुछ मनुष्य
इस अनुभव के आधार पर यदि हम कहें कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'
कुछ अंश के ज्ञान द्वारा हम समग्र जाति के बारे में अनुमान करते हैं। यहाँ संदेह
रह जाने से अनुमान पूर्ण निश्चयात्मक नहीं होता। अतः हम देखते हैं कि व्याप्ति
के लिए व्यक्तियों में अनुगत जाति या सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष नितांत आवश्यक है

(घ) अनुमान के भेद

हम ऊपर देख चुके हैं कि भारतीय तर्क-शास्त्र के अनुसार अनुमान में
(induction) और निगमन (deduction) ...

संभावनामूलक नही है, प्रत्युत वस्तुमूलक या वास्तविक भी होती है। इसलिए
तर्क-शास्त्र के अनुमान के कुछ प्रकार-भेद न्याय के अनुमान में नहीं पाए जाते हैं।
अनुमान के तीन प्रकार के मुख्य भेद मानते हैं।

हम देख चुके है कि एक दृष्टि से अनुमान के दो भेद होते हैं—स्वार्थ तथा
यह विभेद अनुमान के प्रयोजन-भेद के अनुसार किया गया है। कभी-कभी हम
के लिए अनुमान करते हैं। इसे स्वार्थानुमान कहते हैं।
कभी-कभी किसी बात को दूसरों को समझाने के लिए भी हम
करते हैं। यह परार्थ अनुमान कहलाता है। स्वार्था

स्वार्थ और परार्थ अनुमान

उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। कोई मनुष्य पर्वत में धुआँ देखता है।
यह स्मरण होता है कि धुआँ और आग में व्याप्ति का संबंध है। अंत में वह इस
पर पहुँचता है कि पर्वत में आग है। यह अनुमान अपने लिए हुआ है, इसलिए
नुमान कहते हैं। किंतु जब कोई मनुष्य स्वयं समझता है कि पर्वत में आग है और
को दूसरे को समझाने की कोशिश करता है तो वह इस प्रकार का अनुमान करता है
वह्निमान् है, क्योंकि वह धूमवान् है तथा जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, जैसे चू
प्रकार पर्वत धूमवान् है। अतः वह भी वह्निमान् है।[२]

१ व्याप्ति की कुछ ऐसी ही व्याख्या R. M. Eaton के General Logi
खंड) में दी गई है। विशद वर्णन के लिए The Nyaya Theory of Kn
देखिए। (अध्याय १०, १२)।

२ तर्क-संग्रह, पृ० ४६-४६ देखिए।

नों ही के द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान में व्याप्ति संबंध इस प्रकार स्थापित होता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान तिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म न अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान का स्पष्टीकरण हो सकता है—

(१) सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन हैं;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(ङ) हेत्वाभास

(अनुमान के दोष)

का अर्थ है हेतु का आभास होना। अर्थात् हेतु नहीं होने पर भी हेतु के जैसा प्रतीत होना। ऐसे दुष्ट हेतु से अनुमान में हेत्वाभास दोष आ जाता है। हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं—(१) सव्यभिचार, (३) सत्प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध तथा (५) बाधित। हम इनका एक-एक में।

ाभास का उदाहरण यों है—

सभी द्विपद बुद्धिमान् हैं;
ार हंस द्विपद हैं;
अतः हंस बुद्धिमान् हैं।

का निगमन गलत है। क्योंकि हेतु 'द्विपद' और साध्य 'बुद्धिमान्' में प्ति नहीं है। कुछ द्विपद बुद्धिमान हैं और कुछ नहीं भी हैं। ऐसे हेतु को है।

तु के द्वारा एक ही निगमन नहीं निकलता; प्रत्युत दो विरोधी ते हैं। यथा—

सभी द्विपद बुद्धिहीन हैं (जैसे, कबूतर)
हंस द्विपद हैं;
अतः हंस बुद्धिहीन हैं।

ांत रूप से ... रं अन्य वस्तुओं के साथ भी
भी कहा जाता है।

... में पाया
... के अभाव
प्रकार

नव्य-न्याय के एक तीसरे प्रकार के भेद के ...

(१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी और (३) अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान

केवलान्वयी; केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी। भेद बहुत युक्तिपूर्ण है, क्योंकि यह व्याप्ति ... भेद पर अवलंबित है। हम तो देख चुके हैं कि अनुमा... व्याप्ति कितना आवश्यक है। केवलान्वयी ... जिसके साधन तथा साध्य में नियत साहचर्य देखा जाता है जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है और ... अभाव होता है। इसका स्पष्टीकरण हम निम्नलिखित ... के द्वारा कर सकते हैं—

(१) केवलान्वयी

सभी प्रमेय (ज्ञेय पदार्थ) अभिधेय (नाम से पुकारने के योग्य) हैं,
घट प्रमेय है,
अतः घट अभिधेय है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति ... इसके विधेय के साथ उद्देश्य के किसी अंश के संबंध का व्यतिक्रम नहीं हो सकता। यह संभव नहीं है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ का नाम नहीं दिया जा सकता। ... यह ज्ञेय है यह तो अवश्य ही कहा जाएगा। यहाँ व्याप्ति सिद्ध करने के लिए कोई ... दृष्टांत अर्थात् 'जो अभिधेय नहीं है वह अज्ञेय है', ऐसा दृष्टांत नहीं मिल सकता। जैसा पहले कहा गया है ऐसी कोई वस्तु हम नहीं बता सकते जिसका कोई नाम ... जा सकता। इसीलिए इस प्रकार के व्याप्ति का नाम केवलान्वयी है।

(२) केवल व्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है, साधन और साध्य की अन्वयमूलक ... से नहीं। इसलिए इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी ... द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि पक्ष के अतिरिक्त साधन का कोई दृष्टांत नहीं जिसमें उसका साध्य के साथ अन्वय देखा ... इस अनुमान का उदाहरण यों दिया जा सकता है।

अन्य भूतों से जो भिन्न नहीं है उसमें गंध नहीं है।
पृथ्वी में गंध है।
अतः पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है।[1]

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की ... दिखलाई जाती है। साधन "गंध" की पक्ष "पृथ्वी" के सिवा और कहीं देखा ... नहीं है। इसलिए साधन और साध्य के बीच अन्वयमूलक व्याप्ति नहीं हो सकती ... प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ व्यतिरेकमूलक व्याप्ति पर ही अनुमान किया जा सकता ...

अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साधन और साध्य का सर्वद...

---

१ केवलव्यतिरेकी अनुमान का दूसरा उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता ... सूर्य अन्य ग्रहों से भिन्न है, क्योंकि वह स्थावर है; जो अन्य ग्रहों से भिन्न ... वह स्थावर नहीं है।

…तिरेक दोनों ही के द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान में व्याप्ति संबंध इस प्रकार स्थापित होता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान …और व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म … के द्वारा अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान का स्पष्टीकरण हो सकता है—

अन्वय-…की

(१) सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं;
पर्वत धूमवान् हैं;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन हैं;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(ङ) हेत्वाभास

(अनुमान के दोष)

…वाभास का अर्थ है हेतु का आभास होना। अर्थात् हेतु नहीं होने पर भी हेतु के जैसा प्रतीत होना। ऐसे दुष्ट हेतु से अनुमान में हेत्वाभास दोष आ जाता है। हेत्वाभास पांच प्रकार के होते हैं—(१) सव्यभिचार, …विरुद्ध, (३) सत्प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध तथा (५) बाधित। हम इनका एक-एक …ार करेंगे।

…वाभास

…म हेत्वाभास का उदाहरण यों है—

…सव्यभिचार

सभी द्विपद बुद्धिमान् हैं;
हंस द्विपद हैं;
अतः हंस बुद्धिमान् हैं।

…स अनुमान का निगमन गलत है। क्योंकि हेतु 'द्विपद' और साध्य 'बुद्धिमान्' में …चारी व्याप्ति नहीं है। कुछ द्विपद बुद्धिमान हैं और कुछ नहीं भी हैं। ऐसे हेतु को …चार कहते हैं।

…व्यभिचार-हेतु के द्वारा एक ही निगमन नहीं निकलता; प्रत्युत दो विरोधी … निकल सकते हैं। यथा—

सभी द्विपद बुद्धिहीन हैं (जैसे, कबूतर)
हंस द्विपद हैं;
अतः हंस बुद्धिहीन हैं।

…हचर्य केवल एकांत रूप से साध्य के साथ ही नहीं, वरं अन्य वस्तुओं के साथ भी …ाता है। अतः इस हेतु को साध्य का अनैकांतिक हेतु भी कहा जाता है।

…सरे प्रकार के हेत्वाभास को "विरुद्ध" कहते हैं। विरुद्ध-हेतु उस अनुमान में पाया जाता है जिसमें वह साध्य के अस्तित्व को नहीं, प्रत्युत उसके अभाव को ही पक्ष में सिद्ध करता है। नैयायिक इसका उदाहरण इस प्रकार

विरुद्ध

देते हैं। "शब्द नित्य है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति है।" हेतु 'उत्पत्ति' शब्द के नित्य नहीं, वरं इसके अनित्यत्व को ही सिद्ध करता है क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसका नाश होता है। सव्यभिचार और विरुद्ध में यह भेद है कि सव्यभिचारहेतु के द्वारा निगमन की सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती, किंतु विरुद्ध हेतु के द्वारा निगमन का खंडन ही हो जाता है।

(३) सत्प्रतिपक्ष

तीसरा हेत्वाभास 'सत्प्रतिपक्ष' है। यह दोष तब होता है जब एक अनुमान का कोई दूसरा प्रतिपक्षी अनुमान संभव हो। जैसे—

(१) शब्द नित्य है,
क्योंकि यह आकाश की भाँति अदृश्य है;
तथा (२) शब्द अनित्य है,
क्योंकि यह घट की भाँति एक कार्य है।

द्वितीय अनुमान प्रथम अनुमान के निगमन को खंडित कर देता है। प्रथम अनुमान में हेतु 'अदृश्य' के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है। किंतु द्वितीय अनुमान में 'कार्य' के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गई है। दूसरे अनुमान का हेतु ठीक है। इसके द्वारा पहले अनुमान का हेतु खंडित हो जाता है। अतएव पहले अनुमान में ... का दोष है। विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष में भेद है कि विरुद्ध में जो हेतु है उसके उसके निगमन का खंडन हो जा सकता है, किंतु सत्प्रतिपक्ष में निगमन का संभावित अनुमान के हेतु के द्वारा होता है।

(४) असिद्ध

चौथा हेत्वाभास 'असिद्ध' या 'साध्यसम' है। 'साध्यसम' हेतु वह है जो स्वयं साध्य की भाँति असिद्ध रहता है। जिस तरह साध्य का अस्तित्व अभी तक सिद्ध नहीं है उसी तरह हेतु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं रहता। इसलिए उसे साध्यसम कहते हैं। और जब यह स्वयं असिद्ध रहता है तो फिर किस प्रकार निगमन की सत्यता को निश्चित कर सकता है। एक उदाहरण लीजिए। "आकाश-कमल सुगंधित है, क्योंकि यह कमल है।" इसमें हेतु 'कमल' का अस्तित्व ही नहीं है, आकाश-कमल का अस्तित्व ही संदिग्ध है। इस तरह हम देखते हैं कि यहाँ हेतु स्वयं असिद्ध है। अतः तज्जन्य दोष को भी असिद्ध ही कहते हैं।

(५) बाधित

पाँचवाँ हेत्वाभास 'बाधित' है। एक उदाहरण लेकर हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं। 'अग्नि शीतल है, क्योंकि यह एक द्रव्य है।' यहाँ 'शीतल' साध्य है और 'द्रव्य' हेतु है। यह अनुमान सही नहीं है, क्योंकि हम स्पर्शज्ञान से अग्नि में शीतलता का अभाव ही नहीं पाते बल्कि उष्णता का स्पष्ट भाव पाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि हेतु 'द्रव्य' के द्वारा जो अनुमान सिद्ध किया गया, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो जाता है। अतः किसी अनुमान का हेतु यदि अन्य प्रमाण से बाधित हो जाए, तो यह अनुमान दोषपूर्ण होता है और उस दोष को बाधित कहते हैं। सत्प्रतिपक्ष और बाधित में भेद यह है कि सत्प्रतिपक्ष दोष तब होता है जब कोई अनुमान किसी दूसरे अनुमान से खंडित हो जाता है और बाधित-दोष तब होता है जब कोई अनुमान प्रत्यक्ष या अन्य किसी अनुमानेतर प्रमाण से खंडित होता है।

(४) उपमान

न्याय के अनुसार उपमान तीसरा प्रमाण है। उसके द्वारा संज्ञा-संज्ञि-संबंध का [ज्ञान] होता है। अर्थात् इसके द्वारा किसी नाम और उसके नामी के संबंध का ज्ञान होता है। कोई विश्वासयोग्य व्यक्ति आपके सामने किसी ऐसी वस्तु का वर्णन करे जिसे आपने कभी न देखा हो और पीछे उस वस्तु को देखकर आप कहें कि यह वस्तु वही है जिसका वर्णन आपके सामने किया गया था, तो यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होगा। एक उदाहरण लेकर हम [स्प]ष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि आप नहीं जानते हैं कि 'गवय' या नील-गाय क्या [है।] कोई जंगल का रहनेवाला आपसे बतलाता है कि यह गाय के आकार-प्रकार की होती [है और ग]ाय से बहुत मिलती-जुलती है। अब यदि आप किसी जंगल में बतलाए हुए आकार-[प्रकार] का कोई पशु देखते हैं और समझते हैं कि इसी प्रकार का पशु नील गाय है तो आपका [ज्ञा]न उपमान के द्वारा प्राप्त होता है[१]। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मान लीजिए [कि कि]सी लड़के ने हनुमान नहीं देखा है। उसे कहा जाता है कि यह बंदर के सदृश ही है, केवल इससे आकार में बड़ा होता और इसका मुँह काला होता है। तब यदि वह [...] हनुमान को देखकर समझ जाए कि इसी जाति के पशु हनुमान हैं, तो उसे हनुमान [का ज्ञा]न उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नाम और नामी [के सं]बंध के ज्ञान को ही उपमान कहते हैं। उपमान-प्रमाण के लिए यह आवश्यक है [कि] किसी परिचित वस्तु के साथ ज्ञातव्य वस्तु के सादृश्यों का ज्ञान प्राप्त रहे और आगे [चलक]र उन सादृश्यों का प्रत्यक्षीकरण हो। जब हम गवय में गो के सादृश्य को देखते हैं [तब प]हले सुनी हुई इस बात का स्मरण करते हैं कि गवय गो के सदृश ही है, तभी हम [जानते] है कि इसका नाम गवय है[२]।

[संज्ञा-संज्ञि-संबंध को उपमान कहते हैं]

[क]न्य कुछ भारतीय दर्शन उपमान-प्रमाण को नहीं मानते हैं। चार्वाक कहते हैं[३] [कि उ]पमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि इससे नामी का यथार्थ-ज्ञान नहीं मिल सकता। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रमाण तो मानते हैं किंतु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष और शब्द का ही एक परिवर्तित रूप है। अतः इसे स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[४] वैशेषिक[५] तथा सांख्य[६] [उपमा]न को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं। अतः इनके अनुसार यह न तो कोई [स्वतंत्र] प्रकार का ज्ञान ही है, न कोई स्वतंत्र प्रमाण ही है। जैन[७] उपमान को प्रत्यभिज्ञा

[उपमा]न पर अन्य [दर्शनो]ं के विचार

[१] देखिए तर्क-संग्रह, पृ० ६२-६३।
[२] देखिए न्याय-भाष्य १. १. ६; न्याय-मंजरी १४१-४२
[३] देखिए न्याय-सूत्र और भाष्य, २. १. ४२
[४] देखिए न्याय-वार्तिक, १. १. ६
[५] देखिए तर्क-संग्रह और दीपिका, पृष्ठ, ६३
[६] तत्व कौमुदी ५
[७] प्रमेय कमल-मार्तण्ड, अध्याय ३

मानते हैं। मीमांसक[1] और वेदांती[2] उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण तो मानते हैं ये इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं। हम इसका वर्णन मीमांसा दर्शन में करेंगे।[3]

(५) शब्द

(क) शब्द का अर्थ और उसके भेद

न्याय के अनुसार चौथा प्रमाण शब्द है। शब्दों एवं वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। सभी शब्द-ज्ञान यथार्थ नहीं होता। अतः शब्द प्रमाण तभी समझा जाता है जब इसके द्वारा यथार्थ-ज्ञान मि…

शब्द क्या है?

आप्त या यथार्थवादी व्यक्तियों के वचन शब्द-प्रमाण समझे जाते… यदि किसी व्यक्ति को यथार्थ-ज्ञान प्राप्त रहे और वह अन्य… के उपकार के लिए उस ज्ञान को प्रकट करे तो उसके वचन सत्य समझे जाते हैं[4]। वचन या वाक्य स्वतः तो वस्तुओं का ज्ञान नहीं करा सकता। किसी वाक्य के … सुनने से ही वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो जाता। शब्दों को सुनकर तथा उनके अर्थ … लेने पर ही उनसे कोई ज्ञान प्राप्त होता है। अतः शब्द यथार्थ या प्रामाणिक तब है जब वह किसी विश्वासयोग्य व्यक्ति का निश्चितार्थ वाक्य होता है। संक्षेपतः विश्वास-योग्य व्यक्ति के वचन के अर्थ का ज्ञान शब्द-प्रमाण है[5]।

शब्द दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होते हैं। दृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे ऐसी … का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके। अदृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे … वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। साधारण मनुष्य तथा महात्माओं के विश्वास…

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द

वचन, धर्म-ग्रंथों की वैसी उक्तियाँ जो दृष्ट पदार्थों के संबंधी हों, न्यायालय में साक्षियों के वचन, विश्वासयोग्य किसानों की … संबंधी उक्तियाँ, वर्षा के लिए धर्म-ग्रंथों में बताए हुए … विधान इत्यादि दृष्टार्थ शब्द के अंतर्गत हैं। किंतु प्रत्यक्ष … वस्तुओं के संबंध में जो साधारण मनुष्यों, महात्माओं, धर्म-गुरुओं एवं धर्म-ग्रंथों के विश्वासयोग्य वचन होते हैं, परमाणु आदि विषयों के संबंध में जो वैज्ञानिकों के … हैं, पाप और पुण्य के संबंध में जो धर्म-गुरुओं के वचन हैं, ईश्वर, जीव की नित्यता … के संबंध में जो धर्म-ग्रंथों की उक्तियाँ हैं—ये सभी अदृष्टार्थ शब्दों के अंतर्गत …

---

१ शास्त्र-दीपिका, पृष्ठ ७४-७६

२ वेदांत-परिभाषा, अध्याय ६

३ उपमान के समीक्षात्मक विवरण के लिए Nyaya Theory of Knowl… अध्याय १६ देखिए।

४ देखिए न्याय-सूत्र, १. १. ०.

५ तार्किक-रक्षा, पृ० ६४-६५

६ तर्क-संग्रह, पृ० ७२; भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली, ८१

दूसरे ढंग से भी शब्द के दो भेद किए जाते हैं—वैदिक और लौकिक।[1] वैदिक स्वयं ईश्वर के वचन माने जाते हैं। अतः वैदिक शब्द बिलकुल निर्दोष एवं अभ्रांत किन्तु लौकिक शब्द सभी सत्य नहीं होते। ये मनुष्यों के वचन हैं, अतः ये सत्य मिथ्या भी हो सकते हैं। लौकिक शब्द केवल वे ही सत्य होते जो विश्वासयोग्य तयों के वचन होते हैं। हम देखते हैं कि शब्द का प्रथम प्रकार-भेद ज्ञातव्य विषयों वरूप के अनुसार हुआ है, दूसरा प्रकार-भेद शब्द की उत्पत्ति के संबंध में हुआ है। दोनों ही से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नैयायिकों के अनुसार शब्द की उत्पत्ति किसी त से होती है—चाहे वह व्यक्ति कोई मनुष्य हो या स्वयं भगवान हो।

(ख) वाक्य-विवेचन

विश्वासयोग्य व्यक्तियों के कथित या लिखित वाक्यों के अर्थ को समझने से जो वस्तुओं ान होता है, वह शब्द-प्रमाण के द्वारा होता है। अतः यहां एक प्रश्न उठ सकता है वाक्य क्या है और वह समझ में किस तरह आता है? हम जानते हैं कि वाक्य ऐसे पदों का समूह है जो एक विशेष ढंग से क्रमबद्ध रहते हैं। पद भी ऐसे अक्षरों का समूह है जो विशेष ढंग से क्रमबद्ध रहते हैं।[2] पद का अर्थ ही उसकी विशेषता है। पद का किसी विषय के साथ एक चत संबंध रहता है। अतः जब वह सुना जाता या पढ़ा जाता है तो वह उस विषय ान उत्पन्न कर देता है। इस तरह हम देखते हैं कि शब्द अर्थ का प्रतीक है। शब्दों में बोध कराने की जो क्षमता है उसे शब्दों की शक्ति कहते हैं। न्याय के अनुसार यह त ईश्वरेच्छा पर निर्भर रहती है।[3] ईश्वर के कारण ही शब्दों के अर्थ सर्वदा निश्चित हैं, क्योंकि संसार में जितने प्रकार की व्यवस्था या एकरूपता हम पाते हैं सब र-जनित ही है।

पद का लक्षण

वाक्य पदों का वह समूह है जिससे कोई अर्थ निकले। किसी भी प्रकार का समूह अर्थपूर्ण वाक्य नहीं समझा जा सकता। किसी अर्थपूर्ण वाक्यों के लिए चार बातें आवश्यक हैं—आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य।[4] हम इनका एक-एक कर विचार करेंगे।

अर्थ बोध चार कारण

किसी वाक्य के पदों को आपस में एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। इसे ही 'आकांक्षा' ते हैं। सामान्यतः किसी एक पद से ही पूरा-पूरा अर्थ-बोध नहीं हो सकता। जब तक एक पद का दूसरा पदों के साथ संबंध न स्थापित किया जाए तब तक वाक्य पूरा नहीं हो सकता है। जब कोई व्यक्ति कहता है—'लाओ', तो तुरत ही यह प्रश्न उठता है कि 'क्या'? 'लाओ' पद को

) आकांक्षा

---

1. तर्क-संग्रह पृष्ठ ७३; तर्क भाषा पृ० १४
2. तर्क-संग्रह, पृष्ठ ६३-६४
3. तर्क-संग्रह, पृष्ठ ६४
4. तर्क-संग्रह, ७२; भाषा-परिच्छेद, ८२

किसी वस्तु-बोधक पद की आकांक्षा अर्थात् अपेक्षा रहती है—जैसे 'घड़ा'। 'घड़ा' कहने से आकांक्षा पूरी हो जाती है, और एक सार्थक वाक्य बन जाता है।

वाक्य की दूसरी आवश्यकता उसके पदों की 'योग्यता' है। वाक्य के पदों के अर

वाक्य की तीसरी आवश्यकता 'सन्निधि' या 'आसत्ति' है। वाक्य के पदों का एक दूसरे से सामीप्य होना ही सन्निधि है। कोई वाक्य तभी अर्थ-सूचक हो सकता है उसके पदों में समय एवं स्थान की दृष्टि से नैकट्य हो। यदि उनके बीच समय का अंतर रहे तो उनसे वाक्य नहीं बन सकता। उसी प्रकार यदि उनके बीच स्थान का

(३) सन्निधि

अंतर रहे तो वाक्य नहीं बनता। 'एक—गाय—लाओ' इन पद आकांक्षा और योग्यता के रहने पर भी इनसे वाक्य नहीं बन स यदि ये एक-एक कर तीन दिनों में बोले जाएँ या तीन पृष्ठों पर अलग-अलग लिखे

किसी वाक्य से जिस अर्थ को सूचित करने का अभिप्राय रहता है वही उसका ता है। विभिन्न स्थानों में एक ही पद के कई अर्थ हो सकते हैं। किसी विशेष स्था क्या अर्थ होगा यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है।

(४) तात्पर्य

उसको समझने के लिए हमें वक्ता या लेखक के अभिप्राय का वि करना होगा। यदि किसी व्यक्ति को कहा जाए कि 'सैंधव' तो वह मुश्किल में पड़ जाता है कि वह नमक ले आवे या घोड़ा ले आवे, अर्थ सैंधव नमक और सिंधु देश का घोड़ा, दोनों है। किंतु यदि हम वक्ता के अभि की सहायता लें तो फिर हम समझ जा सकते हैं कि वह क्या चाहता है। अतः के अर्थ को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसके तात्पर्य का विचार करें। मनुष्यों के द्वारा जो पद व्यवहृत होते हैं उनका तात्पर्य तो हम प्रकरण के अनुसार जा सकते हैं। किंतु वैदिक मंत्रों को समझने के लिए हमें उन नियमों की सहायता होगी जो मीमांसा-दर्शन में इसके लिए दिए गए हैं।

३. जगत्-संबंधी विचार

अब तक तो हम प्रमाणों का विचार कर रहे थे। अब हम प्रमेयों का अर्थात् विषयों का विचार करेंगे। नैयायिकों के अनुसार आत्मा, शरीर, इंद्रिय एवं बुद्धि, मन, प्रवृत्ति दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्र

प्रमेय क्या है ?

साथ-साथ द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभा प्रमेय के ही अंतर्गत हैं। सभी प्रमेय जड़-जगत् में ही नहीं रहते। इसमें तो केवल भूतों से निर्मित द्रव्य और उनसे संबंधी विषय ही रहते हैं। आत्मा, और मन भौतिक नहीं हैं। काल और दिक् भी भौतिक नहीं हैं, किन्तु सब भौतिक दिक् और काल ही में रहते हैं, आकाश एक अपरिणामी भूत है। यह जड़-जगत् अर्थात् क्षिति, जल, पावक और समीर से बना हुआ है। ये चारों भूत क्रमशः

ाणुओं से बने हुए हैं। ये परमाणु नित्य एवं अपरिवर्त्तनशील होते है। आकाश,

ाणु, आकाश,
ा और दिक्

काल और दिक् भी नित्य और विभु द्रव्य है। ये परमाणु के बने नहीं होते। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते है कि यह जड़-जगत् चार प्रकार के परमाणुओं से बना हुआ है। परमाणुओं के संयोग से बनी सभी वस्तुएँ, उनके गुण तथा उनके पारस्परिक संबंध, जीव के शरीर, इंद्रिय और के द्वारा जानने योग्य वस्तुओं के गुण—ये सभी जड़-जगत् के ही अंतर्गत है। न्याय और पिक के जगत्-संबंधी विचारों में पूरा सादृश्य है। किंतु वैशेषिक में जगत् का वृहत् न दिया गया है। वैशेषिक सिद्धांतों को नैयायिक स्वीकार करते हैं। अतः वे पिक-दर्शन को समान-तंत्र मानते हैं। इसका पूरा विवरण वैशेषिक दर्शन में किया ।या।

४. जीवात्मा और मोक्ष

जीवात्माओं को यथार्थज्ञान और मोक्ष पाने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करना ही न्याय-न का उद्देश्य है। हमें यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जीवात्मा का क्या स्वरूप है

मा के संबंध में
-भिन्न विचार

और इसके क्या-क्या धर्म हैं। भारतीय-दर्शन में आत्मा के संबंध में चार मत हैं। चार्वाक के अनुसार चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। यह जड़वादी मत है। बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। अद्वैत-वेदांत के अनुसार आत्मा एक है, य है एवं स्वप्रकाश-चैतन्य है। आत्मा न तो ज्ञाता है, न ज्ञेय है और न 'अहम्' ही है। शिष्टाद्वैत-वेदांत के अनुसार आत्मा केवल चैतन्य नही है, बल्कि एक ज्ञाता है जिसे अहम् सकते हैं। कहा है "ज्ञाता अहमर्थ एवात्मा।"

आत्मा के संबंध में न्याय-वैशेषिक का मत वस्तुवादी कहा जा सकता है। इनके

ा के संबंध में
य-वैशेषिक मत

अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्त्तमान रहते हैं। ये जड़-जगत् के गुण नहीं हैं, क्योंकि जड़-द्रव्यों के गुणों की तरह ये वाह्य इंद्रियों से बोधगम्य नही हो सकते। अतः हमें यह मानना ही ता है कि ये एक ऐसे द्रव्य के गुण हैं जो जड़-द्रव्यों से भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों में न-भिन्न आत्मा है। क्योंकि उनके अनुभव एक दूसरे से पृथक् हैं। आत्मा की न उत्पत्ति न नाश है, अतः यह नित्य है। यह विभु है, क्योंकि यह काल और दिक् दोनो ही दृष्टियों बिलकुल असीम है।[1]

शरीर या इंद्रियों को आत्मा नही कहा जा सकता। शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि की अपनी चेतना या ज्ञान नहीं है। वाह्य इंद्रियों को भी आत्मा नहीं समझा जा सकता

त्मा शरीर,
द्रय, मन एवं
ज्ञान प्रवाह से
न्न है

है, क्योंकि कल्पना, स्मृति, विचार, आदि मानसिक व्यापार वाह्य इंद्रियों के कार्य नहीं है। मन को भी आत्मा नही माना जा सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन अणु है और इसलिए अप्रत्यक्ष है। मन ही यदि आत्मा माना जाए तो सुख, दुःख आदि मन के ही गुण होंगे, अतः ये भी अणु अप्रत्यक्ष होंगे। लेकिन सुख-दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति

[1] न्याय-भाष्य, १. १. १०; पदार्थ-धर्म-संग्रह ३० तर्क-भाषा, १८-१९

तो हमें अवश्य होती है। आत्मा को हम विज्ञानों की संतान या प्रवाहमात्र भी नहीं कह सकते हैं (जैसा बौद्ध मानते हैं)। क्योंकि तब हम स्मृति की उपपत्ति नहीं कर सकते। यदि आत्मा केवल विज्ञानों का प्रवाहमात्र हो तो किसी भी मानसिक अवस्था से इस बात का पता नहीं लग सकता है कि उसके पहले क्या था और उसके बाद क्या आवेगा। फिर वेदांतियों का यह मत कि आत्मा स्वप्रकाश-चैतन्य है, नैयायिक नहीं मानते हैं। शुद्ध चैतन्य नाम का ऐसा पदार्थ नहीं है। चैतन्य के लिए कोई आश्रय द्रव्य होना आवश्यक है। आत्मा ही वह द्रव्य है; चैतन्य उसका एक गुण है। आत्मा ज्ञान नहीं है, बल्कि एक द्रव्य है जो अहंकार का आश्रय तथा भोक्ता भी है।[१]

चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है

यद्यपि ज्ञान या चैतन्य आत्मा का एक गुण है, फिर भी हम इसे आत्मा का स्वरूप नहीं मान सकते। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब इसका मन के साथ, मन का इंद्रियों के साथ और इंद्रियों का बाह्य-वस्तुओं के साथ संपर्क होता है। यदि ऐसा संपर्क नहीं [illegible] नहीं हो सकता। अतः आत्मा [illegible] ज्ञान का अभाव रहता है। इस तरह हम देखते हैं [illegible] गुण है।[२]

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण

हम कैसे समझ सकते हैं कि शरीर, इंद्रिय और मन से भिन्न कोई आत्मा है? *प्राचीन नैयायिक*[३] *कहते हैं कि आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो सकती।* उनके मत में आत्मा का ज्ञान या तो आप्तवचनों से होता है या उसके प्रत्यक्ष गुणों यथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु.ख एवं बुद्धि से अनुमान के द्वारा होता है। हमलोगों में तो राग-द्वेष वर्तमान है, इसमें कोई संदेह नहीं है किंतु यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं है तो इनका अस्तित्व ही संभव नहीं है। किसी वस्तु को पाने की इच्छा रखने का मतलब यह है कि वह वस्तु सुखद है। किंतु जब तक हम उसको पा नहीं लेते हैं तब तक उससे कोई सुख नहीं मिल सकता है। अतः उस वस्तु की इच्छा हम इसलिए रखते हैं कि हम समझते हैं कि ऐसी ही वस्तुओं से अतीत काल में सुख मिला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इच्छा तभी हो सकती है जब कोई स्थायी आत्मा रहे जिसने अतीत में वस्तुओं से सुख प्राप्त किया हो और जो वर्तमान वस्तुओं को अतीत वस्तुओं के सदृश समझकर उन्हें पाने की अभिलाषा रखता हो। इसी प्रकार द्वेष और प्रयत्न भी बिना स्थायी आत्मा के संभव नहीं हैं। कोई व्यक्ति सुख तभी प्राप्त करता है जब वह कोई ऐसी वस्तु पा लेता है जिसके द्वारा वह किसी स्मृत सुख का पुनः अनुभव प्राप्त कर सकता है। उसे दुःख तब मिलता है जब वह किसी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है जिसके कारण अतीत में उसे दुःख का अनुभव करना पड़ता हो। इसी प्रकार बुद्धि या ज्ञान के लिए भी एक स्थायी आत्मा का अस्तित्व आवश्यक है। आत्मा सर्वप्रथम किसी विषय

१ भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली, ४८-५०, न्यायसूत्र और भाष्य, ३. १. ४
२ वार्तिक, २. १. २२; न्याय-मंजरी, पृष्ठ ४३२
३ न्याय-भाष्य, १. १. ९-१०

षय के संबंध में असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करता है। इच्छा, द्वेष आदि की उत्पत्ति शरीर, न इंद्रिय और न मन के द्वारा ही हो सकती है।

किंतु नव्य-नैयायिक कहते हैं कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है, यह ठीक है कि जब कोई इसके अस्तित्व पर संदेह करता है तब उपर्युक्त ढंग से

प्रत्यक्ष के
आत्मा का

इसका सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है। कुछ नैयायिकों का यह मत है कि मन के साथ आत्मा का संयोग होने से 'मैं हूँ' इस प्रकार का एक मानस प्रत्यक्ष होता है। इसीसे आत्मा को जानना संभव है। किंतु कुछ नैयायिक कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष बुद्धि, सुख-दुःख या प्रयत्न आदि प्रत्यक्ष गुण विशिष्ट ही हो सकता है। इसलिए 'मैं जानता हूँ', 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि रूप से ही आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। हम आत्मा का केवल आत्मा के रूप में प्रत्यक्ष नहीं करते हैं, इसे ज्ञाता, भोक्ता या कर्ता के रूप में ही जान सकते हैं। अतः आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी न किसी गुण के द्वारा ही होता है। हम अपने-अपने आत्माओं का तो प्रत्यक्ष कर सकते हैं, किंतु दूसरों के आत्माओं को उनके बुद्धि-परिचालित-कार्यों से अनुमान करके ही जान सकते हैं। बुद्धि-चालित कार्यों का कारण यह अचेतन शरीर नहीं हो सकता। उनके लिए चेतन आत्मा की ही आवश्यकता है।[1]

आत्मा किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके यही प्रत्येक भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य है। न्याय-दर्शन में भी तत्त्व-ज्ञान का अनुसंधान इसीलिए किया जाता है कि उसके द्वारा

मोक्ष का लक्षण

जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। मोक्ष का वर्णन विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। नैयायिकों के अनुसार मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। वे इसे अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग का तात्पर्य है शरीर और इंद्रियों के बंधनों से आत्मा का विमुक्त होना। जब तक आत्मा शरीर-ग्रस्त है तब तक इसके लिए दुःखों का पूर्ण विनाश संभव नहीं है। इंद्रिय-सहित शरीर के विद्यमान रहने पर हम उसका अनुचित एवं अप्रिय वस्तुओं के साथ संपर्क रोक नहीं सकते और फलस्वरूप दुःखों से बच नहीं सकते हैं। अतः मोक्ष तभी मिल सकता है जब हम शरीर और इंद्रियों के बंधनों से मुक्त हो जाएँ। किंतु शरीर से मुक्त होने पर आत्मा के दुःखों का ही केवल अंत नहीं होता हैं, प्रत्युत उनके सुखों का भी अंत हो जाता है। क्योंकि तब किसी भी प्रकार की अनुभूति अवशिष्ट नहीं रहती। अतः मोक्ष की अवस्था में आत्मा शरीर से पूर्णतया मुक्त होकर सुख-दुःख से परे हो जाता और बिलकुल अचेतन हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में जो दुःख का नाश होता है उसका अर्थ यह नहीं कि वह समय दुःख केवल कुछ काल तक स्थगित हो जाता है, जैसा कि प्रगाढ़ निद्रा के समय या किसी रोग से विमुक्त होने के बाद या किसी शारीरिक या मानसिक कष्ट से मुक्त होने पर होता है। इस अवस्था में तो दुःख का सदा के लिए अंत हो जाता है। यह आत्मा की

[1] देखिए, तर्क-भाषा, पृ० ६; तर्क-कौमुदी, पृ० ८; भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली ४६-५०।

वह चरम अवस्था है जिसका वर्णन धर्म-ग्रंथों में 'अभयम्', 'अजरम्', 'अमृत्युपदम्' नामों से किया गया है।[१]

अपवर्ग या मोक्ष पाने के उपाय—श्रवण, मनन और निदिध्यासन

मोक्ष पाने के लिए सबसे पहले धर्म-ग्रंथों के आत्म-विषयक उपदेशों का श्रवण चाहिए। तब मनन के द्वारा आत्म-विषयक ज्ञान को सुदृढ़ बनाना चाहिए और निदिध्यासन के द्वारा अर्थात् योग के बतलाए गए मार्ग से आत्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिए। इससे यह लाभ है कि मनुष्य आत्मा को शरीर से भिन्न समझने लगता है। इस मिथ्या-ज्ञान का कि 'मैं शरीर और मन हूँ' अंत हो जाता है तब वह वासनाओं और प्रवृत्तियों से परिचालित नहीं होता। तरह जब मनुष्य वासनाओं और प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है तो उसके वर्तमान उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि तब तो वह कोई भी कर्म बिलकुल निष्काम करता है। अपने संचित कर्मों का फल भोग लेने पर फिर वह जन्म-ग्रहण के पड़ता और इस तरह पुनर्जन्म का अंत हो जाने पर शरीर के बंधनों का और दुःखों का भी अंत हो जाता है। यही मोक्ष या अपवर्ग है।[२]

५. ईश्वर-विचार

न्याय-सूत्र में ईश्वर का संक्षिप्त परंतु स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर जगत् की सृष्टि और के सुख-दुःख का विधान करते हैं। नव्य-नैयायिक भी ईश्वर का पूर्ण विचार करते इसे मोक्ष के लिए आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर की दया से ही वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है और तब मोक्ष प्राप्त कर सकता है भी व्यक्ति ईश्वर की अनुकंपा के बिना न तो पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता न अपवर्ग की ही प्राप्ति कर सकता है। इसलिए यहाँ ये प्रश्न उठते हैं कि ईश्वर और इसके अस्तित्व के लिए क्या-क्या प्रमाण हैं ?[३]

(१) ईश्वर क्या है ?

ईश्वर संसार का स्रष्टा, पालक और संहारक है

ईश्वर जगत् का आदिस्रष्टा, पालक तथा संहारक है। यह शून्य से संसार नहीं करता है, वरं नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से सृष्टि करता है। ईश्वर के साथ रहनेवाली नित्य सत्ताओं में रूपांतर होना ही सृष्टि है। यह जगत् धर्म-प्रधान है। आत्मा अपने-अपने पाप और पुण्य के अनुसार क्रमशः दुःख और भागी होते हैं। इसके जड़-द्रव्य आत्माओं के आध्यात्मिक की पूर्ति के लिए साधन का काम करते हैं। अतः ईश्वर संसार का आदि नि उपादान-कारण नहीं। इसे हम विश्वकर्मा कह सकते हैं। यह संसार का पोषक भी है

---

१ देखिए भाष्य, १.१.२२; प्रश्न उपनिषद् ५. ७

२ तर्क-संग्रह और दीपिका पृ० १०६-१०७

३ न्याय-सूत्र ४. १. १९-२१

की इच्छानुसार संसार कायम रहता है। यह संसार का संहारक भी है, क्योंकि जब-जब
क प्रयोजनों के लिए संसार के संहार की आवश्यकता जान पड़ती है तब-तब वह
सक शक्तियों के द्वारा उनका संहार भी करता है। ईश्वर एक, अनंत और नित्य है।
, काल, मन तथा आत्मा इसे सीमित नहीं कर सकते। इन द्रव्यों का ईश्वर के साथ
संबंध है जो शरीर का आत्मा के साथ है। यद्यपि ईश्वर को मनुष्य के पाप और पुण्य
नुसार चलना पड़ता है, फिर भी यह सर्वशक्तिमान् है। वह सर्वज्ञ है क्योंकि उसे सभी
ों और घटनाओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त है। उसका ज्ञान नित्य है। इस नित्य ज्ञान
रा यह सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ईश्वर नित्य-ज्ञान युक्त
अर्थात् वह नित्य-ज्ञान का आश्रय है। अतः वह उस ज्ञान के साथ अभिन्न नहीं है
कि अद्वैत वेदांत मानता है। ईश्वर के छः गुण हैं जिसे 'षडैश्वर्य' कहते हैं। ये
र्य गुण उसमें पूर्णरूप से वर्तमान हैं। इसके अनुसार ईश्वर में अखंड
ऐश्वर्य (अर्थात् आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य) हैं।[1]

ईश्वर संसार का निमित्त कारण है किंतु जीवात्माओं के कार्यों का वह प्रयोजक-
ा है। कोई भी जीव, यहाँ तक कि कोई भी मनुष्य, अपने कार्यों को करने में पूर्णरूप
र संसार का व्यवस्थापक है से स्वतंत्र नहीं है। वह केवल अपेक्षाकृत स्वतंत्र है। अर्थात् वह
परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। जिस प्रकार
कोई बुद्धिमान् एवं दयालु पिता अपने पुत्र को उसकी मेधा, योग्यता
एवं उपार्जित गुण के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है, उसी
र ईश्वर भी सभी जीवों को अपने-अपने अदृष्ट (अतीत संस्कार) के अनुसार कर्म
को तथा उनके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता तो
के द्वारा अपने अदृष्ट (या अतीत कर्म) के अनुसार प्रेरित या प्रयोजित
। अतः ईश्वर को जीव के कर्मों का प्रयोजक-कर्त्ता कहते हैं। इस
संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का धर्म-व्यवस्थापक है, उनका कर्म-
दाता और उनके सुख-दुःखों का निर्णायक है।[2]

(२) ईश्वर के लिए प्रमाण

ईश्वर के स्वरूप का विचार तो हमने ऊपर किया है, किंतु प्रश्न यह है कि ईश्वर के
तत्व के लिए क्या-क्या प्रमाण है? न्याय-वैशेषिक दर्शन में इसके लिए अनेक प्रमाण हैं
के अंदर पाश्चात्य दर्शन के ईश्वर संबंधी प्रायः सभी प्रमाण आ जाते हैं। यों तो
-दर्शन में ईश्वर के लिए प्रायः दस प्रमाण दिए गए हैं, किंतु हम यहाँ मुख्य-मुख्य
णों का ही उल्लेख करेंगे।

(क) इस संसार का जो कर्त्ता है वही ईश्वर है

परमाणुओं से बनी हुई, पर्वत, समुद्र जैसी जितनी सावयव वस्तुएँ हैं सबों के कारण
योंकि सभी घट की तरह कार्य हैं। उपर्युक्त प्रकार की सभी वस्तुएँ कार्य हैं इसके लिए

देखिए, षड्दर्शन-समुच्चय, अध्याय १; कुसुमांजलि, ५
न्याय-भाष्य, ४. १. २१

दो प्रमाण हैं। एक तो वे सावयव हैं, दूसरे वे मध्यम-परिमाण के हैं। दिक्, काल, आकाश, आत्मा कार्य नहीं हैं क्योंकि ये सावयव नहीं, प्रत्युत विभु हैं। क्षिति, जल, तेज और

सावयव वस्तुओं का कर्त्ता आवश्यक है—वह ईश्वर है

वायु के परमाणु तथा मन भी कार्य नहीं हैं क्योंकि वे अणु तथा निरवयव हैं। किंतु इनके अतिरिक्त पर्वत और समुद्र, सूर्य और चंद्र, और नक्षत्र जैसी जितनी सावयव वस्तुएँ हैं, सभी के कुछ न कुछ कारण अवश्य हैं, क्योंकि एक तो ये सावयव हैं, दूसरे ये न तो विभु हैं और न अणु ही हैं। ये सभी वस्तुएँ कई उपादान-कारणों के संयोग से ही बनी हुई हैं। अतः इनका कोई न कोई बुद्धिमान् कर्त्ता अवश्य होगा, क्योंकि बिना किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के संचालन से इन वस्तुओं के उपादान-कारणों में वैसा आकार या रूप नहीं आ सकता जो उनमें पाया जाता है। [illegible] का) साधन के बारे [illegible] और साथ-साथ प्रयत्न की शक्ति होना भी आवश्यक है। इन्हें संक्षेप में 'ज्ञान-चिकीर्षा-कृति' कहते हैं। उसे सर्वज्ञ भी होना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ ही परमाणु जैसी सूक्ष्म सत्ता का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व बिलकुल असंदिग्ध है।[1]

नैयायिकों की यह युक्ति पॉल जाने (Paul Janet)[2], हर्मन लॉट्ज़ा (Hermann Lotze)[3], जेम्स मार्टिनो (James Martineau)[4] जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों के ईश्वर-संबंधी कारण-मूलक युक्ति (Causal Argument) से बहुत मिलती है। इनके अनुसार भी इस वस्तु-जगत् का निर्माण किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि वही उपादान कारणों को आकार और रूप दे सकता है। जाने कहते हैं कि वस्तुओं के जितने भी प्रकार के संयोग होते हैं उनके लिए बुद्धिमान् कर्त्ता की आवश्यकता है, क्योंकि वही भिन्न वस्तुओं में संयोग ला सकता है। उसी प्रकार लॉट्ज़ा और मार्टिनो भी साधारण जड़-द्रव्यों के कारण-कार्य सिद्धांत के द्वारा एक ऐसी चेतना सत्ता की स्थापना करते हैं जो संसार का आदि-कारण है। बुद्धिमान कर्त्ता ही संसार का निमित्त-कारण है, यह नैयायिक-मत मार्टिनो के मत से बहुत मिलता है। उनका मत है कि सृष्टि की इच्छा ही जगत् का कारण है। यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि इन पाश्चात्य ईश्वरवादियों में तथा नैयायिकों में कुछ भेद भी है। पाश्चात्य ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर जगत् के उपादानों का केवल संयोजक नहीं है, बल्कि उन उपादानों का स्रष्टा भी है। नैयायिकों के अनुसार वह केवल संयोजक ही है, उपादानों का स्रष्टा नहीं है। किंतु न्याय-मत पाश्चात्य डीज़्म (Deism) अर्थात् केवल निमित्त ईश्वरवाद के बिलकुल

---

१ कुसुमांजलि, ५; सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय, ११, तर्क-संग्रह और दीपिका २१-२२,

२ *Final Cause* भाग १, अध्याय १.

३ Outlines of a Philosophy of Religion अध्याय १ और २,

४ A Study of Religion भाग २, अध्याय १,

है। ह्यूम के अनुसार ईश्वर जब संसार की सृष्टि कर लेता है तो उससे वह पृथक् हो जाता है। तब वह संसार की घटनाओं से कोई संबंध नहीं रखता। जिस तरह घड़ीसाज घड़ी के बिगड़ जाने पर ही उसे फिर ठीक करता है, उसी तरह ईश्वर भी केवल आवश्यक परिस्थितियों में ही संसार की देख-रेख करता है। किंतु न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वदा ही संसार से संबंध रखता है। क्योंकि वह संसार का केवल स्रष्टा ही नहीं है, वरं इसका रक्षक और संहारक भी है। वह जीव का भी सदा प्रयोजक है।

(ख) अदृष्ट का अधिष्ठाता ईश्वर है

ईश्वर-सिद्धि के लिए नैयायिकों की दूसरी युक्ति यह है। इस युक्ति के मूल में एक प्रश्न है कि हमलोगों के भाग्यों में जो अंतर है उसका कारण क्या है? कुछ लोग सुखी हैं तो कुछ दुःखी, कुछ बुद्धिमान हैं तो कुछ मूर्ख। हमारे ऐहिक जीवन में जो ऐसी-ऐसी भिन्नताएँ हैं, उनका क्या कारण है? हम यह नहीं कह सकते कि उनका कारण है ही नहीं, क्योंकि ये भी तो जीवन की घटनाएँ हैं और कोई भी घटना बिना कारण के नहीं होती। हमारे जीवन में जो सुख या दुःख पाए जाते हैं उनके कारण हमारे इस जीवन के या पूर्वजीवन के कर्म ही हैं। हमारे सुकर्मों से हमें सुख एवं कुकर्मों से दुःख मिलते हैं। हमारे जीवन में जो इस प्रकार की व्यवस्था है उसका नियामक 'कर्म' है। कर्म-नियम के अनुसार मनुष्य अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य पाता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह तो कारण-कार्य-सिद्धांत के बिलकुल अनुकूल है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है और प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न होता है। जो कारण-कार्य-नियम को मानता है और जो इस नियम का प्रयोग आचार-संबंधी विषयों में करता है, वह तो यह अवश्य स्वीकार करेगा कि हमारे कर्म भी उसी प्रकार कारण हैं जिस प्रकार वाह्य जगत् की घटनाएँ कारण समझी जाती हैं। जिस प्रकार शारीरिक क्रियाएँ शारीरिक कार्य उत्पन्न करती है, और मानसिक क्रियाएँ मानसिक कार्य उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार अच्छे या बुरे कर्मों से अच्छे या बुरे फल अर्थात् सुख या दुःख की उत्पत्ति अवश्य होती है। अतः हमारे सुख या दुःख का कारण हमारा कर्म ही है।

यदि संसार की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर से हुई है, जो सर्वशक्तिमान् और परम गुणवान् है, तो यह सोचना बिलकुल युक्तिपूर्ण है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा। यदि ईश्वर संसार का स्रष्टा और धर्म-व्यवस्थापक भी है तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमलोग अपने कर्मों के लिए ईश्वर के सम्मुख अवश्य उत्तरदायी हैं। साथ-साथ इसका मतलब यह भी होता है कि ईश्वर इस बात का विचार करता है कि हमारे कर्म लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक हैं या नहीं, हम ईश्वर और अन्य मनुष्यों के प्रति अपने कर्त्तव्य करते हैं या नहीं। इन बातों को ध्यान में रखकर ईश्वर हमारे कर्मों को अच्छा या बुरा ठहराता है। अतएव यह भी कोई असंगत विचार नहीं है कि ईश्वर हमें अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कृत करता और बुरे कर्मों के लिए दंड देता है। अतः संसार यदि ईश्वर का बनाया है तो वहाँ अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा अवश्य ही होगा।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। हम देखते हैं कि प्रायः कर्म और फल के [illegible] का बहुत ज्यादा अंतर पाया जाता है। तो फिर दोनों में कार्य-कारण संबंध कैसे [illegible] जाता है ? हमारे कितने ही ऐसे दुःख हैं, जिनका कारण [illegible] जीवन में पाया ही नहीं जाता। [illegible] के कर्मों के कारण ही होते है, वे [illegible] नहीं हो जाते हैं, बल्कि कुछ समय के बाद उत्पन्न होते हैं। [illegible] वस्था का पापी बुढ़ापे में दुःख भोगता है। इसका मतलब [illegible] कि हमारे आत्माओं में अच्छे कर्म पुण्य को और बुरे कर्म पाप को [illegible] करते हैं और यह पुण्य या पाप कर्मों के नष्ट हो जाने पर आत्मा में रह [illegible] अच्छे या बुरे कर्मों से उत्पन्न पुण्यों या पापों का भंडार 'अदृष्ट' कहलाता है। [illegible] कल्पना कोई गूढ़ या रहस्यात्मक कल्पना नहीं है। यह तो विदित ही है कि अच्छे [illegible] मन पर पवित्र प्रभाव पड़ता है और बुरे कर्मों का दूषित प्रभाव पड़ता है। यह भी [illegible] है कि धर्म के आचरण से निर्भयता, प्रसन्नता, शांति आदि सुखों की वृद्धि होती है, अधर्म के आचरण से शंका, चंचलता, अशांति आदि दुःखों की वृद्धि होती है। [illegible] अदृष्ट जो पूर्वकर्मों से उत्पन्न पाप और पुण्य का भंडार है, हमारे वर्तमान सुख-दुःख उत्पन्न करता है।

पाप और पुण्य के संग्रह को अदृष्ट कहते हैं। अदृष्ट ही हमारे भाग्य-भेद का कारण है

लेकिन एक प्रश्न फिर उठ सकता है कि अदृष्ट कर्मों एवं उनके फलों में [illegible] ला सकता है ? अदृष्ट तो अचेतन है। यह स्वयं नहीं समझ सकता कि किसी [illegible] किस प्रकार का या किस मात्रा का सुख या दुःख होगा। [illegible] परिचालन के लिए एक बुद्धिमान संचालक की परम आवश्यक[illegible] अदृष्ट का संचालक जीवात्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि [illegible] अपने अदृष्ट के संबंध में स्वयं कुछ नहीं जानता और अदृष्ट [illegible] आत्मा की इच्छाओं के विरुद्ध भी हो सकता है। अतः अदृष्ट [illegible] संचालक नित्य, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ परमात्मा [illegible] सकता है। कांट कहते हैं कि ईश्वर ही पुण्य के साथ सुख और पाप के साथ दुःख [illegible] करते हैं। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान और शक्तिशाली राजा अपनी प्रजाओं को अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दंड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी हमें [illegible] कर्मानुसार सुख या दुःख प्रदान करता है।[१]

किंतु अदृष्ट के अचेतन होने के कारण ईश्वर का मानना आवश्यक है

(ग) धर्म-ग्रंथों की प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है

ईश्वर के अस्तित्व का एक तीसरा प्रमाण वेदों की प्रामाणिकता है। सभी धर्म [illegible] अपने धर्म-ग्रंथों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि [illegible] प्रामाणिकता का क्या कारण है ? नैयायिकों के अनुसार वेदों के प्रामाण्य का [illegible]

१ कुसुमांजलि, १

हैं। जिस प्रकार विज्ञानों का प्रामाण्य उनके प्रवर्तकों पर निर्भर है, उसी प्रकार वेदों के प्रामाण्य का कारण वह है जिसने उन्हें प्रामाणिकता प्रदान की है। वेदों की प्रामाणिकता की जाँच हम अन्य विज्ञानों की तरह ही कर सकते हैं। किंतु ऐसी जाँच हम केवल वेदों के लौकिक विधानों के बारे में ही कर सकते हैं। उनके अलौकिक विधानों की जाँच ...कार नहीं की जा सकती है। लेकिन फिर भी हम संपूर्ण वेद को ठीक उसी तरह ...क मान सकते हैं जिस तरह किसी विज्ञान के कुछ अंशों को ही जाँच कर हम उसे प्रामाणिक मानते हैं। तो हम देखते हैं कि वेदों की प्रामाणिकता उनके रचयिता पर है। वेदों का रचयिता जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव उनके अलौकिक एवं ...य विषयों को नहीं जान सकता है। अतः वेदों का कर्त्ता एक ऐसा पुरुष है जो भूत, ...न और भविष्य, मध्य-परिणामी, विभु और अणु-इंद्रिय-गम्य और अतींद्रिय सभी ...का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य धर्म-...की तरह वेदों की अभिव्यक्ति भी ईश्वर के द्वारा ही हुई है।[1]

...के द्वारा व्यक्त ...कारण ही प्रामाणिक हैं

(घ) आप्त-वचन भी ईश्वर को प्रमाणित करता है

...श्वर के अस्तित्व का चौथा प्रमाण यह है कि श्रुति इसके अस्तित्व को मानती है। ...आप्त-वचनों को हम यहाँ उद्धृत कर सकते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (४. ४. २२, २४) में कहा गया है कि परमात्मा ही सबों का स्वामी है, सबों का शासक है, सबों का रक्षक है ······, सभी प्रकार के नैवेद्यों का अधिकारी परमात्मा है, पुरस्कारों का दाता भी वही है। श्वेताश्वतर-...द् (६-११) में कहा गया है कि सभी विषयों में एक ही ईश्वर निहित है, वह सर्वव्यापी ...ी विषयों का अंतस्तम आत्मा है, और सबों का व्यवस्थापक एवं संरक्षक है। ...क्युपनिषद् (४. १८) में कहा है कि वह सभी आत्माओं का शासक है और संसार ...र्ता है। भगवद्गीता (नवाँ अध्याय, १७-१९) में भी भगवान् कहते हैं कि मैं ही विश्व ...ता-पिता हूँ, मैं ही इसका प्रतिपोषक हूँ और मैं ही इसका अपरिवर्तनशील स्वामी हूँ। ...र कहते हैं कि मैं ही सबों की अंतिम गति हूँ, भर्त्ता हूँ, प्रभु हूँ, साक्षी हूँ, निवास हूँ, ...है, सुहृत् हूँ, आधार हूँ और उत्पत्ति एवं नाश का अपरिवर्तनशील कारण हूँ।

ईश्वर को ...त करती है

...आप्त-वचन इस बात को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ...लेकिन यहाँ एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि केवल आप्त-प्रमाण के आधार पर ...का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? साधारण मनुष्य, जिसे समीक्षा की प्रवृत्ति ...रहती है, वह भले ही इसे मान सकता है। किंतु दार्शनिक तो कहेगा कि दर्शन में आप्त-वचनों का कोई प्रामाण्य नहीं है। दार्शनिक के अनुसार लौकिक या अलौकिक किसी भी प्रकार के विषय की सिद्धि के लिए केवल युक्तियाँ ही आवश्यक हैं। उसके अनुसार तो जब तक उचित युक्तियाँ ...ी जाएँ तब तक आप्त-वचन बिलकुल बेकार होते हैं। वह ईश्वर-सिद्धि के लिए परंपरागत

प्रामाणिक है?

[1] न्याय भाष्य, २. १ ६८; कुसुमांजलि, ५, पृ० ६२

प्रमाणों को बतलाते हुए कह सकता है कि ये ही ईश्वर अस्तित्व के यथार्थ प्र
किंतु जैसा इमैनुवेल कांट (Immanual Kant)[1] और उनके पश्चात् हर्मन
(Hermann Lotze)[2] ने बतलाया है, ईश्वर-सिद्धि के लिए प

ईश्वर-सिद्धि के परंपरागत प्रमाण यथार्थतः प्रमाण नहीं हैं

गत जितनी भी युक्तियाँ हैं उनमें एक भी ईश्वर को सिद्ध
नहीं कर सकतीं। किसी विषय को सिद्ध करने का अर्थ
अभ्युपगमों से अर्थात् स्वीकृत वाक्यों से अनुमान द्वारा
अस्तित्व दिखलाना। किंतु ईश्वर का अनुमान हम ऐसे
के आधार पर नहीं कर सकते हैं,
का आधारभूत सत्ता है; और सब प्रमाणों का चरम आधार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। त
के द्वारा किसी भी वा

किसी वस्तु के अस्तित्व के लिए अनुभव ही एकमात्र प्रमाण हैं

लाल और पीले रंग को देखकर उसके बारे में ज्ञान सकता
जो व्यक्ति जन्म का अंधा है वह रंगमात्र के बारे में कुछ
सकता, चाहे वह लाख तर्क क्यों न करे। यदि किसी प्रकार
द्वारा इस अंधे व्यक्ति की दृष्टि ठीक हो जाए तो वह प्रथम बार देखकर ही रंगों
ज्ञान प्राप्त कर ले सकता है। लॉट्जा ने ईश्वर-संबंधी हमारे ज्ञान के संबंध
कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए जितनी युक्तियाँ दी जाती हैं वे तो
पूर्व से वर्तमान हमारे विश्वास के समर्थन के लिए मिथ्या युक्ति मात्र हैं।
केवल यह संकेत करती हैं कि हम भिन्न-भिन्न ढंगों से पारमार्थिक सत्ता के सं

तर्क से नहीं प्रत्युत साक्षात् अनुभूति से ईश्वर का ज्ञान हो सकता है

सकते हैं। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि ईश्वर का
अनुभव के द्वारा ही हो सकता है, किसी तार्किक युक्ति के द्वा
और यदि साक्षात् अनुभव ही वर्तमान रहे तो फिर युक्ति
आवश्यकता है? आप जो अभी इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं
को स्पष्ट करने के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता
ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान न रहने पर आप युक्तियों का ढेर लगाकर भी उनके म
विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

जिन्हें साक्षात् अनु-भव नहीं उन्हें आप्त-वचन पर निर्भर करना चाहिए

जिन्हें ईश्वर का या अन्य अलौकिक सत्ता का साक्षात् अनुभव नहीं रहता
उनका ज्ञान पाने के लिए ऋषियों जैसे शुद्ध-चित्त मह
आप्त-वचनों पर निर्भर करना पड़ता है। अतः श्रुति
ईश्वरदर्शी महात्माओं के ज्ञानों का संग्रह है, ईश्वर-सिद्धि
अवश्य मानना चाहिए। जिस प्रकार वैदिक नियम

१ E. Caird, The Critical Philosophy of Kant खंड २, अ
देखिए।

२ Outlines of a Philosophy of Religion अध्याय १ देखिए।

ाए वैज्ञानिक एवं उनके विधान ही प्रमाण हैं, उसी प्रकार ईश्वर-सिद्धि के लिए श्रुति ्माण हैं।[1]

(३) ईश्वर-विरोधी युक्तियाँ और उनके उत्तर

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि तीसरी और चौथी युक्तियाँ परस्पर विरोधी । तीसरी युक्ति में यह दिखलाया गया है कि ईश्वर ने ही वेदों को व्यक्त किया है। किंतु चौथी युक्ति में कहा गया है कि वेद ईश्वर का प्रमाण है। अतः हम देखते हैं कि एक युक्ति में ईश्वर से वेदों के प्रमाण की सिद्धि होती है और दूसरी में वेदों से ईश्वर की सिद्धि की जाती है। लेकिन विचारपूर्वक यदि देखें तो इनमें अन्योन्याश्रय का यह दोष नहीं पाया ा। किसी विषय का विचार हम दो दृष्टियों से कर सकते हैं—ज्ञान की दृष्टि से और त्व की दृष्टि से। अस्तित्व की दृष्टि से ईश्वर ही प्रथम है, उसने ही वेदों को व्यक्त ा है एवं उन्हें प्रामाणिक रूप दिया है। किंतु मनुष्य के ज्ञान की दृष्टि से वेद ही प्रथम योंकि उन्हीं के द्वारा हम ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वेदों के ज्ञान के लिए यह श्यक नहीं कि हम ईश्वर पर निर्भर करें, क्योंकि उनका ज्ञान तो किसी योग्य शिक्षक ारा भी हो सकता है। सभी परस्परापेक्ष विषयों में अन्योन्याश्रय का दोष नहीं होता। में यह दोष तभी होता है जब वे एक दृष्टि से ही परस्पर निर्भर होते हैं। ऊपर की ्तयों में वेद के अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर माना है, हमारे ज्ञान के लिए नहीं। ी प्रकार ईश्वर को ज्ञान के लिए वेद पर निर्भर माना है, अस्तित्व के लिए नहीं। अतः अन्योन्याश्रय-दोष नहीं है।[2]

न्याश्रय-दोष ाक्षेप और ा समाधान

न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध एक दूसरा भी आक्षेप किया जाता है। वह यह है कि दि ईश्वर इस संसार का कर्त्ता है तो वह अवश्य शरीरी होगा क्योंकि बिना शरीर के कोई कर्म नहीं किया जा सकता। नैयायिक कहते हैं कि यह आक्षेप युक्तिहीन है क्योंकि यदि ईश्वर का अस्तित्व श्रुति के द्वारा सिद्ध हो गया है तब तो उपर्युक्त आक्षेप निरर्थक है। क्योंकि जो सिद्ध हो या है उसके विरुद्ध फिर आक्षेप क्या? और यदि उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हुआ है ो फिर उसके कर्म के विरुद्ध आक्षेप करना भी तो उसी प्रकार निरर्थक है।[3]

ूसरा आक्षेप और सका समाधान

सृष्टि के प्रयोजन को लेकर एक तीसरा भी आक्षेप किया जाता है। ईश्वर ने किसी प्रयोजन के लिए ही संसार की सृष्टि की है, क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई व्यक्ति कुछ नहीं करता है। प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने किस प्रयोजन के लिए संसार की सृष्टि की है? यह तो स्पष्ट है कि इससे ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो पूर्ण है, उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं मानी जा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि दूसरों के प्रयोजन

तीसरा आक्षेप और उसका समाधान

---

१ कुसुमांजलि, ५

२ सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय ११,

३ सर्व-दर्शन-संग्रह, ११

के लिए यह सृष्टि हुई है क्योंकि जो केवल दूसरों के लिए प्रयत्न करता है वह बुद्धिमान् नहीं समझा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर ने करुणावश इस संसार की सृष्टि की है। ऐसी बात यदि होती तो वह सभी जीवों को पूर्ण सुखी बना देता और उन्हें दुःख से पीड़ित नहीं होने देता जैसा वे होते रहते हैं। निःस्वार्थ भाव से दूसरे के दुःख से विमुक्त करने की इच्छा ही को तो करुणा कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर को हम संसार का कर्त्ता नहीं मान सकते हैं। नैयायिक इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ने ठीक ही करुणावश संसार की सृष्टि की है। लेकिन सृष्टि केवल सुखमय हो—यह कल्पना बिलकुल अनुचित एवं निराधार है। सृष्टि तो जीवों के पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार होती है। अतः इसमें सुख और दुःख दोनों का होना बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि चूंकि ईश्वर को सृष्टि के लिए जीवों के कर्मों के अनुसार चलना पड़ता है इसलिए वह परतंत्र है। जिस प्रकार किसी का शरीर उसको परतंत्र नहीं बनाता प्रत्युत कर्म करने के लिए एवं लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उसका सहायक ही होता है, उसी प्रकार यह संसार ईश्वर को न तो परतंत्र सिद्ध करता है और न उसका बाधक ही बनता है। वह तो उचित लक्ष्यों की प्राप्ति में उसे सहायक ही होता है।[1]

६. उपसंहार

न्याय-दर्शन अपने प्रमाण-विचार के कारण ही इतना उच्च और महान् है। प्रमाण-विचार पर ही उसका दार्शनिक मत अवलंबित है। भारतीय दर्शन के विरुद्ध एक आक्षेप यह किया जाता है कि यह आप्त-वचनों पर अवलंबित है, इसलिए युक्ति प्रधान नहीं है। किंतु न्याय-दर्शन से इस आक्षेप का पूरा निराकरण हो जाता है। न्याय का प्रमाण-शास्त्र केवल न्याय वैशेषिक-दर्शन का ही आधार नहीं है। न्याय-दर्शन में आत्मा और पारलौकिक सत्ता-संबंधी प्रश्नों का समाधान तर्क-युक्ति के द्वारा ही किया गया है। इसी के द्वारा यह यथार्थ ज्ञान पाने का प्रयत्न करता है और इसी के कारण आक्षेपों का खंडन भी करता है। किंतु इसके सत्ता-संबंधी जो विचार और मत हैं वे उतना मान्य नहीं हैं जितना इसका तर्क-शास्त्र है। न्याय के अनुसार इस संसार में परमाणु, मन, आत्मा और ईश्वर आदि अनेक स्वतंत्र सत्ताएँ हैं, जो दिक्, काल और आकाश में एक दूसरे से अलग-अलग स्थित हैं। न्याय संपूर्ण विश्व के अंतर्गत एक ही परम सत्ता का अस्तित्व नहीं मानता और इस तरह अद्वैतवाद को प्रश्रय नहीं देता। दार्शनिक दृष्टि से न्याय, सांख्य या वेदांत से कुछ हीन समझा जाता है। क्योंकि इसके अनुसार आत्मा स्वभावतः चेतन नहीं है। आत्मा का जब शरीर के साथ संयोग होता है, तभी वह आकस्मिक रूप से चेतन हो जाता है। किंतु इस मत का खंडन तो हमारी अपनी अनुभूतियों से ही हो सकता है। हमें इस बात का साक्षात् अनुभव होता है कि चैतन्य आत्मा का स्वभाव ही है, यह उसका कोई आकस्मिक गुण नहीं। न्याय यह भी मानता है कि मुक्त आत्मा चेतनाहीन होता है और इसलिए

---

1 सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय 11

ड़-द्रव्यों से इनको पृथक् करना कठिन है। न्याय-दर्शन में ईश्वर को संसार का कर्त्ता ाना गया है। अर्थात् उसे केवल निमित्त-कारण माना गया है, उपादान-कारण नहीं। इससे यह मालूम पड़ता है कि भगवान् की तुलना मनुष्य जैसे कर्त्ताओं के साथ की गई है। पादानों से वस्तुओं के निर्माण का कार्य तो मनुष्यों में प्रायः देखा जाता है। यह सही है कि न्याय में कहीं-कहीं कहा गया है कि ईश्वर के साथ इस संसार का वही संबंध है जो रीर का आत्मा के साथ है। किंतु न्याय में इस विचार का विस्तार पूर्णेश्वरवाद Theism) के रूप में नहीं हुआ है। फिर भी हमारे जीवन के लिए न्याय का स्तिकवाद भी कम शिक्षाप्रद और संतोषजनक नहीं है।

द्रव्य नौ प्रकार के हैं।

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा और (९) मन। इनमें प्रथम पाँच 'पंचभूत' कहलाते हैं क्योंकि प्रत्येक में कोई न कोई विशेष गुण पाया जाता है जिसका बाह्येंद्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। पृथ्वी का विशेष गुण है गंध। और-और वस्तुओं में (जैसे जल या वायु में) जो गंध का अनुभव होता है वह इस कारण से कि उनमें कुछ पृथ्वी का अंश भी सम्मिलित रहता है। इसलिए गंदा पानी महँकता है, स्वच्छ जल नहीं। जल का विशेष गुण है रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द। ये पाँचो विशेष गुण बाह्येंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। जिस इंद्रिय से जिस विशेष गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है,

की उत्पत्ति होती है। जैसे, घ्राणेंद्रिय पृथ्वी के

के तत्त्वों से। इसी तरह चक्षु (आँख) का उपादान कारण तेज, त्वचा का वायु, श्रवणेंद्रिय (कान) का उपादान कारण आकाश है। पार्थिव द्रव्य गंधयुक्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि घ्राणेंद्रिय—जिससे गंध का ज्ञान होता है—पार्थिव है। इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करनेवाले इंद्रिय क्रमशः तेज, जल, वायु और आकाश के कार्य समझे जाते हैं।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं और उनसे बने कार्य-द्रव्य अनित्य हैं

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये द्रव्य कारण-रूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य होते हैं। अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं क्योंकि परमाणु निरवयव, अनादि और अनंत होता है। इनके अतिरिक्त सभी कार्य-द्रव्य जो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं और इसलिए (संयोगज या सावयव होने के कारण) अवश्य विश्लेष या विनाश को प्राप्त हो सकते हैं, अनित्य हैं।

सामान्यतः परमाणु प्रत्यक्षगोचर नहीं होता। परमाणुओं का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है। संसार के सभी कार्यद्रव्य (जैसे, घड़ा, कुर्सी, टेबुल आदि) सावयव होते हैं। जो भी कार्यद्रव्य होता है वह सावयव होता है, क्योंकि कार्य का अर्थ ही है भिन्न-भिन्न अवयवों का एक विशेष रूप से संयुक्त होना। अब यदि हम किसी कार्यद्रव्य के अवयवों का विभाग करते चले जाएँ तो क्रमशः महत् से क्षुद्र, क्षुद्र से क्षुद्रतर और अंततः ऐसे सूक्ष्म अवयवों पर पहुँच जाएँगे जिनका किसी प्रकार विभाग नहीं हो सकता। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म कणों को परमाणु कहते हैं। परमाणु अनादि है, क्योंकि वह निरवयव होता है और उत्पन्न होने का अर्थ है अवयवों से संयुक्त होना। परमाणु का नाश भी नहीं हो सकता क्योंकि नाश का अर्थ है अवयवों का विच्छेद होना और परमाणु के अवयव नहीं होते। इस प्रकार अनादि और अनंत होने के कारण परमाणु नित्य हैं।

पाँचवाँ भौतिक द्रव्य आकाश है जो शब्द का आधार है। शब्द प्रत्यक्ष होता है किंतु आकाश नहीं। किसी द्रव्य का बाह्य प्रत्यक्ष होने के लिए उसमें दो बातों का होना

आवश्यक है—(१) महत्त्व (बड़ा परिमाण) और (२) उद्‌भूतरूपवत्व (प्रकट रूप), आकाश का कोई सीमित परिमाण या रूप नहीं होता। यह शब्द का सर्वव्यापी आधार है और शब्द ही के ज्ञान से इसका अनुमान किया जाता है। प्रत्येक गुण का कुछ-न-कुछ आधार होना चाहिए। शब्द, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इनमें किसी का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि इन द्रव्यों के गुण (गंध, रस, रूप, स्पर्श) श्रवणगोचर नहीं ते और शब्द श्रवण-गोचर होता है। इसके अतिरिक्त इन द्रव्यों से रिक्त—अपेक्षाकृत न्य—स्थान में भी शब्द का प्रादुर्भाव होता है।

[margin: काश नित्य, व्यापी और प्रत्यक्ष है]

शब्द दिक्, काल, आत्मा और मन का भी गुण नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द के भाव में भी ये विद्यमान रहते हैं। इसलिए शब्द का आधार एक पृथक् द्रव्य मानना होगा। ही आकाश है। आकाश एक और नित्य है क्योंकि यह निरवयव है। ऊपर, नीचे और ारो दिशाओं के शब्द के मालूम होने के कारण उसका आधार द्रव्य आकाश भी सर्वत्र है; का अनुमान कर सकते हैं। अतः आकाश को एक, विभु या सर्वव्यापी, असीम द्रव्य नते हैं।

आकाश की तरह दिक् और काल भी अगोचर द्रव्य हैं। इनमें प्रत्येक एक, नित्य र सर्वव्यापी है। 'यहाँ' और 'वहाँ', 'निकट' और 'दूर'—इन प्रत्ययों का कारण है, जिसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। इसी तरह भूत, भविष्य, वर्त्तमान, प्राचीन और अर्वाचीन—इन प्रत्ययों का कारण काल है। आकाश, दिक् और काल—प्रत्येक निरवयव और सर्वव्यापी है, तथापि ाधि-भेद से ये नाना प्रतीत होते हैं और इनके अंश एक दूसरे से भिन्न मालूम होते हैं। घट के भीतर का आकाश बाहर के आकाश से पृथक् जान पड़ता है, यद्यपि आकाश एक इसी तरह 'पूर्व और पच्छिम', 'दिन और घंटा', दिक् और काल' के औपाधिक भेद हैं।

[margin: क् और काल अप्रत्यक्ष हैं]

आत्मा नित्य और सर्वव्यापी द्रव्य (विभु) है जो चैतन्य का आधार है। आत्मा दो प्रकार के होते हैं—(१) जीवात्मा और (२) परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर एक है और जगत्-कर्त्ता के रूप में उसका अनुमान किया जाता है। जीवात्मा का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। जैसे 'मैं सुखी हूँ, 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि विशेष अनुभवों के द्वारा जीवात्मा के गुण प्रकट होते हैं। जीवात्मा अनेक है। भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न जीवात्मा रहते हैं।

[margin: त्मा नित्य, ापक और चैतन्य आधार है]

जीवात्मा और उसके गुणों (सुख-दुःखादि) को प्रत्यक्ष करनेवाला आभ्यंतरिक धन या अंतरिंद्रिय मन है। यह परमाणु रूप है, अतः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसका अस्तित्व इन बातों से अनुमान किया जाता है—(१) जिस प्रकार जगत् के वाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए वाह्येंद्रियों की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार आभ्यंतरिक पदार्थों (जैसे ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःखादि के अनुभव आदि) के साक्षात्कार के लिए एक आभ्यंतरिक साधन (इंद्रिय) होना चाहिए। इसी का नाम मन है। (२) दूसरे, यह

[margin: न एक अगोचर णु द्रव्य है। मन अस्तित्व के ए प्रमाण]

देखने में आता है कि यद्यपि पांचों बाह्येंद्रिय एक ही समय अपने-अपने विषयों से संयुक्त रहते हैं तथापि हमें रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श इन सभी का एक साथ अनुभव नहीं होता। मान लीजिए, आप अपने घर में किसी मित्र के साथ वार्त्तालाप कर रहे हैं। आपकी नजर उनके चेहरे पर है, कान उनके शब्द सुन रहे हैं, त्वचा का संपर्क कुर्सी से है, स्वाद का मुंह में डाली हुई इलायची से, और टेबुल पर रखे हुए गुलदस्ते की खुशबू नाक में आ रही है। परंतु एक ही साथ इन सभी विषयों की अनुभूति आपको नहीं होती। (अर्थात् जिस क्षण में शब्द पर ध्यान है उस क्षण में कुर्सी के स्पर्श का नहीं।) ऐसा क्यों होता है? इस बात से सूचित होता है कि बाह्येंद्रियों का विषयों के साथ जो संपर्क है उसके अतिरिक्त भी कोई ऐसा कारण है जिसकी वजह से एक समय (क्षणविशेष) में एक ही विषय की अनुभूति हो सकती है अर्थात् भिन्न-भिन्न संवेदन एक साथ (युगपत्) नहीं होकर क्रमशः (आगे-पीछे) के संबंध से होते हैं।

एक ही समय में जो-जो विषय बाह्येंद्रियों के साथ संयुक्त रहते हैं उनमें उसी विषय का प्रत्यक्ष अनुभव (संवेदना) होता है, जिस ओर हमारा ध्यान रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्यक्षीकरण के लिए विषय पर मनोयोग होना भी आवश्यक है। प्रत्येक संवेदन में विषयेंद्रिय-संयोग के साथ-साथ मन का संयोग भी रहता है, नहीं तो उस विषय की प्रतीति होती ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि अंतरिंद्रिय के रूप में मन का अस्तित्व मानना जरूरी है। भिन्न-भिन्न प्रतीतियों के पौर्वापर्य संबंध से भी मन का अणुरूप (निरवयव) होना सिद्ध होता है। क्योंकि यदि मन अणु रूप नहीं होता तो इसके भिन्न-भिन्न अवयवों का संयोग एक ही साथ भिन्न-भिन्न इंद्रियों से हो सकता और इस तरह एक ही समय में अनेक प्रतीतियों का होना संभव होता। परंतु ऐसा नहीं होता। इससे हम यह मानते हैं कि मन निरवयव या अणुरूप है और प्रत्यक्ष का अभ्यंतरिक साधन है। यह अंतरिंद्रिय है जिसके द्वारा आत्मा विषयों को ग्रहण करता है।

(२) गुण[1]

गुण का लक्षण यों दिया गया है—"गुण वह पदार्थ है जो द्रव्य में ही रहता है और जिसमें और कोई गुण या कर्म नहीं रह सकता।" बिना किसी द्रव्य के (रूप, रस आदि) गुण नहीं रह सकते हैं। इसीलिए इन्हें गुण (अर्थात् पराश्रित, परतंत्र) कहते हैं। यह देखा गया है कि द्रव्य ही किसी कार्य का उपादान या समवायी कारण हो सकता है। केवल गौण रूप से द्रव्य में रहकर कार्य के होने में सहायक हो सकता है। अतः गुण कभी असमवायी कारण ही हो सकता है। गुण स्वयं निर्गुण होते हैं, इसलिए गुण का गुण होना असंभव है। जैसे, किसी वस्तु का रंग लाल है। यहाँ लाल रंग उस वस्तु विशेष का गुण है, किसी और गुण (जैसे रंग) का नहीं। गुण में गति (कर्म) नहीं होती अर्थात् यह द्रव्य में निष्क्रिय रूप से समवेत होकर स्थित रहता है। इस तरह गुण द्रव्य और कर्म, इन दोनों से भिन्न है।

गुण द्रव्यों में रहता है। गुण का गुण या कर्म नहीं होता

---

१ देखिए, वैशेषिक सूत्र १.१.१६, तर्कसंग्रह (गुण प्रकरण), तर्क भाषा पृष्ठ (...)

सब मिलाकर चौबीस प्रकार के गुण होते हैं—(१) रूप (२) रस (३) गंध (४) स्पर्श
) शब्द (६) संख्या (७) परिमाण (८) पृथक्त्व (९) संयोग (१०) विभाग

चौबीस प्रकार होते हैं

(११) परत्व (१२) अपरत्व (१३) बुद्धि (१४) सुख (१५) दुःख (१६) इच्छा (१७) द्वेष (१८) प्रयत्न (१९) गुरुत्व (२०) द्रवत्व (२१) स्नेह (२२) संस्कार (२३) धर्म (२४) अधर्म। में कई गुणों के अवांतर विभाग भी होते हैं। जैसे, रूप (रंग) के प्रभेद—श्वेत (उजला), (काला), रक्त (लाल), पीत (पीला), नील (नीला), हरित (हरा)। रस के द—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़ुआ), तिक्त (तीता), य (कसैला)। गंध दो प्रकार का होता है—सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श तीन तरह होता है—उष्ण (गर्म), शीत (ठंढा) और अशीतोष्ण (न ठंढा न गर्म)। शब्द दो र का होता है—ध्वन्यात्मक या अस्फुट शब्द (जैसे घंटी या शंख की ध्वनि), और मिक या स्फुट शब्द (जैसे 'क' का उच्चारण)।

संख्या पदार्थों का वह गुण है जिसके कारण हम एक, दो, तीन जैसे शब्दों का व्यवहार हैं। एक से लेकर ऊपर की ओर अनंत संख्याएँ हैं। परिमाण पदार्थ का वह गुण

ा, परिमाण पृथक्त्व

है जिसके कारण बड़े और छोटे का भेद दिखाई पड़ता है। यह चार प्रकार का होता है—(१) अणु (सबसे छोटा), (२) ह्रस्व (छोटा), (३) दीर्घ (बड़ा), (४) महत् (सबसे बड़ा)। पृथक्त्व वह गुण समके कारण एक वस्तु और दूसरी वस्तु में भेद दिखाई पड़ता है।

दो पृथक् रह सकनेवाले द्रव्यों के संबंध का नाम संयोग है, जैसे, पुस्तक का टेबुल ाथ। कारण और कार्य में जो संबंध है वह संयोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

ग और विभाग

कारण के बिना कार्य का पृथक् अस्तित्व असंभव है। संयोग के अंत या विच्छेद का नाम विभाग है। संयोग तीन तरह का होता है—

तर-कर्मज—जहाँ एक द्रव्य आकर दूसरे से मिल जाता है (जैसे, पक्षी उड़कर पहाड़ चोटी पर जा बैठता है), (२) उभय-कर्मज (जहाँ दोनो द्रव्यों का क्रिया से संयोग है, जैसे, दो पहलवान दो तरफ से आकर आपस में भिड़ जाते हैं) और (३) संयोगज हाँ एक संयोग से दूसरा संयोग हो जाता है, जैसे, मेरे हाथ में कलम है उससे कागज का ग हो रहा है। इस तरह मेरे हाथ का कागज के साथ जो गौण संबंध है वह संयोगज- ग है)। इसी तरह विभाग भी तीन प्रकार का होता है—(१) अन्यतर-कर्मज जहाँ एक की क्रिया से संयोग का अंत होता है। (जैसे, पक्षी उड़कर पहाड़ की चोटी पर से चला ा है), (२) उभय-कर्मज, जहाँ दोनो द्रव्यों की क्रिया से विभाग होता है (जैसे, दो वान एक दूसरे को छोड़कर अलग हो जाते हैं) और (३) विभागज, जहाँ एक विभाग सरा विभाग हो जाता है (जैसे, मैं कलम छोड़ देता हूँ तो कागज से भी हाथ का संबंध जाता है)।

परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं—कालिक और दैशिक। कालिक परत्व का

व और अपरत्व

अर्थ है प्राचीनत्व, कालिक अपरत्व का अर्थ है नवीनत्व। प्रकार दैशिक परत्व का अर्थ है दूरत्व, दैशिक अपरत्व का अर्थ है निकटत्व।

धर्म है जो उसी में स्थित रहता है। कर्म वह गतिशील व्यापार है जो पदार्थ को स्थानांतर में पहुँचा देता है। अतएव कर्म द्रव्यों के संयोग और विभाग का कारण होता है। कर्म

कर्म का अर्थ

का कोई गुण नहीं होता, क्योंकि गुण केवल द्रव्य ही में आश्रित रह सकता है। कर्मों का आधार केवल मूर्त-द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन) ही हो सकता है। सर्वव्यापी द्रव्यों में (यथा आकाश, दिक्, काल और आत्मा में) कर्म या गति का होना असंभव है क्योंकि ये एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाते।

कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—(१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), (२) अवक्षेपण (नीचे फेंकना), (३) आकुंचन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना) और (५) गमन

कर्म के भेद

(चलना)। जिस कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश के साथ संयोग होता है 'उत्क्षेपण' कहलाता है (जैसे, गेंद को ऊपर उछालना)। जिस कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है, वह 'अवक्षेपण' कहलाता है (जैसे, छत पर से नीचे पानी फेंकना)। 'आकुंचन' वह कर्म है जिसके द्वारा शरीर से और भी निकटतर प्रदेश के साथ संयोग होता है (जैसे, हाथ-पैर मोड़ना)। 'प्रसारण' वह कर्म है जिसके द्वारा शरीर से दूरवर्ती प्रदेश के साथ संयोग होता है, (जैसे हाथ-पैर फैलाना)। इन चारों के अतिरिक्त और जितनी भी गत्यर्थक क्रियाएँ हैं वे 'गमन' के अंतर्गत आ जाती हैं (जैसे, चलना, दौड़ना)। सभी कर्म प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। पृथ्वी, जल, तेज आदि दृष्टिगोचर द्रव्यों की गति का ज्ञान दर्शन वा स्पर्शन से हो सकता है। किंतु मन अगोचर पदार्थ है, अतः उसकी गति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

(४) सामान्य

एक ही प्रकार की वस्तु समानधर्म (साधर्म्य) रहने के कारण एक ही नाम से पुकारी जाती है। देवदत्त, यज्ञदत्त आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कुछ ऐसा सामान्य गुण है जिसके कारण वे 'मनुष्य' कहलाते हैं। इसी तरह गाय, घोड़ा आदि सभी जातिवाचक

'सामान्य' किसे कहते हैं ?

शब्दों के विषय में समझना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि वह कौन-सा पदार्थ है जिसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक जाति के अंतर्गत समाविष्ट होकर एक नाम से व्यवहृत होते हैं। न्याय-वैशेषिक उसी को सामान्य कहता है। पाश्चात्य दार्शनिक उसे *Universal* कहते हैं।

भारतीय दर्शन में सामान्य को लेकर तीन प्रमुख मत हैं। बौद्ध दर्शन का मत है कि व्यक्ति ही (जैसे, यह गाय, वह गाय), सत्य है, और व्यक्तियों के अतिरिक्त जाति (जैसे गोत्व) की कोई सत्ता नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में (जैसे गायों में) जो तादात्म्य

सामान्य-विषयक भिन्न-भिन्न मत
१. बौद्ध मत

की प्रतीति होती है वह एक नाम के कारण। केवल नाम ही सामान्य है। परंतु नाम किसी सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म का सूचक नहीं है। नाम का अर्थ केवल इतना ही है कि एक नाम वाले पदार्थ दूसरे नाम-वाले पदार्थ से भिन्न हैं। जैसे 'गाय' नाम से बोध होता है कि वह पशु-विशेष 'घोड़ा' नामधारी पशु से भिन्न है; यह नहीं कि सभी गायों में कुछ ऐसा

सामान्य धर्म है जिसके कारण वे 'गाय' कहलाती हैं। इस मत में सामान्य की सत्ता नहीं मानी जाती। केवल व्यक्ति को सत्य माना जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को एकरूप समझा जाता है। जहाँ न्यायवैशेषिक सामान्य जाति की कल्पना करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन केवल नाम और उसका विभेदक अर्थ स्वीकार करता है।[1] इस मत को नामवाद (Nominalism) या व्यक्तिवाद कह सकते हैं।

२. जैन और वेदांतमत

जैन[2] और अद्वैत वेदांती[3] का मत है कि व्यक्तियों के अतिरिक्त और उनसे भिन्न सामान्य की सत्ता नहीं है। व्यक्तियों का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म ही सामान्य है। इस तरह सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं, अभिन्न है। सामान्य का व्यक्तियों के साथ तादात्म्य-संबंध (relation of identity) है। 'सामान्य' कुछ बाहर से आकर व्यक्तियों में रह नहीं जाता, बल्कि वह उनका आंतरिक स्वरूप है जिसे बुद्धि ग्रहण करती है। इस मत को सामान्य-प्रत्ययवाद (Conceptualism) कह सकते हैं।

३. न्याय-वैशेषिक मत

न्याय-वैशेषिक[4] सामान्य के संबंध में जिस मत का प्रतिपादन करता है उसे वस्तुवाद (Realism) कह सकते हैं। उनके मतानुसार सामान्य नित्य पदार्थ है जो व्यक्तियों से भिन्न होते हुए भी उनमें समवेत है। एक ही सामान्य (जैसे गोत्व) अनेकानुगत (अनेक गौओं में समवेत) होता है। भिन्न-भिन्न गौओं में जो एकता की प्रतीति होती है यह इस सामान्य के कारण। उन सबों में जो एक सामान्य धर्म है उसी के कारण वे एक जाति की समझी जाती हैं और एक नाम से पुकारी जाती हैं। अतः गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य केवल मानसिक सामान्य प्रत्यय (Concept) मात्र नहीं है उसकी स्वतंत्र सत्ता है।

कुछ आधुनिक वस्तुवादियों (Neo-Realists)[5] का विचार है कि सामान्य एक नित्य कालातीत (Timeless) पदार्थ है जो अनेक विषयों (Particulars) में व्याप्त हो सकता है। ये नैयायिकों के साथ इस विषय में भी सहमत हैं कि सामान्य (Universals) में 'सत्ता' (Existence) जाति नहीं। 'सत्ता' जाति केवल द्रव्य-गुण और कर्म में रहती है। सामान्य की कोई जाति (सामान्य) नहीं होती। क्योंकि एक प्रकार की वस्तुओं में केवल एक ही सामान्य होता है। यदि एक ही प्रकार की वस्तुओं में दो या अधिक सामान्य पाए जाते तो उनमें परस्पर भेद या विरोध भी पाया जाना संभव होता और इस तरह उनका पृथक् करना असंभव हो जाता। अर्थात् उन्हीं व्यक्तियों का मनुष्यत्व गौओं में भी हो जाता और मनुष्यों में भी। परंतु ऐसा नहीं होता।

---

१ देखिए, तर्कभाषा पृ० २८। Six Buddhist Nyaya Tracts V.

२ देखिए, J. L. Jaini का Outlines of Jainism पृ० ११५

३ देखिए, वेदांत परिभाषा, अध्याय १

४ देखिए, तर्कसंग्रह, पृ० ८७, भाषापरिच्छेद मुक्तावली (८, १४, १५). तर्कभाषा पृ० २८, तर्कामृत अध्याय १, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० ११४

५ देखिए, Bertrand Russell, Problems of Philosophy, Chap. IX.

विस्तार या व्यापकता की दृष्टि से सामान्य के तीन भेद होते हैं—(१) पर, (२) अपर और (३) परापर।[1] सबसे अधिक व्यापक सामान्य को 'पर', सबसे कम व्यापक सामान्य को 'अपर' और बीचवाले सामान्यों को 'परापर' कहते हैं।

सामान्य के प्रभेद

'सत्ता' सबकी अपेक्षा अधिक व्यापक (द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में व्याप्त) होने के कारण परा जाति है। 'घटत्व' केवल घटों में सीमित होने के कारण अपर सामान्य है। 'द्रव्यत्व' दोनों के बीच में होने के कारण 'परापर' है। यह (द्रव्यत्व) घटत्व, पटत्व आदि की अपेक्षा पर और सत्ता की अपेक्षा अपर है।

(५) विशेष[2]

सामान्य का ठीक उलटा 'विशेष' है। जो द्रव्य निरवयव होने के कारण नित्य हैं; उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को ही 'विशेष' कहते हैं। ऐसे द्रव्य ये हैं—दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा चार भूतों के परमाणु। एक मन का भेद दूसरे से

विशेष क्या है ?

कैसे किया जाए ? जल के एक परमाणु और दूसरे परमाणु में क्या अंतर है ? उनमें समानता होते हुए भी स्पष्ट अंतर है। परंतु अवयवों की भिन्नता होने के कारण वे एक दूसरे से भिन्न हैं, ऐसी कल्पना तो नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके अवयव हैं ही नहीं। फिर यह अंतर है क्योंकि 'विशेष' के कारण। 'विशेष' के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से या एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न है। इन द्रव्यों के अपने-अपने व्यक्तिगत स्वरूप ही—जिनके कारण वे एक दूसरे से पहचाने जाते हैं—विशेष कहलाते हैं।

नित्य द्रव्यों में रहने के कारण विशेष भी नित्य हैं। घट, पट आदि अनित्य कार्यों को विशेष मानना अनावश्यक है। सावयव पदार्थ (जैसे कुर्सी, टेबुल आदि) तो अपने अवयवों की भिन्नता ही के द्वारा एक दूसरे से पहचान लिए जाते हैं।

विशेष नित्य, असंख्य और अगोचर हैं

उनका अंतर समझने के लिए विशेष की कल्पना आवश्यक नहीं। केवल निरवयव नित्य द्रव्यों का मूल अंतर विशेष के कारण होता है। ऐसे द्रव्य असंख्य हैं, इसलिए विशेष भी असंख्य हैं। विशिष्ट द्रव्य अपने विशेष के कारण पहचाने जाते हैं, विशेष स्वतः पहचाने जाते हैं। अतः विशेष का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। उन्हें अंत्य (Ultimate) समझना चाहिए। विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। वे परमाणु की तरह अगोचर पदार्थ हैं।

(६) समवाय[3]

न्याय-वैशेषिक में दो प्रकार के संबंध माने जाते हैं—संयोग और समवाय। पृथक्-

---

1. देखिए, भाषापरिच्छेद और मुक्तावली ८, ९। न्यायलीलावती पृ० ८०-८१। तर्कामृत, अध्याय १।
2. देखिए, तर्कसंग्रह पृ० ११, ८८; भाषापरिच्छेद, मुक्तावली १०, तर्कभाषा पृ० २८, तर्कामृत अध्याय १, पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० १६८
3. तर्कसंग्रह पृ. ८८, तर्कभाषा पृ० २, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १७१-७५; भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली ११, ६०

पृथक् वस्तुओं का कुछ काल के लिए परस्पर मिल जाना संयोग कहलाता है। यह

समवाय और संयोग

क्षणिक या अनित्य है। जैसे नाव का नदी के पानी के साथ संयोग युतसिद्ध संबंध है, अर्थात् दो द्रव्यों के युक्त होने से स्थापित होता है। जब तक संयोग का संबंध बना रहता है तब यह (संयोग) दोनों का उभयनिष्ठ गुण होकर रहता है, परन्तु युतसिद्ध द्रव्यों की सत्ता संयोग के अधीन नहीं रहती। नाव नदी के बाहर भी रह सकती है, नदी का अस्तित्व नाव के बिना भी रहता है। अर्थात् उनकी सत्ता संयोग पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार संयोग एक बाह्य संबंध है जो द्रव्यों के आकस्मिक गुण के रूप में प्रकट होकर उन्हें कुछ काल के लिए मिलाए रखता है।

संयोग के विपरीत, समवाय नित्य संबंध है। यह दो पदार्थों का वह संबंध है जिसके कारण एक दूसरे में समवेत रहता है। अवयवी अपने अंगों में; गुण या कर्म द्रव्य में; सामान्य, व्यक्तियों में; तथा विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत रहते हैं। इस प्रकार धागों में कपड़ा, गुलाब के फूल में लाल रंग, बहते हुए पानी में गति, भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों में सामान्य 'मनुष्यत्व' और एक परमाणु में उसका अपना धर्म 'विशेष' समवेत है।

समवाय नित्य अयुत-सिद्ध संबंध है

संयोग दो पृथक् वस्तुओं का अनित्य संबंध है, जो एक या दोनों के कर्म से उत्पन्न होता है (जैसे, दो नावों का आपस में मिल जाना)। इसके विपरीत, समवाय नित्य होता है। अवयवी सदा अपने अंगों में विद्यमान रहता है। जैसे, घड़ा जब तक बना रहता है तब तक भिन्न-भिन्न अवयवों में विद्यमान रहता है। गुण या कर्म भी किसी आधार-द्रव्य से संबद्ध रहता है। उसी तरह जब तक फूल रहता है, तब तक उसका साथ नहीं छोड़ता। इस प्रकार अवयवी का अंगों के साथ, गुण या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्ति के साथ और विशेष का नित्य द्रव्य के साथ जो संबंध है वह द्रव्यों के संयुक्त होने से उत्पन्न नहीं होता, उनमें स्वतः विद्यमान रहता है। अतः इस संबंध को 'अयुतसिद्धि' कहते हैं। यह संबंध उन्हीं दो पदार्थों में होता है जिनमें एक कम एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। संयुक्त पदार्थों का संबंध पारस्परिक होता है। जैसे, कलम कागज से संयुक्त है तो कागज भी कलम से संयुक्त है। परंतु समवाय संबंध में यह बात नहीं होती। जैसे, रंग ही फूल में (समवेत) रहता है, रंग में फूल नहीं रहता है।

(७) अभाव

ऊपर छः पदार्थों का वर्णन हो चुका है। अभाव वह पदार्थ है जो उपर्युक्त छः पदार्थों के अंदर नहीं आ सकता। अतः यह सातवाँ पदार्थ माना जाता है। इसका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। रात में जब हम आकाश की ओर देखते हैं तो उसमें सूर्य का नहीं होना वैसे ही निश्चित रूप से मालूम होता है जैसे चंद्रमा या तारों का होना। अतएव वैशेषिक अभाव को एक पदार्थ मानता है। कणाद ने पदार्थों में अभाव का नाम निर्देश नहीं किया है। कुछ लोग कहते हैं कि वे छः ही पदार्थ मानने के पक्ष में थे। परन्तु वैशेषिक-सूत्र में

अभाव क्या है?

: अभाव का प्रमेय रूप में उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रशस्तपाद-भाष्य जो वैशेषिक दर्शन का प्रामाणिक ग्रंथ है) अभाव का सविस्तर-वर्णन मिलता है। बातों से सूचित होता है कि छः भाव पदार्थों के अतिरिक्त सातवाँ पदार्थ 'अभाव' भी स्वीकार महर्षि कणाद को स्वीकार था।[1]

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव।

व का प्रभेद

भाव का अर्थ है किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव। जैसे, अग्नि में शीतलता का अभाव। अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु सरी वस्तु नहीं होना। जैसे अग्नि, जल नहीं है।

संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—(१) प्रागभाव, (२) ध्वंसाभाव, (३) ाभाव।[2]

किसी कार्यद्रव्य (जैसे घड़ा) की उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी में जो उसका अभाव था, वह भाव' कहलाता है। जैसे, कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। यहाँ घड़ा बनने के

ाव

पहले मिट्टी में जो उसका (घड़े का) अभाव था, वह प्रागभाव है। यह अभाव अनादिकाल से वर्त्तमान था। जब घड़ा बन गया तब भाव का अंत हो गया। इसलिए प्रागभाव अनादि और सांत कहा जाता है।

किसी उत्पन्न कार्यद्रव्यों के नष्ट हो जाने पर जो उसका अभाव हो जाता है वह ध्वंसा कहलाता है। जो घड़ा बनकर तैयार हुआ है वह कभी फूट भी जा सकता है। जब

भाव

घड़ा फूट जाता है, तब टूटे हुए टुकड़ों में घड़े का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् उसका अभाव हो जाता है। यह अभाव ध्वंसाभाव है। यह घड़ा फूटने के समय से उत्पन्न होता है। इस अभाव का कभी अंत नहीं हो सकता; अगर वह घड़ा सचमुच टूट गया तो फिर वही घड़ा तो लौट नहीं सकता। इसलिए भाव सादि और अनंत माना जाता है।

भाव पदार्थों के साथ यह बात सामान्य रूप से लागू होती है कि जिसकी उत्पत्ति होती का नाश भी होता है। अभाव पदार्थों के संबंध में इसका उलटा नियम लागू होता अर्थात् एक बार जो अभाव उत्पन्न होता है वह फिर नष्ट नहीं हो सकता। जो घड़ा टूट गया है ठीक वही घड़ा फिर नहीं बन सकता। इसलिए उस घड़े का ध्वंस) होने से जो अभाव उत्पन्न हुआ है वह ध्वंस अनंत है।

ो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्) संबंध के अभाव को

ाभाव

अत्यंताभाव कहते हैं। जैसे, वायु में रूप का अभाव। यह प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों से भिन्न है। प्रागभाव उत्पत्ति से पूर्वकाल का है। ध्वंसाभाव विनाश के अनंतर काल का। परंतु अत्यंताभाव किसी विशेष

---

[1] देखिए, वैशेषिक सूत्र १।१।४, ६।१।१-१० किरणावली, न्यायकंदली।

[2] देखिए, भाषापरिच्छेद और मुक्तावली १२, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तर्कामृत अध्याय १

काल को लेकर नहीं होता, वह शाश्वत (सर्वकालिक) बना रहता है। न तो कभी इसकी उत्पत्ति होती है, न कभी उसका विनाश होता है। इस तरह अत्यंताभाव अनादि और अनंत होता है।

संसर्गाभाव का अर्थ है दो वस्तुओं में संबंध का अभाव। अन्योन्याभाव का अर्थ है दो वस्तुओं का एक नहीं होना। जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है तब उसका अर्थ यह होता है कि पहली वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में

अन्योन्याभाव

अभाव है और दूसरी वस्तु का पहली के रूप में। घट (घड़ा) पट (कपड़ा) से भिन्न है। इसका अर्थ यह हुआ कि घट का पट के रूप में अभाव है, घट 'पट' नहीं है। इस प्रकार का भेदमूलक अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है।[1]

संसर्गाभाव दो वस्तुओं के संसर्ग (संबंध) का अभाव है। इसलिए इस अभाव का उलटा होगा दोनो वस्तुओं का संसर्ग होना। इसके प्रतिकूल अन्योन्याभाव है एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में अभाव। इसलिए इस अभाव का उलटा होगा वस्तुओं का तादात्म्य (ऐक्य) होना। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। 'खरहे को सींग नहीं होती', 'बालू में तेल नहीं होता'—इन वाक्यों में खरहे और सींग, बालू और तेल में संबंध का अभाव सूचित किया गया है। इन वाक्यों का उलटा है 'खरहे को सींग होती है', 'बालू में तेल होता है'। अब ये वाक्य लीजिए—'गधा घोड़ा नहीं होता', 'घड़ा चादर नहीं है'—इन वाक्यों से गधे और घोड़े का, घड़े और चादर का भेद प्रकट होता है। इन वाक्यों का उलटा होगा—'गधा घोड़ा है', 'घड़ा चादर है'। इस तरह हम देखते हैं कि संसर्गाभाव संबंध (Relation) का अभाव है, अन्योन्याभाव तादात्म्य (Identity) का अभाव है। अत्यंताभाव की तरह अन्योन्याभाव अनादि और अनंत होता है।

३. सृष्टि और प्रलय

भारतीय दर्शन के अनुसार यह संसार (समस्त भौतिक जगत्) एक नैतिक रंगमंच या क्रीड़ास्थल है जो जीवों की उन्नति और मुक्ति के हेतु रचा गया है। भारतीय दर्शन का यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण वैशेषिक में भी विद्यमान है। वैशेषिक सृष्टि

परमाणुवाद

और प्रलय का प्रतिपादन वैशेषिक इस प्रकार करता है। सभी कार्यद्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बने हैं। इसलिए वैशेषिक मत को परमाणुवाद (Atomism) भी कहते हैं। परंतु परमाणुओं के संयोग और विभाग यों ही नहीं हुआ करते। ये वैशेषिक के अनुसार ईश्वर की इच्छा से होते हैं। इनके अलावे और पाँच द्रव्य (आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा) भी नित्य हैं। इसलिए कणाद के परमाणुवाद का स्वरूप पाश्चात्य परमाणुवाद से भिन्न है।

पाश्चात्य परमाणु भौतिकवाद (Materialism) के सिद्धांत को लेकर चलता है।

---

1 देखिए, तर्कसंग्रह (पृ० १८-२१), न्यायदर्शन (पृ० ५०-५४), कुसुमांजलि

के अनुसार अनादि काल से अनंत दिक् (Space) में असंख्य परमाणुओं के भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने के कारण उनके आकस्मिक संयोग के फलस्वरूप यह संसार बनता और बदलता रहता है। परमाणुओं की गति को निर्धारित करनेवाली कोई चेतन शक्ति नहीं है। जड़ परमाणु स्वतः घुणाक्षरन्याय से एक साथ मिल जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। उनका नियामक कोई चेतन पदार्थ नहीं वरं अंध प्राकृतिक नियम है।

व्य और पाश्चात्य रमाणुवाद में भेद

वैशेषिक का परमाणुवाद आध्यात्मिक सिद्धांत पर अवलंबित है। इसके अनुसार परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणु की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है। उसीकी इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यह विश्व मानो एक राजतंत्र राष्ट्र है जो एक बुद्धिमान् सम्राट् की इच्छा से इस प्रकार संचालित और नियंत्रित होता है कि इसमें सभी नागरिकों को अपनी-अपनी स्वतंत्रता और दायित्व के साथ अपनी-अपनी आत्मोन्नति और आत्मविकास करने का यथेष्ट अवसर मिलता है।

शेषिक का रमाणुवाद

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उसी भाग के बारे में है जो अनित्य है अर्थात् जो किसी समय में उत्पन्न और विनष्ट होता है। जगत् के नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न सृष्टि होती है न संहार। अणुओं के संयोग से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और उनके विच्छेद से कार्यद्रव्यों का विनाश होता है। इन्हीं अनित्य द्रव्यों की सृष्टि और लय का क्रम बतलाना परमाणुवाद का उद्देश्य है।

दो परमाणुओं का प्रथम संयोग द्व्यणुक कहलाता है। तीन द्व्यणुकों का संयोग त्र्यणुक या त्रसरेणु कहलाता है। वैशेषिक-मतानुसार यह सूक्ष्मतम कार्यद्रव्य है जो दृष्टि-गोचर हो सकता है। परमाणु या द्व्यणुक इससे भी सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

गत् का स्वरूप

समस्त भौतिक जगत् और उसके कार्यद्रव्य चार प्रकार के (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के) परमाणुओं के द्व्यणुकों, त्र्यणुको तथा उनके बृहत्तर संयोगों के परिणाम हैं। परमाणुओं की गति या कर्म के फलस्वरूप ही उनके संयोग होते हैं। इस कर्म या गति का कारण क्या है? जगत् में जो क्रम या व्यवस्था देखने में आती है उसकी उपपत्ति किस प्रकार की जा सकती है? वैशेषिक इस प्रश्न का जो उत्तर देता है वह संक्षेप में यों है—जगत् में परमाणुओं के संयोगजन्य भौतिक कार्यद्रव्य भी हैं और शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मा भी हैं। ये दिक्, काल और आकाश में अवस्थित कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधे हुए हैं। जीवात्मा अपनी बुद्धि, ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख या दुःख का भोग करते हैं। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। इस तरह जीवात्माओं के सुख-दुःख केवल प्राकृतिक नियमों के अधीन नहीं, बल्कि कर्मफल के नियमों पर भी आश्रित हैं। इस नियम का सारांश है—जैसी

करनी, वैसी भरनी। प्राकृतिक कार्य-कारण के नियम का सारांश है—बिना कारण कोई कार्य नहीं हो सकता। कर्मफल का नियम है—'जो जस करहि सो तस फल [illegible]'

वैशेषिक के अनुसार सृष्टि और संहार की प्रक्रिया यों है—सृष्टि और संहार के [illegible] महेश्वर हैं। वे ही अखिल विश्व के स्वामी या शासक हैं। उन्हींकी इच्छा से [illegible]

सृष्टि और ईश्वर

सृष्टि होती है, उन्हींकी इच्छा से प्रलय होता है। वे जब [illegible] तब ऐसा संसार बन जाता है जिसमें सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कर सकें। जब उनकी इच्छा होती है तब वे इस जाल को [illegible] हैं। यह सृष्टि और लय का प्रवाह अनादि काल से चला आता है। इसलिए किसी [illegible] को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक सृष्टि के पूर्व लय की अवस्था रहती है, [illegible] प्रत्येक लय के पूर्व सृष्टि की। सृष्टि का अर्थ है पुरातन क्रम का ध्वंस कर नवीन का [illegible] करना। जीवों के प्राक्तन कर्म (पुराकृत पाप और पुण्य) को ध्यान में रखते हुए [illegible] नव सृष्टि की रचना करते हैं। जब वे सृष्टि-रचना का संकल्प करते हैं तब जीवात्माओं [illegible] अदृष्टानुसार उनके भोग-साधन (अर्थात् शरीर और बाह्य द्रव्य) बनने लगते हैं [illegible] जीवात्माओं के अदृष्ट उन्हें (जीवों को) उस दिशा में प्रवृत्त करने लगते हैं। [illegible] परमाणुओं के संयोग से (द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से) वायु-महाभूत की उत्पत्ति होती है जो नित्य आकाश में निरंतर प्रवाहित होने लगता है। इसी तरह, जल-परमाणुओं [illegible] संयोग से जल-महाभूत की उत्पत्ति होती है जो वायु में अवस्थित होकर उसीके द्वारा [illegible] होने लगता है। इसी तरह पृथ्वी के परमाणुओं से पृथ्वी का महाभूत उत्पन्न होता है [illegible] तेज परमाणुओं में गति उत्पन्न होने से तेज-महाभूत बनता है। ये दोनों [illegible] अवस्थित रहते हैं। तदनंतर ईश्वर के अभिध्यान मात्र से विश्व का [illegible] उत्पन्न हो जाता है, जो पार्थिव और तैजस परमाणुओं का योगफल है। [illegible] ब्रह्मा या विश्वात्मा जो अनंत ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के भंडार हैं, [illegible] अर्थात् वे इस प्रकार चक्र घुमाते हैं कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार [illegible] सुख-दुःख का भोग होता रहता है। यह सारा काम ईश्वर की इच्छा से होता है।

सृष्टि का चक्र बहुत दिनों तक चलता रहता है। परंतु यह अनंत काल तक जारी नहीं रह सकता। जिस तरह दिन भर कठिन परिश्रम करने के उपरांत रात में [illegible]

सृष्टि और प्रलय

विश्राम करते हैं, उसी तरह एक सृष्टि में नाना योनियों में [illegible] करने और सुख-दुःख भोगने के उपरांत जीवों को [illegible] करने का अवकाश दिया जाता है। यही प्रलय की अवस्था है। जिस तरह दिन के [illegible] रात होती है, उसी तरह सृष्टि के बाद प्रलय होता है। दो प्रलयों के बीच जो एक सृष्टि होती है उसको 'कल्प' कहते हैं। एक कल्प के बाद दूसरा कल्प होता है, दूसरे कल्प के [illegible] तीसरा। यह सिलसिला बराबर जारी रहता है। [illegible] दर्शन का यही मत है[1]। यह संसार अनित्य है और कभी-न-कभी इसका अंत होगा [illegible]

---

[1] मीमांसा सृष्टि-प्रलय नहीं मानती है। जगत् को सदा वर्तमान मानती है।

ह बात दृष्टांत के द्वारा समझी जा सकती है। मिट्टी के घड़े कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं। सी तरह पहाड़ जो मिट्टी के बने हैं कभी-न-कभी नष्ट हो जाएँगे। जिस तरह कुएँ और ालाव सूखते हैं, उसी तरह कभी-न-कभी समुद्र भी सूख जाएँगे। जिस प्रकार दीपक झ जाता है, उसी प्रकार कभी-न-कभी सूर्य का प्रकाश भी बुझ जाएगा।

लय और क्रम

संसार का प्रलय इस क्रम से होता है—जब समयानुसार अन्यान्य जीवात्माओं की रह विश्वात्मा ब्रह्मा भी अपना शरीर छोड़ देते हैं, तब महेश्वर को संहार करने की इच्छा होती है। उनकी इच्छा के साथ ही जीवों के अदृष्ट अपने कार्य से विरत हो जाते हैं (कुछ काल के लिए लुप्त हो जाते हैं), और उनके रीर और इंद्रियों के परमाणु बिखर कर अलग-अलग हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर और द्रेय का नाश हो जाने पर केवल पृथक्-पृथक् परमाणु रह जाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी-ाभूत के परमाणुओं में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है और इनके विच्छिन्न हो जाने से महाभूत लीन हो जाता है। इस तरह क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चारो महाभूत लीन हो जाते हैं। संसार के समस्त कार्य-द्रव्य, शरीर और इंद्रिय, सब तिरोहित हो ते हैं। केवल चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, ल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओं के धर्माधर्मजन्य भावना या संस्कार-त्र बच जाते हैं (जिनको लेकर फिर अगली सृष्टि बनती है)।

जीवात्मा नित्य माने गए हैं। प्रलय में केवल शरीर का नाश होता है, आत्मा का ीं।[1]

४. उपसंहार

न्यायदर्शन की तरह वैशेषिक भी वस्तुवादी (Realistic) है। यह ईश्वर के थ-साथ अनेक जीवात्माओं तथा परमाणुओं का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। इस ह यह ईश्वरवादी (Theistic) होते हुए भी अनेकवादी (Pluralisitic) है। सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं को भिन्न-भिन्न परमाणुओं के संयोग का परिणाम मानता है। किंतु य परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से जो सृष्टि उत्पन्न होती है, उसका आधार नैतिक Moral) माना गया है। जीवात्माओं के अदृष्टानुसार ही उन्हें कर्मफल भोग कराने तथा तः उन्हें अपना स्वरूप ज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि-रचना या संहार करता न्याय और वैशेषिक ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता भी मानते हैं और साथ-ही-साथ जीवात्माओं स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं। चैतन्य को वे आत्मा का आकस्मिक या औपाधिक मानते हैं (स्वाभाविक धर्म नहीं)। यहाँ कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यदि न्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है तो फिर उसे विषयों का अनुभव कैसे होता है? ी तरह वैशेषिक के ईश्वर भी संसार और जीवात्माओं से परे हैं। जो लोग मोक्ष का ें ईश्वर-सायुज्य समझते हैं, उनकी धार्मिक भावना की संतुष्टि ऐसे ईश्वर से नहीं होती।

---

[1] सृष्टि और प्रलय का सविस्तर वर्णन प्रशस्तपादाचार्य के पदार्थधर्मसंग्रह में पाया जाता है, जिसका आधार पौराणिक जान पड़ता है।

वैशेषिक परमाणुवाद वह कोरा लोकमत नहीं है जो केवल पृथ्वी, जल, तेज और वायु के कणों से सारा संसार निर्मित समझता है। इसकी अपनी विशेषता है। इसी [illegible] वह भौतिकवाद भी नहीं जो संपूर्ण जड़ और चेतन जगत को भौतिक परमाणुओं के [illegible] का फल मात्र मानता है। वैशेषिक मन और आत्मा का पृथक् अस्तित्व मानता है। [illegible] परमाणुवाद का ईश्वरवाद के साथ समन्वय करता है। ईश्वर सृष्टिकर्ता और कर्म फलदाता के रूप में स्वीकार किए गए हैं, परंतु परमाणुओं या जीवात्माओं के कर्ता के रूप में नहीं। वैशेषिक के ईश्वर सर्वनियामक हैं, सर्वस्रष्टा नहीं।

'पदार्थ' शब्द की रचना और प्रयोग समग्र संसार के दर्शन के इतिहास में एक अपूर्व आविष्कार है। दर्शन के जितने आलोच्य विषय हैं, सभी को एक ही शब्द के द्वारा व्यक्त करने का श्रेय महर्षि कणाद को है। दो हजार वर्षों से पहले कणाद ने जिस शब्द का प्रयोग किया था, उससे व्यापकतर शब्द का अभीतक किसीने प्रयोग नहीं किया, जिसमें भाव- भावात्मक और अभावात्मक, समस्त विषयों का समावेश हो। यह बहुत ही स्वाभाविक है कि पदार्थ शब्द को प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने अपना लिया है, वैशेषिक का पदार्थ विभाग भी सूक्ष्मयुक्ति का एक आश्चर्य निदर्शन है। आधुनिक दर्शन में भी इसकी तुलना विरल है।

७

सांख्य दर्शन

१. विषय-प्रवेश

सांख्य दर्शन के रचयिता हैं महर्षि कपिल। सांख्य अत्यंत प्राचीन मत है। उसकी प्राचीनता इसी बात से सिद्ध होती है कि श्रुति, स्मृति, पुराण आदि समस्त पुरातन कृतियों में इस विचार-धारा की झलक दिखाई पड़ती है। सांख्य दर्शन का मूल ग्रंथ है कपिल का तत्त्व-समास। यह अत्यंत ही संक्षिप्त और सारगर्भित है। अतः सांख्य शास्त्र का मर्म विस्तार-पूर्वक समझाने के लिए उन्होंने सांख्य-सूत्र नामक विशद ग्रंथ की रचना की। इसलिए सांख्य-दर्शन 'सांख्य-प्रवचन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे 'निरीश्वर सांख्य' भी कहते हैं, क्योंकि महर्षि कपिल ने ईश्वरवाद की स्थापना नहीं की है। प्रायः उनका विचार था कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। योग-दर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। अतः उसे 'सेश्वर-सांख्य' कहते हैं।

सांख्यकार कपिल

महर्षि कपिल की शिष्य-परंपरा में आसुरि और पंचशिखाचार्य के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सांख्य-दर्शन पर सरल ग्रंथ लिखे थे; परंतु वे काल के गर्भ में विलीन हो गए और अब उनका कुछ पता नहीं चलता। उनके बाद सांख्य-दर्शन पर जो सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ मिलता है वह है ईश्वर कृष्ण की सांख्य-कारिका। इसके अतिरिक्त, गौडपाद का सांख्य-कारिका-भाष्य, वाचस्पति की तर्क-कौमुदी, विज्ञान भिक्षु का सांख्य-प्रवचन-भाष्य और सांख्यसार भी सांख्य-दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

सांख्य का साहित्य

'सांख्य' नाम की उत्पत्ति कैसे हुई यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसका संबंध 'संख्या' से है और इस दर्शन का यह नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है।[1] (१) भागवत में (३.२५) इसको 'तत्त्व संख्यान' (या तत्त्व गणन) कहा गया है। श्रीधर स्वामी इसकी टीका में सांख्य को 'तत्त्व-गणक' कहते हैं। दूसरा मत यह है कि 'संख्या' का अर्थ है सम्यग्-ज्ञान और इसी अर्थ में, यह दर्शन 'सांख्य' कहलाता है। (२) गीता में इसी अर्थ में सांख्य शब्द का बहुत प्रयोग है। न्याय-वैशेषिक की तरह सांख्य दर्शन का भी उद्देश्य है सभी दुःखों से मुक्ति पाने के निमित्त तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति। इसमें आत्मा के

सांख्य का अर्थ

---

१ संख्या प्रकुर्वते चैव, प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः॥
—प्रवचन भाष्य की भूमिका से उद्धृत।

दही जब बनेगा तब दूध ही से और तेल जब निकलेगा तब बीज ही से। मिट्टी से दही नहीं बन सकता और न बालू से तेल निकल सकता है। इससे सूचित होता है कि विशेष कार्य विशेष कारण में (पहले ही से) मौजूद रहता है। नहीं तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति संभव होती। वैसी हालत में तेली को तेल तैयार करने के लिए तिल या सरसों की जरूरत नहीं पड़ती, वह चाहे जिस चीज से (मिट्टी या कंकड़ से) तेल निकाल ता। (३) केवल समर्थ कारण से ही अभीष्ट कार्य की प्राप्ति हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य सूक्ष्मरूप से अपने कारण में विद्यमान था। अर्थात् कार्य उत्पन्न ने से पूर्व अव्यक्त अवस्था में रहता है। (४) यदि कार्य सचमुच कारण में अविद्यमान रा तो इसका अर्थ यह होता कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है (अर्थात् शून्य से किसी तु का प्रादुर्भाव हो जाता है) जो सर्वथा असंभव है। (५) वस्तुतः कार्य कारण से न नहीं, किंतु अभिन्न है। एक ही वस्तु की अव्यक्त और व्यक्त अवस्थाओं को हम क्रमशः रण कार्य के नाम से पुकारते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कपड़ा अपने धागों से पृथक् तु नहीं है और न टेबुल अपनी लकड़ी से भिन्न है। मिट्टी का घड़ा वस्तुतः मिट्टी ही है र पत्थर की मूर्त्ति वस्तुतः पत्थर ही।

इन सब बातों से सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से भी कारण में विद्यमान रहता है। इसी सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं—(१) परिणामवाद और (२) विवर्तवाद। प्रथम (परिणामवाद) के अनुसार, कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का सचमुच रूपांतरित होना। जैसे दूध का परिणाम दही है, मिट्टी का परिणाम घड़ा। यहाँ दूध और मिट्टी के वास्तविक रूपांतर या विकार होने से ही दही या घड़े का प्रादुर्भाव होता है। यह सांख्य का मत है। द्वितीय (विवर्तवाद) अद्वैत वेदांत का है। उसका कहना है कि कारण में जो विकार या ांतर परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं, एक आभास मात्र है। जब रस्सी देखने साँप का आभास होता है तो रस्सी यथार्थतः साँप में परिणत नहीं हो जाती। रस्सी में वल साँप की प्रतीति मात्र होती है, साँप की सत्ता उसमें नहीं आ जाती। इसी प्रकार जो ना विकार हमें परिलक्षित होते हैं वे भ्रम या आभास मात्र हैं। यथार्थतः ब्रह्म का रूपांतर ीं होता। वह शाश्वत रूप से एक-सा बना रहता है। फिर भी हमें वह नामरूपात्मक गत् के रूप में बदलता हुआ-सा मालूम पड़ता है। इस मत के अनुसार *कार्य कारण का* ास्तविक रूपांतर नहीं, बल्कि विवर्त्त (appearance) मात्र है।

कार्यवाद
के दो रूप

(२) प्रकृति और उसके तीन गुण[1]

सांख्य परिणामवाद (यथार्थ विकार) को सिद्ध मानता है। यह सिद्धांत अंततः क ऐसे मूल उपादान पर ले जाता है जिसका विकार यह सारा संसार है। संसार की सभी स्तुएँ—शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, समेत—कार्यद्रव्य हैं जो कतिपय उपादानों के संयोग

[1] देखिए, कारिका और कौमुदी ३।१०।१६, प्रवचन भाष्य और वृत्ति १।११०, १।१२२-३७

विषय में जितना उच्च कोटि का विचार किया गया है उतना प्रायः वेदांत को छोड़कर और किसी दर्शन में नहीं। इसलिए आत्मविषयक सम्यग्-ज्ञान के अर्थ में भी 'सांख्य' नाम समीचीन जान पड़ता है। सांख्य दर्शन द्वितत्त्व (Dualism) का प्रतिपादन करता है जहाँ न्याय और वैशेषिक अनेक पदार्थों—परमाणुओं, मनों और आत्माओं—की सत्ता स्वीकार करता है, वहाँ सांख्य केवल दो मूलतत्त्व मानता है—प्रकृति और पुरुष। इनका क्या स्वरूप है और इनसे सृष्टि का कैसे विकास होता है इसकी विवेचना आगे की जाएगी

२. सांख्य दर्शन के सिद्धांत

(१) सत्कार्यवाद[1]

सांख्य दर्शन का मुख्य आधार है सत्कार्यवाद। प्रश्न यह है कि कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहती है या नहीं। न्याय-वैशेषिक और बौद्ध दर्शन उत्तर देते हैं-

न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन का असत्कार्यवाद

नहीं। यदि उत्पत्ति के पूर्व ही कार्य की सत्ता विद्यमान थी तब फिर उत्पन्न होने का अर्थ ही क्या रह जाता है? और निमित्त कारण का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? यदि मिट्टी में घड़ा पहले ही से मौजूद था तो फिर कुम्हार को मेहनत करने और चाक घुमाने की क्या जरूरत है? इसके अलावे यदि कार्य पहले ही उपादान कारण में मौजूद था तो फिर हम कारण और कार्य का भेद किस आधार पर करते हैं? मिट्टी और घड़ा दोनो के लिए एक ही नाम का प्रयोग क्यों नही करते? मिट्टी का लोंदा ही घड़े का काम क्यों नहीं देता? यदि यह कहा जाए कि दोनो में (मिट्टी और घड़े में) आकार (Form) को लेकर भेद है, तब तो यह स्वीकार करना होगा कि कार्य में कोई वस्तु (विशेष आकृति) ऐसी है जो कारण में नही थी, अर्थात् कार्य वास्तविक रूप से कारण में विद्यमान नहीं था। यह सिद्धांत (अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता है) 'असत्कार्यवाद' कहलाता है।

सांख्य असत्कार्यवाद का खंडन करते हुए सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करता है। इसके लिए ये युक्तियाँ दी जाती हैं—(१) यदि कार्य वस्तुतः कारण में अविद्यमान रहे

सांख्य का सत्कार्यवाद और उसके लिए युक्तियाँ

तो किसी भी प्रयत्न से उसका आविर्भाव नहीं होता। क्या बालू से तेल निकाला जा सकता है? या आकाश को मथकर मक्खन तैयार किया जा सकता है? तिल को पेरने से तेल निकलता है क्योंकि तिल मे पहले ही से तेल मौजूद है। वह विशेष अवस्था (जैसे कोल्हू में पेरने पर) प्रकट होता है। इसलिए निमित्त कारण का काम इतना ही है कि वह उपादान कारण में अप्रत्यक्ष रूप मे वर्त्तमान कार्य को प्रत्यक्ष कर दे। दूसरे शब्दों में, कर्त्ता के व्यापार से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है वह वस्तुतः अभिव्यक्ति मात्र है। (२) देखने में आता है कि किसी खास कार्य का प्रादुर्भाव खास कारण से ही होता है। जैसे

---

१ देखिए, सांख्य-कारिका और तत्त्व-कौमुदी ८।९, सांख्य-प्रवचन-भाष्य १।११३-२१ अनिरुद्ध-वृत्ति १।११३-२१

दही जब बनेगा तब दूध ही से और तेल जब निकलेगा तब बीज ही से। मिट्टी से दही नहीं बन सकता और न बालू से तेल निकल सकता है। इससे सूचित होता है कि विशेष कार्य विशेष कारण में (पहले ही से) मौजूद रहता है। नहीं तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति संभव होती। वैसी हालत में तेली को तेल तैयार करने के लिए तिल या सरसों की जरूरत नहीं पड़ती, वह चाहे जिस चीज से (मिट्टी या कंकड़ से) तेल निकाल लेता। (३) केवल समर्थ कारण से ही अभीष्ट कार्य की प्राप्ति हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य सूक्ष्मरूप से अपने कारण में विद्यमान था। अर्थात् कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अव्यक्त अवस्था में रहता है। (४) यदि कार्य सचमुच कारण में अविद्यमान रहता तो इसका अर्थ यह होता कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है (अर्थात् शून्य से किसी वस्तु का प्रादुर्भाव हो जाता है) जो सर्वथा असंभव है। (५) वस्तुतः कार्य कारण से भिन्न नहीं, किंतु अभिन्न है। एक ही वस्तु की अव्यक्त और व्यक्त अवस्थाओं को हम क्रमशः कारण कार्य के नाम से पुकारते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कपड़ा अपने धागों से पृथक् वस्तु नहीं है और न टेबुल अपनी लकड़ी से भिन्न है। मिट्टी का घड़ा वस्तुतः मिट्टी ही है और पत्थर की मूर्त्ति वस्तुतः पत्थर ही।

इन सब बातों से सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पहले भी कारण में विद्यमान रहता है। इसी सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं—(१) परिणामवाद और (२) विवर्तवाद। प्रथम मत (परिणामवाद) के अनुसार, कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का सचमुच रूपांतरित होना। जैसे दूध का परिणाम दही है, मिट्टी का परिणाम घड़ा। यहाँ दूध और मिट्टी के वास्तविक रूपांतर या विकार होने से ही दही या घड़े का प्रादुर्भाव होता है। यह साख्य का मत है। द्वितीय मत (विवर्तवाद) अद्वैत वेदांत का है। उसका कहना है कि कारण में जो विकार या रूपांतर परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं, एक आभास मात्र है। जब रस्सी देखने से साँप का आभास होता है तो रस्सी यथार्थतः साँप में परिणत नहीं हो जाती। रस्सी में केवल साँप की प्रतीति मात्र होती है, साँप की सत्ता उसमें नहीं आ जाती। इसी प्रकार जो नाना विकार हमें परिलक्षित होते हैं वे भ्रम या आभास मात्र हैं। यथार्थतः ब्रह्म का रूपांतर नहीं होता। वह शाश्वत रूप से एक-सा बना रहता है। फिर भी हमें वह नामरूपात्मक जगत् के रूप में बदलता हुआ-सा मालूम पड़ता है। इस मत के अनुसार कार्य कारण का वास्तविक रूपांतर नहीं, बल्कि विवर्त्त (appearance) मात्र है।

(२) प्रकृति और उसके तीन गुण[1]

सांख्य परिणामवाद (यथार्थ विकार) को सिद्ध मानता है। यह सिद्धांत अंततः एक ऐसे मूल उपादान पर ले जाता है जिसका विकार यह सारा संसार है। संसार की सभी वस्तुएँ—शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, समेत—कार्यद्रव्य हैं जो कतिपय उपादानों के संयोग

1 देखिए, कारिका और कौमुदी ३।१०।१६, प्रवचन भाष्य और वृत्ति १।११०, १।१२२-३७

से उत्पन्न होते हैं। यह जगत् कार्यकारणों का संतान या प्रवाह है, अतः इस शृंखला क

संसार का मूल कारण प्रकृति है

मूल कारण होना आवश्यक है। यह कारण क्या है? यह कार आत्मा या पुरुष नहीं माना जा सकता क्योंकि वह वास्तव में न त किसी वस्तु का कार्य होता है न कारण। इसलिए संसार का कार आत्मा या चैतन्य से इतर वस्तु (जड़ पदार्थ)—ढूँढ़ना होगा। चार्वाक, बौद्ध, जैन तथ न्याय-वैशेषिक मतों के अनुसार, पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु ही समस्त सांसारि विषयों के कारण-स्वरूप हैं। परंतु सांख्य इस बात से सहमत नहीं होता। उसका कहन है कि मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं से नहीं हो सकती अतएव हमें ऐसा मूल कारण खोजना चाहिए जिससे केवल स्थूल पदार्थों (जैसे मिट्टी, पान पेड़, पहाड़) की ही उत्पत्ति संभव नहीं हो, वरन् सूक्ष्म तत्त्व (जैसे मन, बुद्धि, अहंकार) भी उत्पत्ति हो सके। ऐसा देखा जाता है कि कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म और उस व्याप्त रहता है। इसलिए संसार का मूल कारण ऐसा होना चाहिए जो जड़ होने के सा ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो, जो अनादि, अनंत और व्यापक रूप से जगत् के पदार्थों का कार हो, जिससे समस्त विषय उत्पन्न होते रह सकें। इसी मूल कारण को सांख्य दर्शन 'प्रकृ कहता है। यह सभी विषयों का मूल कारण है। अतः यह स्वयं अनादि है।

समस्त विषयों का अनादि मूल-स्रोत होने के कारण यह प्रकृति नित्य और ... क्योंकि सापेक्ष और अनित्य पदार्थ जगत् का मूलकारण नहीं हो सकता। मन, बुद्धि औ अहंकार जैसे सूक्ष्म कार्यों का आधार होने के कारण प्रकृति एक गहन, अनंत औ सूक्ष्माति-सूक्ष्म शक्ति है जिसके द्वारा संसार की सृष्टि और लय का चक्र-प्रवाह निरं चलता रहता है।

संसार का मूलभूत सूक्ष्म कारण प्रकृति है, यह इन युक्तियों के बल पर सिद्ध कि जाता है—(१) संसार के समस्त विषय—बुद्धि से लेकर पृथ्वी पर्यंत—देश-काल

प्रकृति के अस्तित्व की युक्तियाँ

परिच्छिन्न (सीमित) और कारणापेक्ष (पूर्ववर्ती कारण पर निर्भर) होते हैं। इसलिए उनका मूलभूत कारण अपरिच्छिन्न और निरपे होना चाहिए। (२) संसार के समस्त विषयों का यह सामान्य है कि वे सुख-दुःख या मोह (उदासीनता) उत्पन्न करते हैं। इस सूचित होता है कि उनके मूलभूत कारण में भी ये तीनों गुण मौजूद रहने चाहिए। (३) सभी कार्य ऐसे कारणों से उत्पन्न होते हैं, जिनमें ये (कार्य) अव्यक्त वा बीजरूप से निहि थे। इसलिए विषय-जगत् जो कार्यों का समूह है अव्यक्त रूप से किसी बीजरूप कार जगत् में निहित रहना चाहिए। (४) कार्य कारण से उत्पन्न होता है और नष्ट होने प पुनः उसमें विलीन हो जाता है। अर्थात् कार्य का प्रादुर्भाव कारण से होता है और पु तिरोभाव भी कारण में हो जाता है। इस तरह, प्रत्यक्ष विषय अपने-अपने विशिष्ट कार मे उत्पन्न होते हैं। वे विशिष्ट कारण भी अपर सामान्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। इस तरह ऊपर चढ़ते-चढ़ते हम एक मूल कारण पर पहुँच जाते हैं जो जगत् का आदि कारण है

इसी तरह, प्रलयावस्था में भौतिक पदार्थ परमाणुओं में लीन हो जाते हैं। परमा

शक्तियों में लीन हो जाते हैं। इसी तरह सभी वस्तुएँ अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अंत में एक निरपेक्ष निःसीम व्यापक मूल कारण बच जाता है जो आत्मा के अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुओं को अपने अंतर्हित कर लेता है। संपूर्ण अनात्मा (जड़) जगत् के इस सूक्ष्म कारण को सांख्य में प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त आदि नाम दिए गए हैं। प्रकृति किसी कारण का कार्य नहीं है। वह शाश्वत है। यदि मूल प्रकृति का भी कारण कल्पित किया जाए तो पुनः उस कारण का भी कारण कल्पित करना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था प्रसंग (Infinite Regress) आ जाएगा। कार्य कारण की शृंखला में हमें कहीं-न-कहीं जाकर तो रुकना पड़ेगा। जहाँ जाकर हम रुकेंगे और कहेंगे कि यह आदि कारण है, वहीं उस आदि कारण को सांख्य परा या मूला प्रकृति[1] के नाम से पुकारता है।

सत्त्व, रज और तमोगुण

सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुण प्रकृति मे रहते हैं। इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। ये गुण क्या हैं? यहाँ गुण का अर्थ धर्म नहीं। प्रकृति का विश्लेषण करने पर हम उसमें तीन प्रकार के द्रव्य पाते हैं। उन्हीं के नाम त्रिगुण हैं। अतः सत्त्व, रज और तम, ये मूलद्रव्य प्रकृति के उपादान तत्त्व हैं। ये 'गुण' इसलिए कहलाते हैं कि ये रस्सी के तीनो गुणों (रेशो) की तरह आपस में मिलकर पुरुष के लिए बंधन का काम करते हैं। अथवा इसलिए कि ये पुरुष के उद्देश्य-साधन के लिए 'गौण' रूप से सहायक हैं।[2]

गुणों के लिए प्रमाण

गुण प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते। उनके कार्यों (सांसारिक विषयों) को देखकर उनका अनुमान किया जाता है। कार्य कारण का तादात्म्य संबंध रहता है। इसलिए विषय-रूपी कार्यों का स्वरूप देखकर हम गुणों का स्वरूप अनुमान करते हैं। संसार के समस्त विषय—सूक्ष्म बुद्धि से लेकर स्थूल पत्थर, लकड़ी पर्यंत—में तीन गुण पाए जाते हैं जिनके कारण वे सुख-दु:ख या मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। एक ही वस्तु एक के मन में सुख, दूसरे के मन मे दु:ख और तीसरे के मन में औदासीन्य भाव की सृष्टि करती है। जैसे, एक ही संगीत से रसिक को आनंद, बीमार को कष्ट और भैंस को हर्ष या विषाद कुछ भी नहीं होता। वही जज का फैसला एक पक्ष के लिए आनंददायक, दूसरे पक्ष के लिए कष्टदायक और गैर लोगों के लिए कुछ भी नही होता। वही नदी सैर करनेवाले के लिए आनंद की वस्तु है, डूबनेवाले के लिए मृत्यु-स्वरूप है और उसमें रहनेवाले जानवरों के लिए साधारण वस्तु है। कार्य का गुण कारण में वर्त्तमान रहता है। इससे यह सूचित होता है कि विषयों के मूल कारण में भी ये सुख-दुःख और मोह के तत्त्व विद्यमान हैं। ये तीनो तत्त्व क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण कहलाते हैं। ये ही तीनो *गुण प्रकृति के मूल तत्त्व हैं* जिनसे संसार के समस्त विषय बनते हैं।

सत्त्वगुण लघु, प्रकाशक और इष्ट (आनंदरूप) होता है। ज्ञान में जो विषय-प्रकाशकत्व होता है, इंद्रियों में जो विषय-ग्राहिता होती है, वह सब सत्त्वगुण ही के कारण

---

१ देखिए प्रवचन भाष्य १।६७-६८, १।७६-७७, ६।३६

२ 'गुण' शब्द के कई अर्थ होते हैं—धर्म, डोरी, अप्रधान, सहकारी।

मन, बुद्धि, तेज का प्रकाश, दर्पण या काँच की प्रतिबिंब...

सत्त्व गुण का स्वरूप

हैं। इसी तरह, जहाँ-जहाँ लघुः ... दिशा में गमन (ऊपर की ओर ज... अग्निज्वाला का ऊपर उठना या मन की उन्नति) वह सब सत्त्व के कारण होता है। इसी तरह सभी प्रकार के आनंद (जैसे, हर्ष, संतोष, तृप्ति, उल्ल आदि), विषय और मन में अवस्थित सत्त्वगुण की बदौलत होते हैं।

रजोगुण का स्वरूप

रजोगुण क्रिया का प्रवर्त्तक होता है। यह स्वयं चल होता है और अन्य वस्तुओं भी चलाता है। यह चल (गतिशील) होने के साथ-साथ उपष्टंभक (उत्तेजक) भी हो है। रजोगुण के कारण ही हवा बहती है, इंद्रिय विषयों की ओ दौड़ते हैं और मन चंचल हो उठता है। सत्त्व और तम दोनों स्व निष्क्रिय होते हैं। वे रजोगुण की सहायता से ही प्रवर्तित होते रजोगुण दुःखात्मक होता है। जितनी तरह के दुःखानुभव (शारीरि क्लेश या मानसिक कष्ट) होते हैं, वे रजोगुण के कार्य हैं।

तमोगुण का स्वरूप

तमोगुण गुरु (भारी) और अवरोधक (रोकनेवाला) होता है। यह सत्त्व का उलटा है। यह प्रकाश का आवरण करता है। यह रजोगुण की क्रिया का अवरोध करता है जिसके कारण वस्तुओं की ... जड़ता और निष्क्रियता का प्रतीक ... आदि का प्रकाश फीका पड़ने से मूर्खता या अंधकार की उत्पत्ति है। यह मोह या अज्ञान का जनक है। यह क्रिया की गति अव कर निद्रा, तंद्रा या आलस्य उत्पन्न करता है। यह अवसाद या औदासीन्य का कारण सत्त्वगुण को शुक्ल (उजला), रजोगुण को रक्त (लाल) और तमोगुण को कृष्ण (काल कल्पित किया गया है।

तीनों गुणों का संबंध

तीनों गुणों में परस्पर-विरोध भी है और सहयोग भी। वे सर्वदा एक साथ— दूसरे से अविच्छेद्य रहते हैं। उनमें केवल एक ही स्वतः (बिना शेष दो की सहायता से) कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार तेल, बत्ती आग, इन तीनों भिन्न-भिन्न और विरुद्ध-कोटिक वस्तुओं के सहयोग दीपक जलता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न गुण विरुद्ध-कोटिक होते भी पारस्परिक सहयोग से सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं। तरह, संसार की छोटी-बड़ी, स्थूल-सूक्ष्म, सभी वस्तुओं में ये तीनों गुण मौजूद रहते। इनमें प्रत्येक गुण एक दूसरे को दबाने की कोशिश करता है। जो गुण अधिक प्रबल होता उसीके अनुसार वस्तु का स्वरूप निर्धारित होता है। शेष दो गुण उस वस्तु में गौण रूप रहते हैं। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसमें न्यूनाधिक परिमाण में इन तीनों गु का सम्मिश्रण नहीं हो। उन्हीं गुणों के अनुसार विषयों का विभाग तीन वर्गों में किया जा है—इष्ट, अनिष्ट और तटस्थ।

तीनो गुण निरंतर परिवर्त्तनशील हैं। विकार या परिणाम उनका स्वभाव ही है, इसलिए वे एक क्षण भी अविकृत रूप में नही रहते। गुणों में दो तरह के परिणाम होते हैं। प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण दूसरों से खिंचकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है, अर्थात् सत्त्व सत्त्व में, रज रज में और तम तम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का परिणाम सरूप परिणाम कहलाता है। इस अवस्था में गुणों से कोई कार्य उत्पन्न नही हो सकता, क्योंकि वे पृथक् रहकर कुछ नहीं कर सकते। जब तक गुण आपस में नही मिलते और उनमें एक प्रबल नहीं होता तब तक उनसे किसी विषय की उत्पत्ति नही हो सकती। सृष्टि के पूर्व तीनो गुण साम्यावस्था में रहते हैं अर्थात् वे अस्फुटित रूप से ऐसे अव्यक्त पिंडरूप में रहते हैं जिसमें न रूपांतर है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गंध होता है और न कोई विषय होता है। यही साम्यावस्था सांख्य की 'प्रकृति' है। दूसरे प्रकार का परिणाम तब उत्पन्न होता है जब गुणों में से एक प्रबल हो जाता है और शेष दो उसके अधीन हो जाते हैं। जब ऐसा होता है, तब विषयों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का परिणाम विरूप परिणाम कहलाता है। इसीसे सृष्टि का प्रारंभ होता है।

(गुणों का रूपांतर)

(३) पुरुष या आत्मा[1]

सांख्य दर्शन का एक तत्त्व है प्रकृति, दूसरा तत्त्व है पुरुष (आत्मा)। आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद है। 'मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा है'—ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता और बोलता है। 'मैं' और 'मेरा' ये सभी व्यक्तियों के सहज स्वाभाविक अनुभव हैं जिनके लिए प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नही कर सकता, क्योंकि अस्वीकार करने के लिए भी चेतन आत्मा की आवश्यकता है। इसलिए सांख्य का कहना है कि आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व स्वयंसिद्ध (स्वतः प्रकाश) है और इसकी सत्ता का किसी प्रकार खंडन नही किया जा सकता।

(पुरुष या आत्मा का स्वरूप)

जहाँ आत्मा के अस्तित्व के संबंध में ऐकमत्य है वहाँ भी आत्मा के स्वरूप के विषय में नाना मत-मतांतर हैं। कुछ लोग (चार्वाक या भौतिकवाद के अनुयायी) स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं, कुछ लोग इंद्रियों को, कुछ लोग प्राणों को, कुछ लोग मन को। बौद्धमतावलंबी प्रभृति कुछ दार्शनिक आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मात्र समझते हैं। न्याय-वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार आत्मा एक अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार हो जाता है। इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि आत्मा एक चेतन पदार्थ है जो अंशतः अज्ञान के आवरण से आच्छादित रहता है, इसलिए हमें अपने विषय में जो ज्ञान होता है वह अधूरा और एकांगी रहता है। अद्वैत वेदांत का मत है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है। एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में अवस्थित है। यह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और नित्य आनंदस्वरूप है। इसलिए वेदांती आत्मा को सच्चिदानंद कहते हैं।

(आत्मा के संबंध में भिन्न-भिन्न मत)

---

[1] देखिए, वेदांतसार ५१-५६, कारिका और कौमुदी १७-२०, प्रवचन-भाष्य और वृत्ति १।६६; १।१३८-६४, ५।६१-६८

सांख्य मत के अनुसार, आत्मा (पुरुष) शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न
यह सांसारिक विषय नहीं है। मस्तिष्क, स्नायु-मंडल या अनुभव-समूह को आत्मा सम
भूल है। आत्मा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के
में रहता है, कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह चैतन्य
आधारभूत द्रव्य नहीं, किंतु स्वतः चैतन्य-स्वरूप है। चैतन्य इ
गुण नहीं, स्वभाव है। सांख्य वेदांत की तरह आत्मा को आनंदस्
नहीं मानता। आनंद और चैतन्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं,
उन्हें एक ही पदार्थ का तत्त्व मानना उचित नहीं। ...
की परिधि से परे और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। ...
हाँ, ज्ञान के विषय बदलते रहते हैं। एक के बाद दूसरा विषय आता है। परंतु आत्मा
चैतन्य का प्रकाश स्थिर रहता है, वह नहीं बदलता। आत्मा में कोई क्रिया नहीं ह
वह निष्क्रिय और अविकारी होता है। वह स्वयंभू, नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है, जो
विषयों से असंपृक्त और राग-द्वेष से रहित है। जितने कर्म या परिणाम हैं, जितने
या दुःख हैं, वे सभी प्रकृति और उसके विकारों (जैसे शरीर, मन, बुद्धि, आदि) के धर्म
आत्मा को शरीर, इंद्रिय, मन या बुद्धि समझ लेना सरासर भ्रम है। जब ऐसे भ्रम
कारण पुरुष अपने को शरीर या इंद्रिय (अथवा मन या बुद्धि) समझ बैठता है, तब
आभासित होता है कि वह कर्म या परिवर्त्तन के प्रवाह में पड़कर नाना प्रकार के दु
क्लेशों के दलदल में फँस गया है।

आत्मा नित्य और सर्वव्यापी चैतन्य है

सांख्य में द्रष्टा पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ये युक्तियाँ दी जाती हैं
(१) घर, घड़ा, कपड़ा आदि संसार के सावयव द्रव्य (संघात) परार्थ (या दूसरे के लि
हैं। ये अपने लिए नहीं। ये जिनके उद्देश्य के साधन हैं, वे अचे
नहीं हो सकते। अचेतन का कोई उद्देश्य ही नहीं। अतः संघातों
अतिरिक्त चेतन पुरुष अवश्य हैं। (२) ये पुरुष अपने साधन-स्
विषयों से सर्वदा भिन्न हैं। अर्थात् विषयों की तरह वे ज
सावयव नहीं हैं (क्योंकि ऐसा होने से वे भी किसीके लिए साधन बन जाते)। (३)
जड़ द्रव्य किसी चेतन सत्ता के द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। जैसे, मशीन तभी काम क
जब उसकी गतिविधि का नियामक कोई कारीगर रहता है। इसी तरह जड़ प्रकृति
उसके विकार बिना पुरुषों की सहायता से सृष्टि रचना नहीं कर सकते। उनको क्रि
का निर्देशक (चेतन पुरुष) होना आवश्यक है। (४) संसार भोग्य पदार्थों (सुख-दु
से भरा है। यदि कोई उनका चेतन भोक्ता (भोग करनेवाला) नहीं रहे तो फिर उन
भोग कैसे संभव होगा? (५) जगत् में कम से कम कुछ पुरुष ऐसे हैं जो दुःखों से
मुक्ति पाने के लिए वास्तविक प्रयत्न करते हैं। सांसारिक विषयों के लिए यह संभव न
क्योंकि वे स्वतः दुःख के कारण होते हैं, न कि उनकी निवृत्ति के। इसलिए दुःखमय जड़
से परे, आत्मा या अशरीरी पुरुष हैं, ऐसा मानना आवश्यक है। नहीं तो मोक्ष, मुमु
(मोक्ष पाने की इच्छा) और जीवन्मुक्त महात्मा इन सब शब्दों का अर्थ ही नहीं रह जाए

आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण

अद्वैत, वेदांत का मत है कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है। सांख्य इस मत को नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् आत्मा है। संसार में अनेक पुरुषों या आत्माओं का होना इन युक्तियों से सिद्ध होता है—(१) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जनन-मरण में, ज्ञान और कर्म में, स्पष्ट अंतर पाया जाता है। एक के जन्म (या मृत्यु) होने से सभी का जन्म (या मृत्यु) नहीं हो जाता। एक के अंधे या बधिर होने से सभी अंधे या बहरे नहीं हो जाते। यदि जीवों में एक ही आत्मा का अस्तित्व होता तो एक के जन्म-मरण से सबका जन्म-मरण हो जाता, एक के अंधे-बधिर होने से सब अंधे-बहरे हो जाते। परंतु ऐसा नहीं होता। इससे सूचित होता है कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। (२) यदि सभी जीवों में एक ही आत्मा रहता तो एक में कोई क्रिया होने से सबमें वही क्रिया परिलक्षित होती। परंतु ऐसा नहीं होता। जब एक सोया हुआ रहता है तब दूसरा काम करता रहता है। जब एक रोता है तब दूसरा हँसता रहता है। इससे सूचित होता है कि आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। (३) स्त्री-पुरुष जहाँ एक तरफ पशु-पक्षियों से ऊपर की श्रेणी में हैं वहाँ दूसरी तरफ देवताओं से नीचे की श्रेणी में हैं। यदि पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता सभी में एक ही आत्मा का निवास होता तो ये विभिन्नताएँ नहीं होतीं। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। ये आत्मा या पुरुष नित्य द्रष्टा या ज्ञाता बने रहते हैं। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक हैं। प्रकृति विषयों का जड़ आधार है, पुरुष विषयों का चेतन द्रष्टा है। प्रकृति प्रमेय है, पुरुष प्रमाता है।

(अनेकात्मवाद के लिए युक्तियाँ)

(४) जगत् की सृष्टि या विकास[1]

प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है तभी संसार की उत्पत्ति होती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग उस तरह का साधारण संयोग नहीं है जो दो भौतिक द्रव्यों में (जैसे रथ और घोड़े में) होता है। यह एक विलक्षण प्रकार का संबंध है। प्रकृति पर पुरुष का प्रभाव वैसा ही पड़ता है जैसा किसी विचार का प्रभाव हमारे शरीर पर। जब तक दोनो का किसी तरह संबंध नहीं होता तब तक संसार की सृष्टि नहीं हो सकती। अकेला पुरुष सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है। इसी तरह अकेली प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती क्योंकि वह जड़ है। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है, तभी सृष्टि का उद्गम होता है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनो के सहकार से ही विषय-जगत् की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न उठता है—प्रकृति और पुरुष तो एक दूसरे से भिन्न और विरुद्धधर्मक हैं। तब फिर उनका पारस्परिक सहयोग कैसे संभव है? इसके उत्तर में सांख्य कहता है—जिस प्रकार एक अंधा और लंगड़ा (अंध-पंगु) ये दोनो आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से जंगल पार कर सकते हैं, उसी प्रकार जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष, ये दोनो परस्पर मिलकर एक दूसरे की सहायता से अपना कार्य

(जगत् की उत्पत्ति)

---

[1] देखिए, कारिका और कौमुदी २१-२४ प्रवचनभाष्य और वृत्ति १।६४-७४ २।१०-३२

संपादित कर सकते हैं। प्रकृति दर्शनार्थ (ज्ञात होने के लिए) पुरुष की अपेक्षा रखती और पुरुष कैवल्यार्थ (अपना स्वरूप पहचानने के लिए) प्रकृति की अपेक्षा रखता है।

सृष्टि के पूर्व तीनो गुण साम्यावस्था में रहते हैं। ... से गुणों की साम्यावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'गुण-क्षोभ' कहते हैं। यह

गुण-क्षोभ

रजोगुण जो स्वभावतः क्रियात्मक है, परिवर्त्तनशील होता है। उसके कारण और गुणों में भी स्पंदन होने लगता है। परिणामतः प्रकृति में एक भीषण आंदोलन उठ जाता है जिसमें प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर आधिपत्य जमाना चाहता है। क्रमशः तीनों गुणों का पृथक्करण और संयोग होता है और न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों के फलस्वरूप नाना प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं।

सांख्यमतानुसार सृष्टि का क्रम इस प्रकार है। सबसे पहले 'महत्'[1] या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। बाह्य जगत् की दृष्टि से, यह सृष्टि का

सृष्टि का क्रम

बीज स्वरूप है, अतएव 'महत्तत्त्व कहलाता है। आभ्यंतरिक दृष्टि से यह वह बुद्धि है जो जीवों में विद्यमान रहती है। बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण। बुद्धि के द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों का भेद विदित होता है। बुद्धि के द्वारा ही हम किसी विषय के संबंध में निश्चय करते हैं। सत्त्वगुण के आधिक्य से बुद्धि का उदय होता है। बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है

महत्तत्त्व या बुद्धि

स्वतः अपने को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना। यद्यपि रज और तम की अपेक्षा बुद्धि में सत्त्व का ही आधिक्य सदा रहता है, तथापि उस सत्त्व के परिमाण में (तथा और गुणों के परिमाण में) न्यूनाधिक्य होता है। जब बुद्धि में सत्त्व की अधिक वृद्धि होती है, तब उस सात्त्विक बुद्धि के फल होते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। परंतु जब तमस् का परिमाण अधिक हो जाता है, तब उस तामसिक बुद्धि से अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और अशक्ति की उत्पत्ति होती है।

बुद्धि पुरुष या आत्मा से भिन्न है क्योंकि पुरुष या आत्मा समस्त भौतिक द्रव्यों और गुणों से परे है। परंतु भिन्न-भिन्न जीवात्माओं में जो ज्ञानादिक व्यापार होते हैं उनका आधार यही बुद्धि है। इसमें सत्त्व अधिक होने के कारण आत्मा के चैतन्य को प्रतिबिंबित कर उससे स्वयं प्रकाशयुक्त हो जाती है। इंद्रियों और मन का व्यापार बुद्धि के निमित्त होता है, बुद्धि का व्यापार आत्मा के लिए होता है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपने और प्रकृति का भेद समझ कर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है।[2]

प्रकृति का दूसरा विकार है अहंकार। यह महत्तत्त्व का परिणाम है। बुद्धि का 'मैं'

अहंकार

और 'मेरा' यह अभिमान का भाव ही अहंकार है। इसी अहंकार के कारण पुरुष मिथ्या भ्रम में पड़कर अपने को कर्त्ता (काम करनेवाला), कामी (इच्छा करनेवाला) और स्वामी (वस्तुओं का अधिकारी) समझने लगता है।

१ देखिए, सांख्यसूत्र १।७

२ देखिए, कारिका ३६-३७, सांख्यसूत्र २।४०।४३

ने हमें इंद्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है। तब मन उनपर विचार करता है र उनका स्वरूप निर्धारित करता है (अर्थात् यह विषय अमुक प्रकार का है)। फिर उन विषयों को आत्मसात् करते हैं (अर्थात् यह समझने लगते हैं कि यह विषय 'मेरा' मेरे लिए' है) और इस तरह विषय का अपने साथ संबंध जुड़ जाता है। यही अपने में 'मैं' (अहम्) और विषयों के संबंध में 'मेरा' (मम) का भाव अहंकार है। तरह जब अहंकार के कारण सांसारिक विषयों में अपनी प्रवृत्ति हो जाती है तब हम प्रकार के व्यवहारों में संलग्न हो जाते हैं। बर्तन गढ़ने से पूर्व कुम्हार के मन में यह उठता है—"अच्छा, 'मैं' बर्तन बनाऊँ" तब वह उस कार्य में लग जाता है। यही कार का भाव हमारे सभी सांसारिक व्यवहारों की जड़ है।

कार के प्रभेद

अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है—(१) सात्त्विक या वैकारिक जिसमें गुण की आपेक्षिक प्रधानता होती है, (२) राजस या तैजस, जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, और (३) तामस या भूतादि, जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। सात्त्विक अहंकार से एकादश इंद्रियों की ति होती है (५ ज्ञानेंद्रिय+५ कर्मेंद्रिय+मन—इस तरह ११ इंद्रिय होते हैं)। तामस कार से पंच तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार सात्त्विक और तामस, दोनों रों का सहायक होता है और उन्हें वह शक्ति प्रदान करता है जिससे सात्त्विक और विकार उत्पन्न होते हैं।

अहंकार से सृष्टि का उपर्युक्त क्रम सांख्यकारिका में दिया हुआ है, जिसे वाचस्पति भी स्वीकार करते हैं।[1] किंतु विज्ञानभिक्षु[2] दूसरा ही क्रम बतलाते हैं। उनके अनुसार एकमात्र इंद्रिय है जो सत्त्वगुण प्रधान है अतः सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न है। शेष द्रियाँ राजस अहंकार के परिणाम हैं और पंच तन्मात्र तामस अहंकार के।

ज्ञानेंद्रिय

पंच ज्ञानेंद्रिय या बुद्धीन्द्रिय ये हैं—नेत्रेंद्रिय (आँख), श्रवणेंद्रिय (कान), घ्राणेंद्रिय (नाक), रसनेंद्रिय (जीभ) और त्वचेंद्रिय (चमड़ा)। इनसे क्रमशः रूप, शब्द, गंध, स्वाद और स्पर्श—इन विषयों का ज्ञान होता है। कार के परिणाम हैं और पुरुष के निमित्त उत्पन्न होते हैं।

कर्मेंद्रिय

पुरुष की विषयभोगेच्छा ही विषयों और इंद्रियों की उत्पत्ति का कारण है। कर्मेंद्रिय गों में अवस्थित हैं—मुख, हाथ, पैर, मलद्वार और जननेंद्रिय। इनसे क्रमशः ये संपादित होते हैं—वाक् (बोलना), ग्रहण (किसी वस्तु को पकड़ना), गमन (जाना), निःसरण (मल बाहर करना) और जनन (संतान उत्पन्न करना)। इंद्रियों के जो बाह्य प्रत्यक्ष चिह्न हैं, जैसे आँख की पुतली, कान का छेद, वे वास्तविक इंद्रिय नहीं हैं। इंद्रिय वस्तुतः अप्रत्यक्ष शक्तियाँ हैं जो इन प्रत्यक्ष वों में रहती और विषयों का ग्रहण करती हैं। अतएव इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय हैं।[3]

---

[1] देखिए, कारिका और कौमुदी २५

[2] देखिए, प्रवचन-भाष्य २।१८

[3] देखिए, सांख्यसूत्र २।२३, कारिका और कौमुदी २६, २८।

मन आभ्यंतरिक इंद्रिय है जो कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय दोनों का साथ देता है। मन ही उन्हें अपने-अपने विषयों में प्रेरित करता है। मन बहुत ही सूक्ष्म इंद्रिय है, पर

मन

वह सावयव है, अतः एक ही साथ भिन्न-भिन्न इंद्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। मन, अहंकार और बुद्धि, ... ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय बाह्य करण हैं। प्राण की क्रिया अंतःकरण से प्रवर्तित होती है। अंतःकरण बाह्येंद्रियों से प्रभावित होता है। मन बाह्येंद्रिय द्वारा गृहीत निर्विकल्प प्रत्यक्ष का रूप निर्धारित कर उसे सविकल्प प्रत्यक्ष के रूप में परिणत करता है। अहंकार प्रत्यक्ष विषयों पर अपना स्वत्व जमाता है अर्थात् पुरुष की उद्देश्य-पूर्ति के अनुकूल विषयों ... और प्रतिकूल विषयों से द्वेष रखता है। बुद्धि इन विषयों का ग्रहण या त्याग करने का निश्चय करती है। तीन आभ्यंतरिक और दस बाह्य इंद्रिय, ये मिलकर त्रयोदशकरण (तेरह साधन) कहलाते हैं। बाह्य इंद्रियों का संबंध केवल वर्तमान विषयों से होता है, किंतु आभ्यंतरिक इंद्रियों का संबंध भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों विषयों से होता है।[1]

मन और इंद्रियों के संबंध में अन्य दर्शनों का सांख्य से मतभेद है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन एक नित्य तथा अणुरूप पदार्थ है जिसके अवयव नहीं होते और इसलिए

मतांतर

एक ही समय भिन्न-भिन्न इंद्रियों के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता। इसलिए हमें एक ही समय में अनेक ज्ञान, इच्छाएँ और संकल्प नहीं हो सकते। सांख्यमतानुसार मन न तो अणुरूप है, न नित्य पदार्थ है। वह प्रकृति का कार्यद्रव्य है, अतः उसकी काल-विशेष में उत्पत्ति भी होती है और नाश भी। इस मत के अनुसार हमें एक ही क्षण में नाना ज्ञान, इच्छाएँ और संकल्प हो सकते हैं ... वे पूर्वापर क्रम से चलते हैं। न्याय-वैशेषिक केवल मन और पाँच ... मानता है और ज्ञानेंद्रियों को महाभूतों से उत्पन्न समझता है। सांख्य ... मानता है (१ मन+५ ज्ञानेंद्रिय+५ कर्मेंद्रिय—११) और उन सबों को अहंकार से उत्पन्न समझता है। अन्यान्य दर्शन अहंकार को पृथक् तत्त्व नहीं मानते। ... *पंचप्राणों को स्वतंत्र मानता है, सांख्य उन्हें अंतःकरण का कार्य मानता है।*[2]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन विषयों के सूक्ष्म तत्त्व 'तन्मात्र' कहलाते हैं। पाँच विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते।

पंच-तन्मात्र

अनुमान ही के द्वारा हमें उनका ज्ञान होता है। हाँ, योगियों को उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों का आविर्भाव होता है। यह इस प्रकार है। शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है (जिसका गुण शब्द कान से सुना जाता है।

१ देखिए, सांख्यसूत्र, २।२६-३२,२।३८, ५।७१, कारिका और कौमुदी २७।२९-३२।३३

२ देखिए, सांख्यसूत्र २।२०।२२, २।३१-३२, ५।८४ कारिका २४, २६।३०

स्पर्श-तन्मात्र और शब्द-तन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द और स्पर्श)। (३) रूपतन्मात्र और स्पर्श-शब्द-तन्मात्रों के योग से तेज या अग्नि की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द, स्पर्श रूप)। (४) रसतन्मात्र और शब्द-स्पर्श-रूपतन्मात्रों के योग से जल की उत्पत्ति है (जिसके गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप और रस)। (५) गंधतन्मात्र और शब्द-रूप-रस तन्मात्रों के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, —ये पाँचो गुण पाए जाते हैं)। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंच महाभूतों के गुण हैं क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। जिस क्रम में इनके नाम यहाँ दिए , उसमें प्रत्येक परवर्ती में पूर्ववर्ती के गुण भी सम्मिलित हो जाते हैं, क्योंकि उनके एक दूसरे से मिलते हुए आगे बढ़ते हैं।[1]

हाभूत

प्रकृति से लेकर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति तक जो विकास की धारा चलती है उसके ा होते हैं—(१) प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग और (२) तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था में बुद्धि, अहंकार और एकादश इंद्रियों का आविर्भाव होता है। द्वितीय अवस्था में पंच तन्मात्रों, पंच महाभूतों और उनके तें (कार्यद्रव्यों) का प्रादुर्भाव होता है। तन्मात्र (सामान्य व्यक्तियों के लिए) अप्रत्यक्ष ामोग्य होने के कारण 'अविशेष' (विशेष प्रत्यक्ष धर्मों से रहित) कहलाते हैं। भौतिक और उनके परिणाम विशेष धर्मों से युक्त (अर्थात् सुखद, दुःखद या मोहप्रद) होने ण 'विशेष' कहलाते हैं। विशेष या विशिष्ट द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्थूल त, (२) स्थूल शरीर, (३) सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर)। स्थूल शरीर पंचभूतों मत है। (कोई-कोई स्थूल शरीर को चार ही भूतों से निर्मित मानते हैं; कुछ लोग ा से)। बुद्धि, अहंकार, एकादश इंद्रिय और पंचतन्मात्रों के समूह को सूक्ष्म शरीर हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का आश्रय है, क्योंकि केवल बुद्धि, अहंकार और बिना भौतिक आश्रय के काम नहीं कर सकते। वाचस्पति मिश्र स्थूल और सूक्ष्म, ये ार के शरीर मानते हैं। किंतु विज्ञानभिक्षु एक तीसरे प्रकार का शरीर भी मानते हैं अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। जब सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर से दूसरे में जाने लगता वही अधिष्ठान-शरीर इसका अवलंबन होता है।[2]

ग्रके दो रूप

सृष्टि का इतिहास क्या है, मानों चौबीस तत्त्वों का खेल है जो प्रकृति से प्रारंभ और पंचभूतो से समाप्त होता है। त्रयोदश करण और पंचतन्मात्र बीच की अवस्थाएँ रंतु यह खेल सिर्फ अपने ही लिए नहीं होता। इसके दर्शक या साक्षी पुरुष होते हैं सका आनंद उठाते हैं। संसार न तो परमाणुओं के अंधाधुंध संयोग का फल है, कारण-कार्य शक्तियों का निरर्थक परिणाम है। सृष्टि एक विशेष प्रयोजन से है। इसका उद्देश्य है नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति का साधन होना। यदि आत्मा तो पुण्य-पाप कर्मों और सुख-दुःख के भोग मे सामंजस्य होना आवश्यक है। यह

ेखिए, कारिका और कौमुदी २२

ेखिए, कारिका और कौमुदी ३८-४१, सांख्यसूत्र ३।१-१७, प्रवचन-भाष्य ३-११

संसार पुरुष के आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का साधन है। यहाँ कुछ ... जान पड़ता है, क्योंकि संसार तो पुरुष के लिए बंधन-स्वरूप माना जाता है, फिर यह ... मुक्ति का साधन कैसे कहा जाएगा? इसके उत्तर में सांख्य का कहना है कि प्रकृति ... जो सांसारिक विषयों के रूप में विकास होता है उसीसे पुरुषों का अपने-अपने धर्माधर्म ... सुख-दुःख भोग करना संभव होता है। परंतु प्राकृतिक विकास का चरम लक्ष्य है पु... की मुक्ति। संसार से धार्मिक आचरण-युक्त जीवन बिताने से ही पुरुष को अपने स्व... *का यथार्थ ज्ञान होता है। यह स्वरूप क्या है और इसका ज्ञान* ... आगे विचार करेंगे। पुरुष के संसर्ग से प्रकृति का विकास कैसे हो ... जाता है—
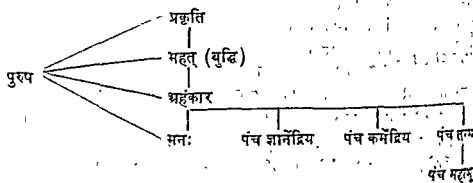
३. प्रमाण-विचार[1]

सांख्य का ज्ञान-विषयक सिद्धांत मुख्यतः उसके द्वैतवाद पर अवलंबित है। य...

त्रिविध प्रमाण केवल तीन प्रमाण (यथार्थ ज्ञान के साधन) मानता है—प्रत्... अनुमान और शब्द। अन्यान्य प्रमाण, जैसे उपमान, अर्था... अनुपलब्धि—स्वतंत्र प्रमाण नहीं माने गए हैं। उनको इन्हीं तीनों के अंतर्गत सन्नि... कर लिया है।

किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान (अर्थपरिच्छित्ति) को 'प्रमा' कहते हैं। ... आत्मा चैतन्य बुद्धि मे प्रतिबिंबित होता है तब ज्ञान का उदय होता है। सांख्य दर्श...

प्रमा का स्वरूप बुद्धि को भी जड़ तत्त्व माना गया है। चैतन्य केवल आत्मा (पु... का धर्म है। किंतु आत्मा को स्वतः विषयों का साक्षात्कार नहीं हो... यदि ऐसा होता तो हमें सर्वदा सब विषयों का ज्ञान रहता क्योंकि जो आत्मा हममें है ... *किसी स्थान-विशेष में नहीं, किंतु सर्वव्यापी है।* आत्मा को बुद्धि, मन और इंद्रियों के द्वा... विषयों का ज्ञान होता है। जब इंद्रियों और मन के व्यापार से विषयों का आकार ब... पर अंकित हो जाता है और बुद्धि पर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमें विषयों का ज्ञान होता है।

---

१ देखिए, कारिका और कौमुदी ४।६, प्रवचन-भाष्य १।८७-८६६, ६-१०३, ... ३७, ४२-५१ (इस ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में न्याय का प्रमाण-विचार देखिए।)

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की उत्पत्ति तीन वस्तुओं पर निर्भर होती है—(१) प्रमाता
वाला पुरुष), (२) प्रमेय (वह विषय जो जाना जाता है) और (३) प्रमाण (वह
साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है)। शुद्ध चेतन पुरुष ही
'प्रमाता' (ज्ञाता) होता है। बुद्धि की वृत्ति को जिसके द्वारा पुरुष
को विषय का ज्ञान होता है 'प्रमाण' कहते हैं। इस वृत्ति के द्वारा जिस
ज्ञान पुरुष को होता है उसे 'प्रमेय' कहते हैं। विषयाकारक बुद्धि में आत्मा का
इना ही 'प्रमा' (ज्ञान) है। चैतन्य के प्रकाश बिना, जड़ बुद्धि में, किसी विषय
नहीं हो सकता।

मेय और

किसी विषय का इंद्रिय के साथ संयोग होने से जो साक्षात् ज्ञान होता है वह 'प्रत्यक्ष'
है। जब कोई विषय, जैसे वृक्ष, दृष्टि-पथ में आता है तब उस वृक्ष का हमारे
दर्शनेंद्रिय (आँख) के साथ संयोग होता है। उस विषय (वृक्ष) के
कारण हमारे नेत्रेंद्रिय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है जिसका
और संश्लेषण मन करता है। इंद्रिय और मन के व्यापार से बुद्धि पर प्रभाव
और वह विषय का आकार ग्रहण करती है। परंतु विषय का आकार धारण
भी बुद्धि को स्वतः उस (विषय) का ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह (बुद्धि) जड़
रंतु उसमे (बुद्धि में) सत्त्वगुण का आधिक्य रहता है, जिसके कारण वह दर्पण
पुरुष के चैतन्य को प्रतिबिंबित करती है। पुरुष का चैतन्य उसमे प्रतिबिंबित होने
की अचेतनवृत्ति (वृक्षरूपी वृत्ति) उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित हो
न के रूप में परिणत हो जाती है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में दीपक के प्रकाश
बंब पड़ता है और उससे अन्यान्य वस्तुएँ भी आलोकित हो जाती हैं, उसी प्रकार
बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ता है और उससे विषयों का प्रकाश या
जाता है।

स्वरूप

उपर्युक्त प्रतिबिंबवाद की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। एक वाचस्पति मिश्र का
दूसरा विज्ञानभिक्षु का। ऊपर वाचस्पति मिश्र का मत दिया गया है। वाचस्पति
मिश्र का कहना है कि जब विषयाकारक बुद्धि पर चैतन्य का प्रति-
बिंब पड़ता है तब विषय का ज्ञान होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार
ज्ञान इस प्रकार होता है—जब कोई विषय इंद्रिय के संपर्क में आता है तब बुद्धि
का आकार ग्रहण करती है। तब उसमें (बुद्धि में) सत्त्वगुण का आधिक्य रहने के
चेतन पुरुष का प्रतिबिंब उसपर पड़ता है जिससे उसमें भी चैतन्य का आभास हो
है। (जैसे दीपक में प्रकाश का प्रतिबिंब पड़ने से वह स्वयं आलोकित होकर औरों को
लोकित करता है)। तत.पर वह विषयाकारक बुद्धि आत्मा में प्रतिबिंबित होती
र्थात् बुद्धि की विषयाकारक वृत्ति के द्वारा आत्मा को विषय का साक्षात्कार होता
वाचस्पति मिश्र के मत से बुद्धि में आत्मा प्रतिबिंबित होता है किंतु आत्मा में
प्रतिबिंबित नहीं होती। विज्ञानभिक्षु के मत में दोनो का प्रतिबिंब एक दूसरे पर

वाद

पड़ता है। योगसूत्र की वेदव्यासी टीका में भी इसी मत का अनुमोदन किया गया
विज्ञानभिक्षु आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिंब होना इसलिए मानते हैं कि इससे आत्मा
दुःखादि अनुभव की व्याख्या हो जाती है। अन्यथा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को
विकारों से रहित है सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि को ही ये प्र
सकते हैं। इसलिए पुरुषों के प्रत्यक्ष सिद्ध सुख-दुःखादि अनुभवों के उपपादन
पारस्परिक प्रतिबिंबवाद का आश्रय लिया गया है।

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं—निर्विकल्प और सविकल्प। जिस क्षण में
साथ विषय का संयोग होता है उस क्षण में जो विषय का आलोचन होता है उसे
कहते हैं। यह मानसिक विश्लेषण-संश्लेषण से पूर्व की अ
इसमें केवल विषय की प्रतीति मात्र होती है, विषय की प्र
ज्ञान नहीं होता। यह अनुभव शब्द द्वारा व्यक्त नहीं हो

दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव वह है जिसमें विषय का मन के द्वारा
संश्लेषण और रूपनिर्धारण होता है। इसे सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। 'यह
प्रकार का है', 'इसमें अमुक गुण है', 'इसका अमुक विषय से यह संबंध है' इस
विवेचना इस प्रत्यक्ष में होती है। किसी विषय का सविकल्प प्रत्यक्ष उद्देश्य-वि
वाक्य द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे 'यह गौ है।' 'वह फूल लाल है।'[२]

अनुमान

न्यायदर्शन में अनुमान का जो प्रकार-भेद किया गया है, वही कुछ हेर-फे
सांख्य भी मानता है। अनुमान पहले दो प्रकारों में विभ
जाता है—वीत और अवीत। जो अनुमान व्यापक वि
(Universal Affirmative Proposition) पर अवलंबित रहता है वह 'वी
जो व्यापक निषेधवाक्य (Universal Negative Proposition) पर अवलं
है, वह 'अवीत' कहलाता है।

वीत के दो प्रकार माने गए हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अ
है जो वस्तुओं के बीच दृष्ट व्याप्ति-संबंध पर अवलंबित है। जैसे, हम धुएँ देख
का अनुमान करते हैं, क्योंकि धुएँ और आग में नित्य साहचर्य का संबंध पाया
सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते हैं जहाँ लिंग और साध्य के बीच व्याप्ति-संबंध
गया है किन्तु लिंग का सादृश्य उन वस्तुओं से है जिनका साध्य के साथ नित्य
जैसे, हमें इंद्रिय हैं, इस बात को हम कैसे ...
क्योंकि इंद्रिय अगोचर हैं। आँख स्व ...

---

१ देखिए, प्रवचनभाष्य १।९९, ...
२ निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष के विशेष विवरण के लिए श्री
चट्टोपाध्याय लिखित "The Nyaya Theory of Knowledge" (
देखिए।

पास कोई इंद्रिय नहीं है। अंगुली का पोर स्वयं अपना स्पर्श नहीं कर सकता। अतएव इंद्रियों के अस्तित्व का ज्ञान हमें इस प्रकार अनुमान के द्वारा होता है। "सभी कार्य किसी-न-किसी साधन द्वारा संपादित होते हैं। जैसे, पेड़ काटने के लिए कुल्हाड़ी की जरूरत पड़ती है। किसी रूप या गंध का अनुभव भी एक कार्य है। अतः इसके लिए भी कोई साधन या करण (इंद्रिय) होना चाहिए।" यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि हम इंद्रियों के अस्तित्व का अनुमान प्रत्यक्ष की क्रिया से इसलिए नहीं करते कि उन दोनों में (प्रत्यक्ष ज्ञान और इंद्रिय में) व्याप्ति का संबंध देखा गया है, परंतु इसलिए करते हैं कि प्रत्यक्ष-ज्ञान एक क्रिया है और प्रत्येक क्रिया के लिए एक साधन की जरूरत पड़ती है।

दूसरे प्रकार का अनुमान है 'अवीत', जिसे कुछ नैयायिक शेषवत् या परिशेष अनुमान कहते हैं। जब सभी विकल्पों को छाँटते-छाँटते अंत में एक ही शेष बच जाता है, तब वही सत्य प्रमाणित होता है। जैसे, "शब्द द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय या अभाव नहीं हो सकता। अतः शब्द गुण है।" इस प्रकार का अनुमान अवीत (शेषवत्) कहलाता है। नैयायिकों की तरह सांख्य भी पंचावयव वाक्य को अनुमान का सबसे प्रामाणिक स्वरूप मानते हैं।[१]

तीसरा प्रमाण है। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं होता उसका ज्ञान आप्तवचन के द्वारा हो जाता है। विश्वस्त वाक्य को आप्तवचन कहते हैं।

शब्द

वाक्य का अर्थ है शब्दों का एक विशेष क्रम से विन्यास। शब्द किसी वस्तु का वाचक होता है। वाच्य विषय ही शब्द का अर्थ है। अर्थात् शब्द वह संकेत है जो किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है। वाक्य बोध होने के लिए शब्द बोध होना आवश्यक है। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और वैदिक। साधारण विश्वासपात्र व्यक्तियों के आप्तवचन को लौकिक शब्द कहते हैं। सांख्य इसे स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित है। श्रुति या वेद का वाक्य ही शब्द-प्रमाण की कोटि में आता है। वैदिक वाक्य हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान कराते हैं जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं जाने जा सकते। अपौरुषेय होने के कारण, वेद उन सभी दोषों और त्रुटियों से रहित हैं जो लौकिक वाक्यों में हो सकती हैं। वैदिक वाक्य अभ्रांत और स्वतः प्रमाण हैं। वे द्रष्टा ऋषियों के साक्षात् अनुमान (Intuitions) हैं। यह अनुभव किसी व्यक्तिविशेष के ज्ञान या इच्छा पर आश्रित नहीं, किंतु सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य है। इस तरह वेद अपौरुषेय हैं। फिर भी वे नित्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के दिव्य अनुभवों से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन-पाठन की परंपरा से सुरक्षित रहते हैं।

---

१ इस पुस्तक के न्याय-दर्शनवाले अध्याय में अनुमान का प्रकरण देखिए। विशद विवेचना के लिए श्री सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय का The Nyaya Theory of Knowledge (BooK III) देखिए।

४. मोक्ष या कैवल्य[1]

हमारा सांसारिक जीवन सुख-दुःख से भरा हुआ होता है। जीवन में निःसंदेह नाना प्रकार के आनंद भी हैं, और बहुत से लोग उनका भोग भी करते हैं। परंतु दुःख-कष्टों की मात्रा और भी कहीं अधिक है और संसार के सभी जीवों को उनका भोग करना पड़ता है। यदि किसी जीव के लिए दुःख-क्लेशों से त्राण पाना संभव भी हो तो जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पाना उसके लिए असंभव है।

त्रिविध दुःख

साधारणतः तीन प्रकार के दुःख हैं। आध्यात्मिक,[2] आधिभौतिक और आधि-दैविक। आध्यात्मिक दुःख उसे कहते हैं जो जीव के अपने शरीर या मन आदि से उत्पन्न होता है। शारीरिक और मानसिक [illegible] क्रोध, संताप आदि आध्यात्मिक दुःख [illegible] जो बाह्य भौतिक पदार्थ के कारण उत्पन्न होता है। जैसे बिच्छू का डंक। आधिदैविक दुःख वह है जो बाह्य अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है, जैसे भूतप्रेतादि का उपद्रव।

मुक्ति

सभी मनुष्य दुःख से बचना चाहते हैं। बल्कि सबकी यही इच्छा रहती है कि [illegible] के लिए सब दुःखों का अंत हो जाए और सर्वदा आनद बना रहे। परंतु ऐसा होने का नहीं। किसीको केवल आनद ही नही मिल सकता। सभी दुःखों से एक-बारगी छुटकारा पा जाना असंभव है। जबतक यह नश्वर शरीर है, जब तक ये दुर्बल इंद्रिय हैं, तब तक सभी सुखों का दुःख मिश्रित होना अथवा क्षणिक होना अवश्यंभावी है। इसलिए हमें चाहिए कि सुखवाद (Hedonism) का आदर्श (आनंद-भोग) परित्याग कर उससे कम आकर्षक परंतु अधिक युक्तिसंगत ध्येय, दुःखों की निवृत्ति, से ही संतोष करें। यही दुःखों का अत्यंतनिवृत्ति—सभी दुःखों का सर्वदा के लिए निवारण जिससे दुःख की कभी पुनरावृत्ति नहीं हो सके—'मुक्ति', अपवर्ग या 'पुरुषार्थ' कहलाती है।

मुक्ति का मार्ग

सभी दुःख-क्लेशों से मुक्ति पाने का मार्ग क्या है? मानव-बुद्धि के द्वारा विविध कला-विज्ञानों का विकास हुआ है और उनसे जीवन की जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं वे क्षणिक आनंद देनेवाली अथवा दुःख का कुछ ही काल तक निवारण करनेवाली होती हैं। उनसे समस्त शारीरिक-मानसिक कष्टों का सर्वदा के लिए अंत नहीं हो जाता। भारतीय दर्शनकार इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे उत्तम उपाय ढूँढ़ निकालते हैं। वह है तत्त्वज्ञान। हमारे सब

---

१ देखिए, कारिका और कौमुदी ४४-६८, सांख्य सूत्र, प्रवचन भाष्य और वृत्ति ३।६५-८४

२ आध्यात्मिक शब्द का हिंदी में जो प्रचलित अर्थ है, वह यहाँ लागू नहीं है। यहाँ आत्मा से पुरुष नहीं, किंतु पुरुष की देह से तात्पर्य है। संस्कृत में आत्मा शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जिनमें एक अर्थ देह भी है। तथा—"आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि।" देह का अर्थ भी स्थूल और सूक्ष्म दोनों है। सूक्ष्म देह पंचतन्मात्र, एकादश इंद्रिय, बुद्धि और अहंकार से निर्मित है। स्थूल और सूक्ष्म देह से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं।

दुःख अज्ञान के कारण होते हैं। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हम देखते हैं कि अज्ञानी या मूर्ख व्यक्ति इसलिए दुःख पाता है कि वह बारंबार जीवन और प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ रहता है।

जितना ही अपने विषय में अथवा इस संसार के विषय में हमें ज्ञान होता है उतना ही जीवन संग्राम और सुखभोग के लिए हममें अधिक योग्यता आती है। परंतु तथापि हम कभी पूर्णतः सुखी या कम से कम दुःखों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते। इसका कारण है कि हमें पूर्ण तत्त्व का ज्ञान नहीं रहता। जब हमें यथार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब हम सभी दुःखों से मुक्ति पा जाते हैं।

सांख्य-दर्शन के अनुसार दो ही प्रकार की वास्तविक सत्ताएँ हैं। एक चेतन पुरुष और उसके विषय-भूत जड़ पदार्थ। पुरुष शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है जो देश, काल और कारण के बंधनों से रहित है। वह निर्गुण और निष्क्रिय होता है। वह ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रिय, शरीर आदि समस्त विषयों के संसार से परे है। जितनी भी क्रियाएँ या परिवर्तन होते हैं, जितने भी भाव या विचार उठते हैं, जितने भी सुख-दुःख होते हैं, वे मनोयुक्त शरीर में। पुरुष या आत्मा इस मनोभूत शरीर से बिलकुल पृथक् है। यह सभी शारीरिक-मानसिक विकारों से निर्लिप्त रहता है। सुख-दुःख इसे व्याप्त नहीं होते। वे मन के अनुभव हैं। सुखी या दुःखी होनेवाला मन है, आत्मा नहीं। इसी तरह पुण्य धर्म और अधर्म आदि अहंकार के गुण हैं जो सभी कार्यों के प्रवर्त्तक या कर्त्ता हैं।[१] यही सत्कर्म या असत् कर्म की ओर प्रवृत्त होता है और कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग करता है। आत्मा या पुरुष इस अहंकार से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा या पुरुष सांसारिक विषयों से परे, शुद्ध चैतन्य या ज्ञान, नित्य, अविनाशी और मुक्त है। यह नित्य एकरस ज्ञान-स्वरूप होता है। परिवर्त्तनशील मनोविकार मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का केवल साक्षी मात्र है। यह दोनो से भिन्न है। यह दैशिक, कालिक बंधनों और कारण-कार्य-शृंखला से भी मुक्त है। यह नित्य या अमर है, क्योंकि इसकी न तो उत्पत्ति ही होती है और न कभी विनाश ही हो सकता है।[२]

पुरुष का वास्तविक स्वरूप

सुख और दुःख वस्तुतः बुद्धि या मन को होते हैं। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह इन सबों से मुक्त रहता है। किंतु अज्ञान के कारण वह बुद्धि या मन से अपना पार्थक्य नहीं समझता और उन्हें अपना ही अंग समझने लगता है। यहाँ तक कि यह अपने ही को शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि समझने लग जाता है। दूसरे शब्दों में, यह कहिए कि यह विशिष्ट बुद्धि स्वभावयुक्त विशिष्ट नाम-रूप-धारी व्यक्ति बन जाता है। इस तरह आत्मा, शारीरिक, सामाजिक आदि रूपों में प्रतीत होता है। सांख्य मत के अनुसार ये अनात्म-

अज्ञान या अविवेक

१ देखिए, सांख्यसूत्र और वृत्ति ५।२५-२६
२ देखिए, प्रवचनभाष्य १।१४६-४८

विषय (आत्मा से भिन्न पदार्थ) हैं जो आत्मा के चैतन्य से उद्भासित होते और उसमें (आत्मा में) अपने विकार या भाव आरोपित करते हैं।

बुद्धि में सुख या दुःख का आविर्भाव होने पर आत्मा को ऐसा भान होता है कि हीं सुख या दुःख हो रहा है। (क्योंकि वह बुद्धि से अपने को अभिन्न समझता है) उसी तरह, जैसे प्रिय संतान के सुखी या दुःखी होने पर पिता अपने ही को सुखी या दुः समझता है अथवा अपने सेवक के अपमान से स्वामी अपना अपमान समझता है। अविवेक (आत्मा का शरीर से पार्थक्य-ज्ञान का अभाव) सारे अनर्थों की जड़ है। सुख-दुःख इसलिए भोगते हैं कि द्रष्टा (पुरुष) अपने को दृश्य (प्रकृति) समझ लेत और इस तरह सुख-दुःख का आधार अपने को मानने लगता है।[1]

आत्मा और अनात्म-विषय में भेद के ज्ञान का अभाव अर्थात् अविवेक ही सा दुःखों का मूल कारण है। इस भेद के ज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति मोक्ष संभव है।[2] परंतु केवल इस बात को मन में समझ लेना ज्ञान नहीं कहलाता। इस सत्य की साक्षात् अनुभूति होनी चा

विवेकज्ञान

कि आत्मा (मैं) शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। एक बार जब इस सत्य साक्षात्कार हो जाता है कि हममें जो आत्मा है वह अनादि और अमर है, नित्य अविना चैतन्य या ज्ञाता स्वरूप है, तब हम सभी क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं। यह जो भ्रम है कि शरीर या मन ही 'मैं' हूँ, इसे दूर करने के लिए सत्य का साक्षात् अनुभव होना जरूरी मैं अपने को एक विशिष्ट मनोयुक्त देह समझ रहा हूँ। इसमें मुझे कोई संदेह नहीं हो यह प्रत्यक्ष-सिद्ध जान पड़ता है। इसी तरह, 'मैं' यह देह (मन, इंद्रिय आदि से युक्त) हूँ, यह ज्ञान भी उतना ही प्रत्यक्ष और निःसंदेह होना चाहिए। तभी वह भ्रम दूर हो स है। रस्सी में साँप का जो भ्रम होता है, वह किसी युक्ति या उपदेश से दूर नहीं हो रस्सी का यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान ही उसे काट सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब बड़ी साधना की आवश्यकता है। उसके लिए इस सत्य का निरंतर मनन और निदिध्या चाहिए कि यह आत्मा, शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि नहीं है।[3] इस साधना का क्या है और कैसे अभ्यास करना चाहिए, इसकी विवेचना योगदर्शन में की जाएगी।

जब आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है तब उसमें कोई विकार नहीं आता, न उ किसी नवीन गुण या धर्म का आविर्भाव होता है। मोक्ष या कैवल्य का अर्थ किसी अव से पूर्ण अवस्था पर पहुँचना नहीं है। इसी तरह, अमरत्व या नि को सामयिक घटना समझना भूल है। यदि वह विशेष घटना है तो देश, काल और कार्य-कारण की शृंखला में बँधी होगी और तब आत्मा न मुक्त ही ज सकता न नित्य ही। *मुक्ति या मोक्ष का अर्थ है इस सत्य का साक्षात्कार कि आ*

मुक्ति का स्वरूप

१ देखिए, कारिका और कौमुदी, ६२, प्रवचन और वृत्ति ३।७२
२ देखिए, कारिका और कौमुदी, ४४, ६३, सांख्य-सूत्र और वृत्ति ३।२३-२४
३ देखिए, सांख्य-सूत्र और वृत्ति ३।६६, ७५, कारिका और कौमुदी ६४

ःवान्त से परे, शरीर और मन से भिन्न और स्वभावतः मुक्त, नित्य और अमर है।[१] ऐसी अनुभूति होती है तब आत्मा का शरीर या मन के विकारों से प्रभावित होना बंद जाता है और वह केवल उनका साक्षी रूप होकर रहता है।

जिस प्रकार नर्तकी (नाच करनेवाली) दर्शकों को अपना नृत्य दिखलाकर और संतुष्ट कर अपने नृत्य से विरत होती है, उसी तरह प्रकृति अपने भिन्न-भिन्न रूप पुरुष को दिखलाकर सृष्टि कार्य से विरत होती है।[२] प्रत्येक पुरुष के लिए इसी जीवन में अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और उनके द्वारा मुक्ति पाना संभव है। ऐसी मुक्ति को जीवनमुक्ति कहते हैं। मृत्यु के अंतर जो देह से भी मुक्ति होती है उसे विदेह-मुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म, सभी शरीरों से संबंध छूट जाता है और पूर्ण य प्राप्त हो जाता है।[३] विज्ञानभिक्षु का मत है कि विदेह-मुक्ति ही वास्तविक है,[४] क जब तक आत्मा शरीर में अवस्थित रहता है, तब तक शारीरिक और मानसिक रों से उनका संबंध पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो सकता। इस बात में सभी सांख्यों का मत है कि मुक्ति का अर्थ है, दुःखत्रयाभिघात अर्थात् तीनो प्रकार के दुःखों का समूल । वेदांत मोक्ष की अवस्था को आनंदमय मानता है। सांख्य इस बात को स्वीकार करता। जहाँ कोई दुःख नहीं है, वहाँ कोई सुख भी नहीं हो सकता क्योंकि वे दोनो और अविच्छेद्य हैं।

५. ईश्वर[५]

ईश्वर को लेकर सांख्य के अनुयायियों में कुछ वादविवाद है। उनमे अधिकांश रवाद का स्पष्टतः खंडन करते हैं किंतु कुछ यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि सांख्य न्याय से कम आस्तिक नही है। सनातन सांख्य मतावलंबी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं—(१) यह संसार कार्य-शृंखला है, अतएव इसका कारण होना चाहिए, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, परंतु वह कारण ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि को नित्य निर्विकार (अपरिणामी) परमात्मा माना गया है और जो परिणामी वर्तनशील) नही है वह किसी वस्तु का निमित्त कारण नही हो सकता। (अर्थात्

देखिए, सांख्य-सूत्र और वृत्ति ५।७४-८३, सांख्य-सूत्र १।५६, ६।२०
देखिए, कारिका और कौमुदी ५९, ६५-६६
देखिए, कारिका और कौमुदी ६७-६८, सांख्य सूत्र और वृत्ति ३।७८-८४
देखिए, प्रवचनभाष्य ३।७६-८४, ५।११६
देखिए, कारिका और कौमुदी ५६-५७, सांख्यसूत्र, वृत्ति प्रवचन १।९२-९५, ३-५६-५७, ५।२-१२। इस संबंध में गौड़पाद का सांख्यकारिका-भाष्य और A. K. Majumdar का The Sankhya Conception of Personality (Chap. I and II) का भी द्रष्टव्य है।

किसी क्रिया का प्रवर्त्तक नहीं हो सकता) अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि जगत् क
कारण [illegible]
(२) [illegible]
करने के लिए चेतन सत्ता आवश्यक है जो सृष्टि उत्पन्न करती है। जीवात्माओं क
सीमित रहता है, इसलिए जगत् के सूक्ष्म उपादान कारण को नियंत्रित नहीं कर
अतएव एक अनंतबुद्धियुक्त चेतन सत्ता होनी चाहिए जो प्रकृति का संचालन कर
इसीका नाम ईश्वर है। परंतु ऐसा तर्क समीचीन नहीं है। ईश्वरवादियों के मत में
कुछ करता नहीं, वह किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता। परंतु प्रकृति का संचा
नियमन करना तो एक क्रिया है। मान लीजिए, ईश्वर प्रकृति का नियामक है
प्रश्न उठता है—ईश्वर प्रकृति के संचालन द्वारा सृष्टि-रचना में क्यों प्रवृत्त होत
उसका कोई अपना उद्देश्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण परमात्मा में कोई अपूर्ण
या अतृप्त मनोरथ रहना असंभव है। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर का प्रयोजन
जीवों की उद्देश्य-पूर्ति है तो शंका उठती है कि बिना अपने किसी स्वार्थ के कोई भी
दूसरे की उद्देश्य-सिद्धि के लिए तत्पर नहीं होता। और वास्तव में देखा जाए तो यह
इतने पापों और कष्टों से भरा है कि यह कहना असंगत प्रतीत होता है कि ई
जीवों के हित-साधनार्थ इस सृष्टि की रचना की है। (३) यदि ईश्वर में विश्वास
जाए तो जीवों का स्वातंत्र्य और अमरत्व बाधित (खंडित) हो जाता है। यदि जी
ईश्वर का अंश माना जाए तो उसमें ईश्वरीय शक्ति रहनी चाहिए जो मान देखने
आती। इसके विपरीत यदि उन्हें ईश्वर के द्वारा सृष्ट (उत्पन्न) मानते हैं तो फिर
नश्वर होना सिद्ध होता है।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि ईश्वर नहीं है और प्रकृति ही संसार का
कारण है। प्रकृति अज्ञात रूप से स्वभावतः पुरुषों के कल्याणार्थ उसी तरह सृष्टि
करती है, जिस तरह बछड़े की सृष्टि के निमित्त गाय के थन से स्वतः दूध की धारा बह

सांख्य के कुछ टीकाकार ऐसे भी हैं जो सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध करने का
करते हैं। इनमें विज्ञानभिक्षु प्रमुख हैं। कुछ आधुनिक सांख्यमतानुयायी भी इसी म

ईश्वरवादी सांख्य

समर्थन करते हैं। इन लोगों का कहना है कि सृष्टि-क्रिया के प्र
रूप में तो ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु उपा
ऐसे ईश्वर को मानना आवश्यक है जिनकी सन्निधि (समीप
ही प्रकृति की क्रियाशक्ति प्रवर्त्तित हो जाती है, जिस प्रकार चुंबक के समीप सुई
आ जाती है। ऐसा ईश्वर अपने में पूर्ण और नित्य साक्षी स्वरूप है। विज्ञानभि
मतानुसार ऐसे ईश्वर की सिद्धि युक्ति और शास्त्र दोनों से होती है। सांख्य की
ईश्वरवादी व्याख्या अधिक प्रचलित नहीं है।[१]

१ देखिए, प्रवचनभाष्य और A. K. Majumdar का The Sankhya Conce
of Personality.

६. उपसंहार

सांख्य-दर्शन वस्तुवाद (Realism) और द्वितत्त्ववाद (Dualism) का प्रतिपादन करता है। यह प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वों के सहारे जगत का उपपादन करता है। सारा संसार इन्हीं दो का खेल है। एक तरफ प्रकृति है जो भौतिक संसार (अर्थात् विषय इंद्रिय, शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार इन सबके समूह) का मूल कारण है। यह प्रकृति संसार का उपादान कारण भी और निमित्त कारण भी है। यह सक्रिय और निरंतर परिवर्तनशील होती है। परंतु साथ ही यह अचेतन या जड़ है। इस तरह के अचेतन तत्व से नियंत्रित शृंखलापूर्ण जगत् का विकास कैसे होता है? वह निश्चित ध्येय की तरफ कैसे बढ़ता है? जब आदि में प्रकृति साम्यावस्था में थी तब फिर पहले-पहल उसमें विकार या क्षोभ क्यों उत्पन्न हुआ? इसके निमित्त सांख्य दूसरे तत्त्व का आश्रय लेता है, पुरुष या आत्मा। पुरुष शुद्ध चैतन्य-रूप आत्मा है जो नित्य और विकारी है। वह चेतन होता है परंतु साथ ही निष्क्रिय और अपरिणामी भी (अर्थात् उसमें कोई क्रिया या विकार नहीं आता)। इन्हीं चेतन पुरुषों के संपर्क से जड़ प्रकृति संसार की सृष्टि करती है। सांख्य का कहना है कि पुरुष की सन्निधि या सामीप्य मात्र से प्रकृति में क्रिया प्रवर्तन हो जाता है। परंतु पुरुष स्वयं निर्विकार रहता है। इसी तरह पुरुष (चैतन्य) का प्रतिबिंब ही जड़ बुद्धि पर पड़ने से उसमें ज्ञानादिक क्रियाओं का आविर्भाव हो जाता है। परंतु पुरुष की केवल सन्निधि मात्र से प्रकृति में क्यों विकार होने लगते हैं और पुरुष में क्यों नहीं विकार होता इसका स्पष्ट समाधान नहीं मिलता। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि चैतन्य निराकार होता है, फिर निराकार चैतन्य का प्रतिबिंब साकार बुद्धि पर कैसे पड़ता है? बुद्धि तो जड़ तत्त्व है, फिर उसमें ज्ञान का उदय कैसे हो जाता है? इन बातों को समझने के लिए सांख्य में दृष्टांत दिए गए हैं उनसे पूरा समाधान नहीं होता। फिर एक शंका यह भी है कि जीवों के गुण, क्रिया, जन्म, मरण और आकृति-प्रकृति के भेद से पुरुषों का अनेकत्व सिद्ध किया जाता है। परंतु ये सब तो शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जो विभेद देखने में आते हैं वे प्रकृति के हैं, शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुष के नहीं। फिर उनके बल पर बहुपुरुषवाद की स्थापना कैसे की जा सकती है? व्यावहारिक जगत् में हम जिन्हें भिन्न-भिन्न पुरुष समझते हैं वे भिन्न-भिन्न अहंकार मात्र कहे जा सकते हैं। विवेचनात्मक दृष्टि से सांख्य दर्शन में ऐसे कई शंका-स्थल हैं जिनका ठोस समाधान नहीं मिलता। फिर भी सांख्य दर्शन का महत्त्व कम नहीं समझना चाहिए। आत्मोन्नति और मुक्ति के साधनरूप में इसका बहुत ही अधिक मूल्य है। दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए यह दर्शन उतना ही मूल्यवान है जितना कोई भी आस्तिक दर्शन। यह साधक को जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष—का मार्ग दिखलाता है।

८

योग दर्शन

१. विषय-प्रवेश

योग-दर्शनकार पतंजलि

जो व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के जिज्ञासु हैं उनके लिए महर्षि पतंजलि का योग-द[र्शन] एक अमूल्य निधि है। जो शरीर, इंद्रिय, मन के समस्त बंधनों [से] रहित, शुद्ध आत्मा के दर्शन करना चाहते हैं उनके लिए योग [एक] महान साधन है। महर्षि पतंजलि के नाम पर यह पातंजल [द]र्शन भी कहलाता है। पातंजल सूत्र या योगसूत्र ही इस दर्शन का मूल ग्रंथ है। योगसूत्र [पर] व्यासकृत प्रसिद्ध भाष्य है जो व्यासभाष्य या योगभाष्य कहलाता है। व्यास के भा[ष्य]

योग का साहित्य

पर वाचस्पति मिश्र की प्रामाणिक टीका तत्त्ववैशारदी है। भोज[राज] की वृत्ति और योगमणिप्रभा योग-विषयक सुबोध और प्रचलित पुस्[तकें] हैं। विज्ञान-भिक्षु का योगवार्त्तिक और योगसारसंग्रह भी योग-दर्शन के उपयोगी ग्रंथ [हैं]।

योगसूत्र का विषय

पातंजल सूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद 'समाधि' पाद कहलाता [है]। इसमें योग के स्वरूप, उद्देश्य और लक्षण, चित्तवृत्तिनिरोध के उ[पाय] तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के योगों की विवेचना की गई है।

दूसरा पाद 'साधना-पाद' कहलाता है। इसमें क्रिया-योग, क्लेश,[1] कर्मफल [और] उनका दुःखात्मक स्वभाव, दुःखादि चतुष्टय (दुःख, दुःख का निदान, दुःख की निवृत्ति [और] दुःख-निवृत्ति का उपाय) आदि विषयों का वर्णन है। तीसरा पाद 'विभूति-पाद' कहला[ता] है। इसमें योग की अंतरंग अवस्थाओं तथा योगाभ्यास जनित सिद्धियों का वर्णन है। चौथा पाद है 'कैवल्य-पाद'। इसमें मुख्यतः कैवल्य या मुक्ति के स्वरूप की विवेचना [की] गई है। (प्रसंगानुसार आत्मा, परलोक आदि विषयों का भी वर्णन है।)

सांख्य और योग का संबंध

सांख्य और योग में घनिष्ठ संबंध है। सच पूछिए तो सांख्य के सिद्धांत [का] व्यावहारिक जीवन में प्रयोग ही योग है। ज्ञान के विषय में सांख्य का जो विचार है [वह] योग भी मानता है। सांख्योक्त त्रिविध प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमा[न] और शब्द, योग को भी मान्य है। यह सांख्य के पचीस तत्त्वों को [भी] स्वीकार करता है। परंतु उनमें एक और जोड़ देता है—ईश्वर

---

1 क्लिश् धातु का व्यवहार सामान्यतः अकर्मक क्रिया के रूप में (क्लिश्यति—दुःख पाता है)होता है। इस तरह क्लेश का अर्थ होता है दुःख या कष्ट। परंतु कभी कभी क्लिश् धातु का सकर्मक रूप में भी व्यवहार होता है (जैसे क्लिश्नाति—कष्ट पहुँचाता है)इस प्रसंग में क्लेश शब्द का व्यवहार इसी अर्थ के अनुकूल जान पड़[ता] है। देखिए व्यासभाष्य ११५ (क्लिष्ट—क्लेशहेतुक)

[इ]स मत के अनुसार विवेक-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। योग इस बात को मानता हुआ [भी म]ाना है कि योगाभ्यास ही विवेक-ज्ञान का साधन है।

आत्मोन्नति के साधन रूप में योग की महत्ता को प्राय: सभी भारतीय दर्शनों ने [स्वी]कार किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण—सभी में योगाभ्यास की चर्चा है।[1] जब तक मनुष्य का चित्त या अन्तःकरण निर्मल और स्थिर नहीं होता तब तक उसे धर्म या दर्शन के तथ्य का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। शुद्ध हृदय और शांत मन से ही हम इन गूढ़ सत्यों को [समझ स]कते हैं। आत्म-शुद्धि के लिए योग ही सर्वोत्तम साधन है। इससे शरीर और मन [की श]ुद्धि हो जाती है। इसलिए सभी भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-[अपने] सिद्धांतों को यौगिक रीति से ध्यान, धारणा आदि के द्वारा स्पष्ट अनुभव करने के [लिए] प्रयत्न करते हैं।

[...] का महत्त्व

पातंजल दर्शन में योग के स्वरूप और उसके भिन्न-भिन्न प्रकारों की सूक्ष्म आलोचना [की ग]ई है। योगाभ्यास के विविध अंगों और उनसे संबद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयों पर भी गहरा विचार किया गया है। सांख्य (तथा कतिपय अन्यान्य भारतीय दर्शन) की तरह योग का भी यही सिद्धांत है कि विवेक-ज्ञान (अर्थात् शरीर, मन, इंद्रिय आदि से आत्मा भिन्न है ऐसा ज्ञान) से ही [मुक्ति] पाना संभव है। परंतु यह ज्ञान तभी हो सकता है जब शारीरिक और मानसिक [वृत्त]ियों का दमन करते हुए अर्थात् क्रमशः शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर विजय [प्राप्त] करते हुए शुद्ध आत्मा या पुरुष के यथार्थ स्वरूप को पहचानें। तब हमें यह ज्ञान हो[गा] कि शरीर, मन, इंद्रिय, बुद्धि और सुख-दुःख के भोक्ता अहंकार—इन सबसे आत्मा [भिन्न] है। यह देश-काल और कारण के बंधनों से परे है। यह आत्मा मुक्त और शाश्वत [है।] पाप, दुःख, रोग, मृत्यु—इन सबों से ऊपर है। यही अनुभव आत्मज्ञान है। इसी [आत्म]ज्ञान या विवेक-ज्ञान से मुक्ति अर्थात् सकल दुःखों की निवृत्ति होती है। आत्मज्ञान [के सा]धक के लिए योगदर्शन व्यावहारिक मार्ग बतलाता है। सांख्य का अधिक जोर इस [बा]त पर है कि विवेक-ज्ञान मुक्ति का साधन है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए वह अध्ययन, [मनन] और निदिध्यासन का भी निर्देश करता है।[2] परंतु योग मुख्यतः व्यावहारिक पहलू [पर ज]ोर देता है अर्थात् मुक्ति या आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किन उपायों का [अवलं]बन किया जाए (किस प्रकार से आत्मशुद्धि और समाधि का अभ्यास किया जाए), [योग] के अभ्यासवाले प्रकरण में इन बातों का वर्णन किया जाएगा। इसके पूर्व हम यह देखें [कि य]ोग के अनुसार आत्मा का क्या स्वरूप है, चित्त का क्या कार्य है और शरीर, मन, आत्मा [में] परस्पर क्या संबंध है।

[...] मार्ग

२. योग का मनोविज्ञान

सांख्य-योग के अनुसार, जीव स्वतंत्र पुरुष है जो स्थूल शरीर से और विशेषत: सूक्ष्म

[1] देखिए, कठोपनिषद् ६।११,६,१८; श्वेताश्वतर २।८, ९, ११

[2] देखिए, कारिका और कौमुदी, ५१

शरीर (इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) से संबद्ध है। जीव स्वभावतः शुद्ध चैतन्य-

जीव का स्वरूप

है। यह वस्तुतः शारीरिक बंधनों और मानसिक विकारों से [illegible] रहता है। परंतु अज्ञान के कारण यह चित्त के साथ अपना [illegible] कल्पित कर लेता है (अर्थात् भ्रमवश अपने को 'चित्त' समझने [illegible] है)। चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें रजोगुण और तमोगुण के ऊपर स[त्त्व] की प्रबलता रहती है। चित्त स्वभावतः जड़ है, परंतु आत्मा के निकटतम संपर्क में [रहने] के कारण वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। निर्मल होने के कारण [इसमें] आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है जिससे उसमें चैतन्य का आभास आ जाता है। जब चि[त्त का] किसी विषय से संपर्क होता है तब वह उसी का आकार धारण कर लेता है। इन्हीं [विषयों] के अनुरूप चित्त-विकारों के द्वारा आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है। यद्यपि आ[त्मा में] स्वतः कोई विकार या परिणाम नहीं होता, तथापि परि[illegible] होने के कारण इसमें परिवर्त्तन का आभास होता है, [illegible] चंद्रमा हिलता हुआ जान पड़ता है।[1]

चित्त की वृत्तियाँ

चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—(१) प्रमाण (सत्य-ज्ञान) [(२)] विपर्यय (मिथ्या-ज्ञान), (३) विकल्प (कल्पना), (४) [निद्रा] (नींद) और (५) स्मृति (स्मरण)। प्रमाण दो प्रकार [के] हैं—अनुमान और शब्द। इनके विषय में सांख्य का जो मत [है, वह] मोटा-मोटी योग का भी है।

विषयों के संबंध में मिथ्याज्ञान को विपर्यय (भ्रम) कहते हैं। संशय भी [इसी के] अंतर्गत आ जाता है। विकल्प का अर्थ है वह शब्द-जनित वृत्ति जिसका लगाव वस्तु से नहीं हो। जैसे शून्य, आकाश-कुसुम इन शब्दों से अर्थबोध होते हैं, पर उन के अनुरूप कोई वस्तु नहीं है। निद्रा वह चित्तवृत्ति है जिसमें तमोगुण का प्राधान्य है और उसके कारण जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं के अनुभव विलीन हो जाते हैं। इस [अवस्था] को 'सुषुप्ति' कहते हैं। कुछ दार्शनिकों का मत है कि सुषुप्तावस्था में कोई भी मा[नसिक] क्रिया नहीं होती और चैतन्य का लोप हो जाता है। परंतु ऐसा समझना ठीक [नहीं।] निद्राभंग होने पर (जागने पर) हम कहते हैं—'मैं खूब सोया' 'ऐसा सोया कि किसी] का बोध नहीं रहा।' इत्यादि। अर्थात् निद्रावस्था की बात हमें स्मरण रहती है। [इससे] सूचित होता है कि निद्रावस्था का प्रत्यक्ष अनुभव हमें अवश्य ही हुआ होगा, तभी [तो] स्मरण आता है। इस तरह सिद्ध होता है कि सुषुप्तावस्था में भी मन अपना का[र्य करता] रहता है। विषय का अभाव ही इस वृत्ति का आलंबन है। अतः निद्रा को 'अभाव-[प्रत्यय-आलं]बना वृत्ति' कहते हैं। अतीत अनुभवों की यथावत् मानसिक प्रतीति 'स्मृति' [है।] [इन] पाँच वृत्तियों के अंदर सभी चित्तवृत्तियाँ आ जाती हैं।[2]

---

१ देखिए, योगसूत्र और वृत्ति १।४ (इस पुस्तक में 'सांख्य-दर्शन' अध्याय का सृष्टि-प्रकरण भी देखिए)।

२ देखिए, योगसूत्र, भाष्य और वृत्ति १।५-११

जब चित्त किसी वृत्ति में परिणत हो जाता है तब उसपर आत्मा का प्रकाश पड़ता
ोर वह आत्मसात् हो जाता है अर्थात् आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेरी ही
था है। इसीलिए ऐसा भासित होता है कि पुरुष (आत्मा) ही सब कुछ सोचता और
करता है। जैसे वही जन्म लेता और मरता है, उसीमें वृद्धि या ह्रास
होता है, वही सोता-जागता है, वही कल्पना या स्मरण करता है, वही
भूल करता और सुधारता है, इत्यादि। परंतु यथार्थ में यह सब
भ्रम है। जन्म, मरण आदि क्रियाएँ शरीर की हैं। सोना, जागना
क्रियाएँ मन की हैं। ध्यान, कल्पना, स्मृति—सभी मन की वृत्तियाँ हैं। आत्मा
सभी विकारों से परे है। यह इनसे संयुक्त इसलिए जान पड़ता है कि वह चित्त में
बिंबित हो जाता है, उसी तरह, जैसे दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिंब उतर आता है।
तरह पाँच प्रकार की क्लेशकर भ्रांत वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये पंच क्लिष्ट-वृत्तियाँ
(१) अविद्या (अर्थात् अनित्य को नित्य समझना जैसे, अनात्म-पदार्थ को आत्मा
लेना, मिथ्या सुख को वास्तविक सुख समझ लेना, अशुचि को शुचि समझ लेना)।
अस्मिता (अर्थात् आत्मा को भ्रमवश बुद्धि या मन समझ लेना)। (२) राग
और उसके साधनों की प्राप्ति के लिए इच्छा)। (४) द्वेष (दुःख और उससे वैर)।
अभिनिवेश (अर्थात् मृत्यु का भय)।[१]

र, मन और
ा का संबंध

जब तक चित्त में विकार और परिणाम होते रहते हैं तब तक उनपर आत्मा का
श पड़ता रहता है और विवेकज्ञान के अभाव मे आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगता
है। फलस्वरूप वह सांसारिक विषयों से सुख-दुःख का अनुभव करने
लगता है और उनमे राग-द्वेष के भाव रखने लगता है। यही आत्मा
का बंधन है। इस बंधन से मुक्ति पाने के निमित्त शरीर, इंद्रिय,
और चित्तवृत्तियों का निरोध करना आवश्यक है। जब कार्यचित्त का धारा-प्रवाह
हो जाता है और वह कारणचित्त के रूप में (शांत अवस्था में) आ जाता है तब आत्मा
मुक्त शुद्ध चैतन्य रूप में देखता है। चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा यही आत्म-
त्कार योग का उद्देश्य है।

और मुक्ति

३. योग का अभ्यास

(१) योग का स्वरूप तथा प्रभेद[२]

योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। यहाँ योग का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा
मिलन नहीं समझना चाहिए। योग का उद्देश्य है आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का
ज्ञान कराना जिससे वह अपने को मानसिक विकारों से पृथक् समझ
सके। परंतु यह तभी हो सकता है कि जब चित्त की वृत्तियों का
निरोध हो जाए। अतएव योग का काम है चित्त की सभी वृत्तियों का
निरोध करना।

वृत्ति का
ध ही योग है

देखिए, योगसूत्र २।३-६
देखिए, योगसूत्र और भाष्य १।१-४, १।१२-१८, १।२३, २।१-२, ४।२६-३४

चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच रूप हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। प्रत्येक अवस्था में कुछ-न-कुछ मानसिक वृत्तियों का निरोध होता ही है। एक अवस्था (जैसे प्रेम) में दूसरी वृत्ति (जैसे घृणा) का निरोध होता है। परंतु इनमें प्रत्येक अवस्था योग साधन के अनुकूल नहीं होती।[१] क्षिप्त अवस्था में चित्त रजो गुण के प्रभाव में रहता है और [illegible] चित्त में स्थिरता नहीं रहती। यह अवस्था [illegible] इंद्रियों पर संयम नहीं रहता। मूढ़ अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की कुछ वृत्तियों का कुछ के लिए तिरोभाव हो जाता है। परंतु यह अवस्था योगावस्था नहीं है। निद्रावस्था होती है जब चित्त तमोगुण से आच्छन्न हो जाता है। परंतु योग के लिए सत्त्व की प्रबलता से चित्त की शुद्धि होना आवश्यक है। विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरत ही अन्य विषय की ओर ध्यान चला जाता है और विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है। इसे योग [illegible] सकते, क्योंकि इसमें चित्त की वृत्ति का पूरा निरोध नहीं होता। अविद्याजनित [illegible] दूर करने में यह असमर्थ है।

मन की पाँच अवस्थाएँ

एकाग्र अवस्था वह है जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह वस्तु पर मानसिक केंद्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त, किसी [illegible] पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी वृत्तियों का निरोध नहीं होता। तथापि यह योग की पहली [illegible] अंतिम अवस्था—निरुद्धावस्था—में चित्त की सभी वृत्तियों का (विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत दशा में आ जाता है।

समाधि

एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योग के अनुकूल हैं क्योंकि उनमें सत्त्वगुण का आधिक्य रहता है जो आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है। एकाग्र अवस्था को संप्रज्ञात योग कहते हैं, क्योंकि इसमें ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान रहता है। इसे 'समाधि' या 'संप्रज्ञात समाधि' भी कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में चित्त ध्येय विषय में [illegible] तन्मय हो जाता है।

इसी तरह, निरुद्ध अवस्था को असंप्रज्ञात योग या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता। यही समाधि की अवस्था है। इसमें सभी मनोवृत्तियों और [illegible] तिरोभाव (लोप) हो जाता है। चित्त की चंचल लहरों का उठना बंद हो जाता है। यह शांत जल की तरह स्थिर हो जाता है। इन दोनों (एकाग्र और निरुद्ध) अवस्थाओं को सामान्यतः समाधि-योग कहा जाता है।

---

१ प्रथम तीन अवस्थाएँ (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त) योग के अनुकूल नहीं हैं। केवल अंतिम दो अवस्थाएँ (एकाग्र और निरुद्ध) योगानुकूल हैं।

जैसा कहा जा चुका है, समाधि दो प्रकार की होती है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। ध्येय विषयों के भेदानुसार संप्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ होती हैं। जब किसी स्थूल भौतिक पदार्थ पर चित्त एकाग्र किया जाता है, तब वह समाधि 'सवितर्क' कहलाती है। (जैसे, किसी मूर्त्ति पर ध्यान जमाना)। उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर साधक को सूक्ष्म विषय का (जैसे किसी तन्मात्र का) ध्यान करना चाहिए। इसको 'सविचार' समाधि कहते हैं। ततःपर उससे भी सूक्ष्मतर विषय (जैसे इंद्रिय) में ध्यान जमाना चाहिए, जिससे उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाए। इसे 'सानंद' समाधि कहते हैं। संप्रज्ञात समाधि की अंतिम कोटि को 'सास्मित समाधि' कहते हैं। क्योंकि इसमें ध्यान का विषय केवल 'अस्मिता' या अहंकार मात्र रहता है। इस समाधि के फलस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है (अर्थात् आत्मा यथार्थतः शरीर-मन-अहंकार सबों से भिन्न है, ऐसा अनुभव या विवेकज्ञान हो जाता है)।

संप्रज्ञात समाधि

इस प्रकार एक के अनंतर दूसरे वाह्य या आंतरिक विषय का यथार्थ स्वरूप ज्ञात करते-करते और उसे छोड़ते हुए चित्त का संबंध सभी विषयों से छूट जाता है। यही अंतिम अवस्था असंप्रज्ञात समाधि या परम योग है। यह समाधि की अंतिम सीढ़ी है। वहाँ पहुँच जाने पर योगी समस्त विषय-संसार से मुक्त हो जाता है।[१] मानों उसके लिए संसार का कोई बंधन रहता ही नहीं। इस अवस्था में आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में रहता है और अपने कैवल्य या मुक्तावस्था के प्रकाश का आनंद लेता है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर पुरुष सभी दुःखों से मुक्ति पा जाता है जो जीवन का चरम पुरुषार्थ है। यह जीवन क्या है, शांति (और उसके साधनों) का अन्वेषण है। योग वह आध्यात्मिक मार्ग है जो यथार्थ आत्मज्ञान के द्वारा सब दुःखों का समूल नाश कर हमें अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचाता है। परंतु इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। यदि किसी के लिए एक बार समाधि प्राप्ति के द्वारा दुःख निवृत्ति संभव भी हो तो फिर वह दुबारा दुःखों के जाल में फँस सकता है। जब तक पूर्व कर्मजन्य सभी संस्कारों का नाश नहीं हो जाता, तब तक चित्त की सभी वृत्तियों का अंत नहीं हो जाता, तब तक दुःखों के पुनरावर्तन की संभावना बनी रहती है। भूत और वर्त्तमान के विविध कर्मों से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट करने के लिए समाधि की स्थिति में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना बड़ा ही दुस्तर कार्य है। इसके लिए चिर साधना और कठिन योगाभ्यास की जरूरत है।

असंप्रज्ञात समाधि

योग के तीन प्रमुख मार्ग हैं—ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। मनुष्य को अपनी बुद्धि, स्वभाव और योग्यता के अनुकूल इनमें से कोई एक चुन लेना चाहिए। जिनका अधिक झुकाव ज्ञान की तरफ है उन्हें ज्ञानमार्ग अपनाना चाहिए। अर्थात् संसार के विषयों का सम्यक् परिशीलन करते हुए उन सबों से (शरीर और मन से भी) अपने को पृथक् बोध करना चाहिए। जो

योग के तीन मार्ग

---

१ समाधि की अंतिम अवस्था को 'धर्ममेध' भी कहते हैं; क्योंकि वह योगी के ऊपर कैवल्य या मुक्ति की वर्षा करता है।

भाव प्रधान है उसके लिए भक्तिमार्ग है। अर्थात् श्रद्धा और भक्तिपूर्वक ईश्वर की उपासना में रत रहना। इस मार्ग से भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जो लोग अधिक कर्म या कठिन साधना करने के योग्य हैं उनके लिए कर्मयोग है। तपश्चर्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इसके मुख्य अंग हैं। कर्मयोग (या क्रिया-योग) भी मुक्ति का साधक है। हाँ, इन मार्गों का अवलंबन सच्चे मन से होना चाहिए।

(२) योग के अष्टांग साधन[1]

योग के तीन मार्ग

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जबतक मनुष्य के चित्त में विकार भरा रहता है और उसकी बुद्धि दूषित रहती है, तब तक वह तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। शुद्ध हृदय और निर्मल-बुद्धि से ही आत्मज्ञान उपलब्ध हो सकता है। सांख्य-योग के मतानुसार मुक्ति के लिए 'प्रज्ञा' आवश्यक है। प्रज्ञा का अर्थ है आत्म-दृष्टि के द्वारा इस सत्य का दर्शन कि आत्मा नित्यमुक्त शुद्ध चैतन्य-स्वरूप और शरीर तथा मन से सर्वथा भिन्न है। परंतु यह दृष्टि तभी हो सकती है जब अंतःकरण सर्वथा निर्विकार शुद्ध और शांत हो जाए। चित्त की शुद्धि और पवित्रता के लिए योग आठ प्रकार के साधन बतलाता है। ये हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि। ये आठो 'योगांग' कहलाते हैं।

यम

योग का प्रथम अंग है यम। इसके निम्नलिखित अंग हैं—(१) अहिंसा (अर्थात् किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना), (२) सत्य (अर्थात् किसी से किसी तरह का झूठ नहीं बोलना), (३) अस्तेय (अर्थात् चोरी नहीं करना), (४) ब्रह्मचर्य (अर्थात् विषय-वासना की ओर नहीं जाना) और (५) अपरिग्रह (अर्थात् लोभवश अनावश्यक वस्तु ग्रहण नहीं करना)। ये सब साधन सर्व-विदित हैं, अतः उनकी विशेष व्याख्या आवश्यक नहीं। तथापि योग में इनकी विस्तृत विवेचना की गई है। योगी के लिए इनका साधन अत्यावश्यक है, क्योंकि मन को सबल बनाने के लिए शरीर को सबल बनाना आवश्यक है। जो काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसका मन या शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी तरह जब तक मनुष्य का मन पाप-वासनाओं से भरा और चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। इसलिए योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

नियम

योग का दूसरा अंग है नियम या सदाचार का पालन। इसके निम्नलिखित अंग हैं—(१) शौच (बाह्यशुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि, जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यंतर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि के द्वारा)। (२) संतोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहना)। (३) तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिन व्रत का पालन करना आदि)। (४) स्वाध्याय (नियम-

[1] देखिए, योगसूत्र और भाष्य २।२९-५५, ३।१-४।

[धा]र्मिक धर्मग्रंथों का अध्ययन करना)। (५) ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान और [ई]श्वर पर अपने को छोड़ देना)।

आसन शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी स्थिति में रखना जिससे [प्र]सन्न होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। नाना प्रकार के आसन होते हैं, जैसे, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, सिद्धासन, शीर्षासन, गरुड़ासन, मयूरासन, शवासन, आदि। इसका ज्ञान किसी सिद्ध गुरु से ही प्राप्त करना चाहिए। चित्त की एकाग्रता के लिए शरीर का अनुशासन [उतना ही] आवश्यक है जितना मन का। यदि शरीर रोगादि बाधाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं रहे तो [सम]ाधि लगाना बड़ा ही कठिन है। अतएव आरोग्य-साधन के लिए बहुत से नियम निर्धारित [किया ग]या है, जिससे शरीर समाधि-क्रिया के योग्य बन सके। शरीर और मन को शुद्ध तथा [निर्म]ल बनाने के लिए तथा दीर्घायु प्राप्त करने के लिए योग में नाना प्रकार के नियम बतलाए [गए] हैं। योगासन शरीर को नीरोग तथा सबल बनाए रखने के लिए उत्तम साधन है। [इन] आसनों के द्वारा सभी अंगों, विशेषतः स्नायुमंडल, इस तरह वश में किए जा सकते हैं [कि] वे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकें।

प्राणायाम का अर्थ है श्वास का नियंत्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(१) [पूर]क (पूरा श्वास भीतर खींचना), (२) कुंभक (श्वास को भीतर रोकना) और (३) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। इन क्रियाओं का ज्ञान सिद्ध गुरु से ही प्राप्त करना चाहिए। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है, इसे चिकित्सा-विज्ञान भी [स्वी]कार करता है। योग इस दिशा में और भी आगे बढ़ता है और चित्त ऐकाग्रय-साधन [के] लिए प्राणायाम का निर्देश करता है, क्योंकि इस (प्राणायाम) के द्वारा शरीर और मन [स्थिर] हो जाती है। जबतक श्वास की क्रिया चलती है तबतक चित्त भी उसके साथ चंचल [रह]ता है। जब श्वास-वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन भी निष्पंद या स्थिर हो [जा]ता है। इस तरह प्राणायाम के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपनी साँस रोक सकता [औ]र समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

प्रत्याहार का अर्थ है इंद्रियों को अपने-अपने बाह्य विषयों से खींचकर हटाना और [उन्]हें मन के वश में रखना। जब इंद्रियाँ पूर्णतः मन के वश में आ जाते हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाते हैं। इस अवस्था में आँख-कान के सामने सांसारिक विषय रहते हुए भी हम देख-सुन नहीं सकते। रूप, रस, गंध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन [प]र नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, यद्यपि यह असंभव नहीं है। इसके लिए [अत्]यंत दृढ़ संकल्प और प्रौढ़ इंद्रिय-निग्रह की साधना आवश्यक है।

उपर्युक्त पाँच अनुशासन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—[ब]हिरंग साधन कहलाते हैं। शेष तीन—धारणा, ध्यान और समाधि—अंतरंग साधन [क]हलाते हैं, क्योंकि उनका योग (समाधि) से सीधा संपर्क है।

धारणा

धारणा का अर्थ है चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना। यह विषय बाह्य भी हो सकता है (जैसे, सूर्य या किसी देवता की प्रतिमा) और शरीर भी (जैसे, अपनी नाभि या भौंहों का मध्य भाग)। किसी [illegible] पर दृढ़तापूर्वक चित्त को एकाग्र करने की शक्ति ही योग की कुंजी है। इसीको सिद्ध करनेवाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है।

ध्यान

इसके बाद की अगली सीढ़ी है ध्यान। ध्यान का अर्थ है ध्येय विषय का [illegible] मनन। अर्थात् उसी विषय को लेकर विचार का अनवच्छिन्न (लगातार) प्रवाह। [illegible] द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न [illegible] या स्वरूपों का बोध होता है। तदनंतर अविराम ध्यान के [illegible] संपूर्ण चित्र आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन [illegible] जाता है। इस तरह योगी के मन में ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप [illegible] जाता है।

समाधि

योगसाधन की अंतिम सीढ़ी है समाधि। इस अवस्था में मन ध्येय विषय में [illegible] लीन हो जाता है कि वह उसमें तन्मय हो जाता है और उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। ध्यान की अवस्था में ध्येय विषय [illegible] ध्यान की क्रिया—ये दोनो पृथक् प्रतीत होते हैं। परंतु [illegible] की अवस्था में ध्यान की क्रिया का पृथक् अनुभव नहीं होता, वह ध्येय विषय में [illegible] अपने को खो बैठती है।

इस अवस्था में केवल ध्येय मात्र रह जाता है। समाधिस्थ योगी को यह भी [illegible] नहीं रहता कि वह किसी वस्तु के ध्यान में मग्न है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। [illegible] का लक्षण किया जा चुका है—'चित्तवृत्ति का निरोध'। अभी जिस [illegible] किया गया है वह इसी साध्य (चित्तवृत्ति-निरोध) का साधन है। धारणा, ध्यान [illegible] समाधि—ये तीन योग के अंतरंग साधन हैं। इन तीनों का विषय एक ही रहना [illegible] अर्थात् एक ही विषय को लेकर पहले चित्त में धारणा, तब ध्यान और अंत में समाधि [illegible] चाहिए। ये तीनो मिलकर 'संयम' कहलाते हैं जो योगी के लिए अत्यावश्यक हैं।

सिद्धियाँ

कहा जाता है कि योगाभ्यास करते समय साधक [illegible] सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। [illegible] कहते हैं। ये हैं—(१) अणिमा (अर्थात् योगी चाहे तो [illegible] समान छोटा या अदृश्य बन सकता है)। (२) लघिमा ([illegible] योगी चाहे तो रुई से भी हलका होकर उड़ जा सकता है)। (३) [illegible] (अर्थात् योगी चाहे तो पहाड़ के समान बड़ा बन जा सकता है)। (४) प्राप्ति (योगी [illegible] तो कहीं से कोई वस्तु मँगा ले सकता है)। (५) प्राकाम्य (योगी की इच्छाशक्ति [illegible] रहित हो जाती है)। (६) वशित्व (योगी सब जीवों को वशीभूत कर सकता है)। ([illegible] ईशित्व (वह सब भौतिक पदार्थों पर अधिकार जमा सकता है)। (८) [illegible] सत्यसंकल्प (योगी का जो संकल्प होता है, उसकी सिद्धि हो जाती है) परंतु योग [illegible]

[य]ह आदेश है कि साधक इन ऐश्वर्यों के लोभ से योग-साधन में प्रवृत्त नहीं हो। योग [का] लक्ष्य है मुक्ति की प्राप्ति। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों के चकाचौंध में नहीं पड़ना [चा]हिए नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। योगी को चाहिए कि वह सिद्धियों के फेर में [न]हीं पड़कर आगे बढ़ता जाए और अंतिम लक्ष्य—आत्मदर्शन—पर पहुँच जाए।[1]

४. ईश्वर[2]

प्राचीन योगदर्शन में ईश्वर का स्थान कोई बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं दीखता। पतंजलि को जगत् की समस्या हल करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं दीख [प]ी। उनकी दृष्टि में ईश्वर का उतना सैद्धांतिक मूल्य नहीं है, जितना व्यावहारिक। ईश्वर-प्रणिधान की उपयोगिता इसीमें है कि चित्त की एकाग्रता या ध्यान के साधनों में एक वह भी है। पर योगदर्शन के पिछले लेख का सैद्धांतिक दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप की विवेचना भी करते हैं और ईश्वर के अस्तित्व के लिए युक्तियाँ भी देते हैं। इस तरह [योगद]र्शन के ग्रंथों में ईश्वर-संबंधी युक्ति-विचार भी मिलते हैं।

[योग] में ईश्वर [का स्]थान

योग के अनुसार ईश्वर परम पुरुष है जो सभी जीवों से ऊपर और सभी दोषों से [रहि]त है। वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान पूर्ण परमात्मा है। संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु-भय) आदि के कारण दुःख पाते हैं। वे भाँति-भाँति के कर्म (सुकर्म, कुकर्म और विकर्म) करते हैं और उनके विपाक या फलस्वरूप सुख-[दुःख] भोग करते हैं। वे पूर्व जन्म के निहित संस्कार (आशय) से भी प्रभावित होते हैं। [...]ों से मुक्ति या कैवल्य प्राप्त करने पर ही मुक्तात्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता [कि] वह सर्वदा से मुक्त था। केवल ईश्वर ही नित्यमुक्त कहा जा सकता है। वह सर्वबंधन-[रहि]त और सर्वक्लेशरहित है। वह क्लेश, कर्म, विपाक, आशय, इन सबों से अपरामृष्ट [(अ]प्रभावित) रहता है। वह सदा एकरस और निर्विकार है। कर्म और उनके फल इसे [नहीं] व्याप्त करते। वह पूर्ण, अनंत और अद्वितीय है (उसके समान दूसरा कोई नहीं)। [वह] पूर्ण ज्ञान का भंडार है और इच्छा मात्र से समस्त जगत् का परिचालन कर सकता है। [वह] अनंत शक्ति और ज्ञान से युक्त सकल विश्व का नियंता है। वह केवल सदिच्छाओं [से] पूर्ण है। इन्हीं कारणों से परमात्मा जीवात्माओं से भिन्न है।

[ईश्व]र का स्वरूप

ईश्वर की सिद्धि के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—(१) वेद, उपनिषद् [आ]दि समस्त शास्त्र ईश्वर या परमात्मा को आदि सत्ता के रूप में मानते हैं। उसीका साक्षात्कार जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व शास्त्र-सम्मत होने के कारण सिद्ध है। (२) जिस वस्तु की न्यूनाधिक मात्रा रहती है, उसकी एक अल्पतम और अधिकतम सीमा भी रहनी चाहिए। संसार में छोटे-बड़े परिमाण देखने में आते हैं,

[ईश्]वर के अस्तित्व [के] प्रमाण

[1] देखिए, योगसूत्र और भाष्य ३।३७, ३।५१, ४।१
[2] देखिए, योगसूत्र, भाष्य और वृत्ति १।२३-१२६, १।३३-३४

सबसे अल्पतम परिमाण है अणु, सबसे अधिकतम परिमाण है, आकाश। इसी तरह ज्ञान
और शक्ति की भी भिन्न-भिन्न मात्राएँ देखने में आती हैं। इसलिए उनकी भी एक सीमा
होनी चाहिए। अर्थात् एक ऐसा पुरुष होना चाहिए जिसमें सर्वाधिक ज्ञान और शक्ति है
वही परम पुरुष ईश्वर है। ईश्वर के समान ज्ञान और शक्तिवाला दूसरा पुरुष नहीं
सकता। क्योंकि वैसी अवस्था में उन दोनो में संघर्ष हो जाता और फलस्वरूप सर्वत्र
अव्यवस्था हो जाती। (३) पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि होती है
दोनो के विच्छेद से प्रलय होता है। पुरुष और प्रकृति दो भिन्न-भिन्न तत्व हैं। दोनों
संयोग या विभाग स्वभावतः नहीं हो सकता। उसके लिए एक ऐसा निमित्त कारण मानना
पड़ेगा जो अनंत बुद्धिमान हो और जीवों के अदृष्टानुसार प्रकृति से पुरुष का संयोग
वियोग करावे। जीवात्मा या पुरुष स्वयं अपना अदृष्ट नहीं जानता। इसलिए एक
सर्वज्ञ परमात्मा को मानना आवश्यक है जो जीवों के अदृष्टानुसार संसार की रचना
संहार कर पुरुष या प्रकृति का संयोग या वियोग कराता रहे। यही ईश्वर है जिसके
के बिना प्रकृति जगत् का उस रूप में विकास नहीं कर सकती जो जीवों की आत्मोन्नति
तथा मुक्ति के लिए अनुकूल हो।

पतंजलि का कहना है कि ईश्वर-प्रणिधान भी समाधि का एक साधन है, जिसके
द्वारा मुक्ति मिल सकती है। बाद के लेखक और भी आगे बढ़ गए हैं। उनके विचार
ईश्वर-प्रणिधान समाधि के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है। कारण यह कि ईश्वर केवल
का ईश्वर-प्रणिधान विषय (जैसे अन्यान्य ध्येय विषय हैं) ही नहीं, प्रत्युत वह महान
जो अपनी कृपा से उपासकों के पाप और दोष दूरकर उनके लिए योग का मार्ग सुगम
देता है। जो ईश्वर का सच्चा उपासक है और उसी पर निर्भर रहता है वह सर्वज्ञ ईश्वर
के ध्यान में लीन रहता है और संपूर्ण जगत् में ईश्वर को व्याप्त देखता है। ऐसे भक्त
परम पिता की सर्वोच्च विभूति—हृदय की शुद्धता और बुद्धि का प्रकाश—मिलती
ईश्वर उसके पथ से क्लेशादि सभी विघ्न-बाधाओं को दूर कर देते हैं और योगसिद्धि
अनुकूल परिस्थिति बना देते हैं। इस तरह ईश्वर की दया से आनन्दजनक समाधि
सकते हैं; परंतु हमें भी मैत्री, करुणा, सत्य, शौच तथा ईश्वरोपासना के द्वारा अपने
उनकी कृपा का पात्र बनाना चाहिए।

५. उपसंहार

कटु आलोचक की दृष्टि में योग में उतना दार्शनिक सिद्धांत नहीं दिखाई
जितना रहस्यवाद या अलौकिक चमत्कार। योग का आत्म-विषयक सिद्धांत (
आत्मा, शरीर, मन, अहंकार से बिलकुल पृथक् है) गौतमता और असाधारण मनोविज्ञान
बहुत दूर है। अतएव जन-साधारण की दृष्टि में योग दुर्गम और रहस्यमय प्रतीत होता
इसी तरह, संयम-साधन से प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ भी अलौकिक हैं। लौकिक विज्ञान
मनोविज्ञान के जितने नियम ज्ञात हैं उन से साथ इनका सामंजस्य नहीं होता। इसलिए

...नें जादू-टोने की बातें-सी मालूम होती हैं, जिनमें आदि-कालीन युग के लोग विश्वास करते थे।

परंतु यहाँ यह बात विचारणीय है कि यौगिक आत्म-साक्षात्कार सांख्य-दर्शन के ...व आधार पर अवलंबित है, जिसके अनुसार आत्मा नित्य और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। ...दि ऐसा विषयातीत आत्मा सत्य है, तो यह यह मानना पड़ेगा कि विषयानुभव के स्तर से ...र भी कोई स्तर है और ऐसी शक्तियाँ भी हो सकती हैं जो साधारण भौतिक और ऐंद्रियिक ...क्तियों से बढ़कर हैं। इन आध्यात्मिक तत्त्वों की झलक भिन्न-भिन्न देशों के ऋषियों ...र महात्माओं को तो मिली ही है, साथ ही साथ बड़े-बड़े दार्शनिकों ने जैसे, प्लेटो, अरस्तू, ...नोजा, लाइब्नीज, कांट और हेगेल आदि ने भी इसे स्वीकार किया है। आध्यात्म-तत्त्वा-...संधान समिति (The Society for Psychological Research) तथा आधुनिक ...नस्तत्त्व-विश्लेषण (Psycho-Analysis) इस दिशा में लोगों की काफी ज्ञान-वृद्धि कर ...हे हैं। जो बातें अज्ञान के अंधकार में निहित थीं उनपर अब क्रमशः प्रकाश पड़ रहा है। ...ग इसी दिशा में आगे बढ़कर पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन करने के लिए शुद्धि ...र आत्मसंयम का व्यावहारिक उपाय बतलाता है। सिद्धांत और व्यवहार, दोनो दृष्टियों ... योग सांख्य से बढ़ा-चढ़ा है, क्योंकि यह ईश्वर को भी मानता है और यथार्थ अनुभूतियों ... पकड़कर चलता है, जिससे साधक के मन में विश्वास जमता है। योग का तत्त्व समझने ...लिए श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन और अभ्यास करना आवश्यक है। मिस कॉस्टर (Miss ...oster) कहती हैं—"मुझे विश्वास है कि जिसे लोग इस जीवन का यवनिकापात समझ ...े हैं उससे परे भी एक प्रदेश है और जो दृढ़संकल्प लेकर चढ़ेंगे वे वहाँ तक पहुँचकर उसका ...ा भी पा सकते हैं।"[१] मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी योग आधुनिक ...ष्टि से विशेष उपकारी समझा जा रहा है।[२]

देखिए, Yoga and Western Psychology, Page 246-47.

देखिए, स्वामी अखिलानंद का Mental Health and Hindu Psychology (Allen and Unwin, London.)

६

मीमांसा दर्शन

१. विषय-प्रवेश

मीमांसा का उद्देश्य

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कर्मकांड की पुष्टि करना। यह दो प्र से—(१) वैदिक विधि-निषेधों का अर्थ समझने के लिए आपस में उनकी संगति बैठाने के लिए व्याख्या प्रणाली निर्म करना और (२) कर्मकांड के मूल सिद्धांत का युक्ति-द्वारा प्र पादन करना।

कर्मकांड का सिद्धांत

वैदिक कर्मकांड का जो मूलभूत सिद्धांत है उसमें कई बातें अंतर्निहित हैं, (क) आत्मा मृत्यु के उपरांत भी विद्यमान रहता और स्वर्ग कर्मों के फल भोग करता है, (ख) कोई ऐसी शक्ति है जो के फल को सुरक्षित रखती है, (ग) वेद (जिन पर कर्मकांड आ हैं) अभ्रांत हैं, (घ) यह जगत् सत्य है और हमारा जीवन और स्वप्नमात्र नहीं है।

चार्वाक, बौद्ध और जैन वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। कुछ बौद्ध संसार की स्थ और आत्मा का अस्तित्व भी नहीं मानते। कतिपय उपनिषदों में इस विचार की निं गई है कि स्वर्ग ही मनुष्य का लक्ष्य है और यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है। मीमांसक इन आलोचनाओं का खंडन करते हुए कर्मकांड के सिद्धांत की पुष्टि करते हैं।

मीमांसा का साहित्य

मीमांसा का मूल ग्रंथ है जैमिनि सूत्र। दार्शनिक सूत्रों में यह सबसे बड़ा इसके द्वादश अध्याय हैं। जैमिनि के सूत्र पर शबर स्वामी का विशद भाष्य है जिसे श भाष्य कहते हैं। उनके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतंत्र ग्रं हुए। उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गु इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान संप्रदाय चल पड़े हैं भाट्ट मीमांसा और प्राभाकर मीमांसा। इस प्रकार मीमांसा-शा का उत्तरोत्तर विकास होता गया।

मीमांसा का शब्दार्थ है किसी समस्या या विचारणीय विषय का युक्तियों की सह के द्वारा निर्णय। कर्मकांड-विषयक होने के कारण मीमांसा को कर्म-मीमांसा भी कहते

मीमांसा-दर्शन को हम सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) प्रमाण-विचार, (२) तत्त्व-विचार और (३) धर्म-विचार।

२. प्रमाण-विचार

वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करने के निमित्त मीमांसा में प्रमा, प्रमाण, प्रामाण्य आदि का द विवेचन किया गया है। मीमांसा का ज्ञान-विचार बहुत ही सूक्ष्म और गंभीर है। मत, खासकर वेदांत भी, मीमांसा के प्रमाण-विचार को मान्य समझते हैं। यहाँ कुछ न विषयों का संक्षेपतः दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) ज्ञान के रूप और साधन

अन्यान्य मतों की तरह मीमांसा भी दो प्रकार के ज्ञान मानती है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यथार्थ ज्ञान वह है जिससे किसी विषय में नई बात मालूम होती है, जो दूसरे प्रमाण से बाधित नहीं होता, और जिसके मूल में कोई दोष नहीं रहता (जैसे पांडुरोगी को सब कुछ पीला दीखता है)।[1]

वया है

केवल सत् पदार्थ ही प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है। जब ऐसे विषय का किसी इंद्रिय के साथ संपर्क होता है तभी उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को होता है। इंद्रिय के साथ संयोग होने पर पहले विषय की प्रतीति मात्र होती है। 'वह है' केवल इतना ही ज्ञान होता है। 'वह क्या है' इसका ज्ञान नहीं। ऐसे निर्विशेष ज्ञान को 'निर्विकल्प' ज्ञान या आलोचना ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की दूसरी अवस्था वह है में हम पूर्वानुभव के आधार पर उस विषय का स्वरूप निर्धारित करते हैं अर्थात् वह प्रकार की वस्तु है, उसमें गुण या क्रिया है, उसका क्या नाम है, आदि बातों का ज्ञान करते हैं। जैसे, 'वह मनुष्य है'। 'वह सुंदर है'। 'वह दौड़ता है'। 'वह राम है'। दि। ऐसे सविशेष ज्ञान को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं।[2]

क्ष का
प

प्रत्यक्ष के द्वारा नाना नामरूपात्मक जगत् का सत्य ज्ञान होता है। यद्यपि निर्विकल्प अवस्था में विषयों का स्पष्ट बोध नहीं होता तथापि वे बीज अवस्था में विद्यमान रहते हैं और सविकल्प अवस्था में प्रस्फुटित हो जाते हैं। सविकल्प ज्ञान में किसी नए विषय का ज्ञान नहीं होता है। यदि हमें से 'मनुष्य' या 'सुंदर' आदि का अनुभव नहीं रहता तो 'वह मनुष्य है', 'वह सुंदर है' हम कैसे कहते? इससे सूचित होता है कि यद्यपि सविकल्प प्रत्यक्ष में उद्देश्य-विधेय का संबंध स्थापित किया जाता है तथापि वह विशद-ज्ञान काल्पनिक या मिथ्या नहीं, कुछ बौद्ध और कुछ वेदांती समझते हैं।

र के विषय

कुछ बौद्धों का मत है कि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय सर्वथा स्वलक्षण होता है अर्थात् कोई प्रकारता नहीं होती। कुछ वेदांतियों का मत है कि वह शुद्ध निरवच्छिन्न सत्ता

कारणदोष-बाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहिज्ञानम् प्रमाणम्'
देखिए, जैमिनि-सूत्र १।१।४ पर श्लोक-वार्तिक।

ही का ज्ञान है। किंतु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। उनका मत है कि इंद्रियों के [illegible] संपर्क होने पर प्रथम ही क्षण में वाह्य विषय और उसके नाना धर्मों का स्पष्ट ज्ञान [illegible] जाता है।[1]

(२) अपरोक्ष ज्ञान

मीमांसा-दर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और भी पाँच प्रमाण माने गए हैं—(१) अनुमान, (२) उपमान, (३) शब्द, (४) अर्थापत्ति, (५) अनुपलब्धि। इनमें अंतिम प्रमाण अनुपलब्धि को केवल भाट्टमीमांसक मानते हैं, प्राभाकर नहीं। मीमांसा का अनुमान-विषयक [illegible] करीब न्याय ही जैसा है, अतएव उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। यहाँ शेष [illegible] प्रमाणों का वर्णन किया जाता है।

अन्यान्य प्रमाण

(क) उपमान

न्याय में उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। मीमांसा में भी इसे स्व[तंत्र] प्रमाण माना गया है। परंतु मीमांसा इसको दूसरे ही अर्थ में [illegible] करती है। इसके अनुसार उपमानजन्य ज्ञान तब होता है जब पहले देखी हुई वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखकर समझते हैं कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के सदृश है। एक दृष्टांत से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए, किसी ने गाय देखी है, परंतु नीलगाय न[हीं] देखी है। वह जंगल में पहले-पहल नील गाय को देखता है। वह [illegible] के सदृश देखने में लगती है। इससे यह ज्ञान जाता है कि गाय नीलगाय के सदृश है।

न्याय और मीमांसा का मतभेद

यह ज्ञान प्रत्यक्ष के अंदर नहीं आ सकता। क्योंकि गाय का उस समय प्रत्यक्ष [illegible] नहीं होता। यह स्मृतिजन्य ज्ञान भी नहीं, क्योंकि यद्यपि [illegible] का ज्ञान पूर्व में हुआ था तथापि उसका वर्तमान विषय (नीलगाय के सादृश्य) उस समय ज्ञात नहीं था। अतएव यह सादृश्य-ज्ञान [illegible] जन्य नहीं कहा जा सकता। यह अनुमान भी नहीं है। 'यह नीलगाय गाँव में देखी गाय के सदृश है' इससे 'गाँव की गाय इस नीलगाय के सदृश है' ऐसा अनुमान करने के लिए हमें ऐसा व्याप्ति-मूलक वाक्य चाहिए कि 'सभी पदार्थ अपने सदृश पदार्थों के सदृश होते हैं', परंतु यहाँ ऐसी व्याप्ति का व्यवहार नहीं है। अतएव यह ज्ञान (गाय नीलगाय के [सदृश] होती है) अनुमान-जन्य भी नहीं। इसी तरह, यह ज्ञान शब्द-प्रमाण से भी [illegible] है। अतएव इसे एक स्वतंत्र प्रकार का ज्ञान ही मानना आवश्यक है।

उपमान का स्वरूप

न्याय का मत यह है। पहले आप्तवाक्य के द्वारा यह मालूम रहता है कि गाय के [सदृश] नीलगाय होती है। तब कोई जंगल में जाकर यदि गाय के आकार-प्रकार का कोई [illegible]

---

१ देखिए, प्रकरण-पंचिका पृ० ५४-५५

२ मीमांसा का उपमान-विचार संक्षेप में शाबर भाष्य (१।१।५) में तथा श्लोक-वार्तिक, शास्त्रदीपिका (१।१।५) और प्रकरण-पंचिका में विस्तारपूर्वक किया गया है।

३ देखिए, शास्त्र-दीपिका १।१।५

वता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह जंतु गवय है। यही उपमान है। परंतु इसके विरुद्ध मीमांसक का कहना है कि यहाँ 'यह जंतु-विशेष गाय के सदृश है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और 'गाय के सदृश जंतु गवय है' ऐसा ज्ञान शब्द-प्रमाण की स्मृति के द्वारा होता है। फलतः 'यह जंतु गवय है' ऐसा ज्ञान अनुमान के द्वारा प्राप्त हो जाता है। अतएव नैयायिक जिसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं वह यथार्थतः स्वतंत्र नहीं है।[1]

ऊपर मीमांसा का जो मत दिया गया है वह नवीन मीमांसकों का है। शबर स्वामी का मत कुछ भिन्न-सा है।[2] उनका 'उपमान' प्राय: वही जान पड़ता है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सादृश्यात्मक ज्ञान (Analogy) कहते हैं। वह उपमान का यह दृष्टांत देते हैं। जैसे "मुझे यह अनुभव है कि 'मैं हूँ', उसी तरह मैं जान सकता हूँ कि औरों को भी अपने आत्मा का अनुभव होता है।" मुझे ऐसा जो ज्ञान है वह किस आधार पर ? यही उपमान है। अतएव वह उपमान का लक्षण करते हैं 'ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान'। यह उदाहरण Analogical Argument से भिन्न नहीं जान पड़ता।

इस संबंध में यह जानना चाहिए कि सादृश्य को मीमांसा में एक स्वतंत्र पदार्थ माना जाता है। इसे गुण के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि गुण में गुण नहीं होता, परंतु दो गुणों में सादृश्य रह सकता है। इसे सामान्य (जाति) की कोटि में भी नहीं रख सकते, क्योंकि सामान्य (जैसे गोत्व) सभी व्यक्तियों में (जैसे गायों में) एक ही रहता है। सादृश्य में यह बात नहीं। सादृश्य का अर्थ पूर्ण ऐक्य या तादात्म्य नहीं। किंतु अधिकांश विषयों से समानता है।

(ख) शब्द

मीमांसा-दर्शन को वेद का प्रामाण्य स्थापित करना है। अत: इसमें शब्द-प्रमाण को पूरा महत्व दिया गया है। सार्थक वाक्य—यदि वह अनाप्त (अविश्वस्त) व्यक्ति के मुंह से नहीं निकला हो—ज्ञान प्राप्त करानेवाला होता है। इसे शब्द-प्रमाण कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—पौरुषेय और अपौरुषेय। आप्त (विश्वस्त) व्यक्ति का कथित या लिखित वचन पौरुषेय कहलाता है। वेदवाक्य अपौरुषेय माना जाता है। वेदवाक्य दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ वाक्य (अर्थात् जिस वाक्य से किसी सिद्ध विषय के बारे में ज्ञान होता है) और विधायक वाक्य (अर्थात् जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिए विधि या आज्ञा सूचित होती है)। वेद के वाक्य—विशेषत: कर्त्तव्यक्रिया के विधायक वाक्य जो यज्ञादि के संपादनार्थ कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं—मीमांसा की दृष्टि में अपौरुषेय और स्वत:प्रमाण हैं। वेदों का विशेष

(Margin notes: उपमान का खंडन; शबर स्वामी का मत; वेद-वाक्य)

१ देखिए, प्रकरणपंचिका। इस विषय की समीक्षात्मक विवेचना के लिए श्री धीरेंद्र-मोहन-दत्त का The Six Ways of Knowing (Bk. II) देखिए।

२ देखिए, शावर-भाष्य (जै० सू० १।१।५)

महत्त्व उनके विधि-वाक्यों को लेकर है। बल्कि मीमांसा का यहाँ तक कहना है कि वेदवाक्य की उपयोगिता क्रिया ही को लेकर है । यदि [illegible] हो, तो वह अनर्थक है ।[1] अतएव आत्मा [illegible] हैं, उनका किसी न किसी योगादि कर्मों के विधायक वाक्य से अवश्य ही संबंध है। [illegible] रूप से लोगों को विहित कर्म में प्रवृत्त और निषिद्ध कर्म से निवृत्त होने में सहायक होते हैं। मीमांसा ऐसे वाक्यों का तात्पर्य निर्धारित कर उनका मूल्य आँकती है।

वेदों का अपौरुषेयत्व

अधिकांश आस्तिक मतों के अनुसार, वेदों की प्रामाणिकता इसलिए है कि वह ईश्वर कर्तृक है। परंतु मीमांसा का सृष्टिकर्ता या संहारकर्ता में विश्वास नहीं है। वह वेद एवं जगत् को नित्य मानती है।[2] मीमांसा के अनुसार वे मनुष्य-कर्तृक या ईश्वर-कर्तृक नहीं हैं। अतएव वे अपौरुषेय कहे जाते हैं। इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं—

एक तो यही वेद के कर्त्ता का कहीं नाम नहीं है। दूसरे, जिन ऋषियों के नाम वैदिक मंत्रों में आए हैं, वे केवल द्रष्टा, व्याख्याता अथवा भिन्न-भिन्न वैदिक संप्रदायों के प्रवर्त्तक हैं उन मंत्रों के कर्त्ता नहीं। सबसे प्रधान युक्ति, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वह शब्द नित्यत्ववाद पर अवलंबित है।[3] यह सिद्धांत यह है कि 'क', 'ख' आदि वर्ण ही मूल शब्द हैं। वर्ण नित्य हैं। 'क' 'ख' आदि जो ध्वनियाँ हम प्रत्यक्ष सुनते हैं वे वर्णों के प्रकाशक मात्र हैं। यदि प्रत्यक्ष शब्द को ही वास्तविक शब्द मान लिया जाए तो दस बार 'ग' के उच्चारण से दस शब्द मानना पड़ेगा। तब हम यह नहीं कह सकते कि एक ही शब्द दस बार उच्चरित हुआ है। इसलिए हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तविक शब्द 'ग' (जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा ध्वनित होने पर भी एक ही माना जाता है) 'ग' उच्चारण से उत्पन्न नहीं वरन् व्यक्त होता है। यदि एक ही शब्द (वर्णसमूह) के पृथक्-पृथक् उच्चारण को हम एक ही वस्तु की अनेक अभिव्यक्तियाँ नहीं समझेंगे, तो उनसे एक ही अर्थ निकलता कैसे संभव होगा? अतएव वास्तविक शब्द हमारे कंठ से स्फुटित होता है, उत्पन्न नहीं। वास्तविक शब्द अनादि होने के कारण नित्य है। अतएव शब्द और अर्थ का संबंध नित्य एवं स्वाभाविक है, आधुनिक या सांकेतिक नहीं।[4]

वेद ऐसे ही नित्य और मूलभूत शब्दों के भंडार हैं। लिखित या उच्चरित वेद नित्य वेद के प्रकाश मात्र हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय हैं।

वेदों की अपौरुषेयता के पक्ष में एक यह युक्ति भी दी जाती है कि वे कर्मों के अनुष्ठान से फल (यथा स्वर्ग) की प्राप्ति होना बतलाते हैं। कर्मों और फलों का यह संबंध ऐसा नहीं है कि किसी के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सके (जैसे औषध-सेवन से रोग-निवृत्ति देखी जाती है)। अतः कोई मनुष्य वेदों का कर्त्ता नहीं हो सकता। चार्वाक का कहना है कि धूर्तों [illegible]

---

1 देखिए, जैमिनि-सूत्र १।२।१, १।२।७, और उनपर शाबर-भाष्य
2 वही, अधिकरण ६-८, अध्याय १
3 देखिए, शास्त्रदीपिका, शब्द-नित्यताधिकरण, प्रकरणपंचिका, शब्दपरिच्छेद।
4 देखिए, जैमिनि-सूत्र १।१।५

वेदों की रचना की है। परंतु ऐसा समझना भी ठीक नहीं। यदि वेदों में पाखंड भरा होता तो इतने यत्न से लोग उनका अध्ययन नहीं करते और न उनकी परंपरा कायम रहती। अल्पज्ञ मनुष्यों के रचित ग्रंथों में जो दोष पाए जाते हैं उनसे वेद सर्वथा मुक्त हैं। अतः वैदिक ज्ञान अभ्रांत समझा जाता है।

वेद का प्रामाण्य

अपौरुषेय वेद के अतिरिक्त आप्तव्यक्ति का वचन भी प्रमाण कोटि के अंतर्गत आता है। परंतु वेद-वाक्य की यह विशेषता है कि इसीके द्वारा हमें धर्मज्ञान प्राप्त होता है जो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। आप्त-वचन-जन्य ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भी उपलब्ध हो सकता है और मूलतः उन्हीं प्रमाणों पर निर्भर रहता है, परंतु वेदजन्य ज्ञान न तो अन्य प्रमाणों से उपलब्ध हो सकता है, न किसी पूर्व अनुभव के आधार पर निर्भर है, क्योंकि वेद नित्य हैं। यही मुख्यतः शब्द-प्रमाण है।

कुछ लोग शब्द-प्रमाणजन्य ज्ञान को अनुमान के अंतर्गत रखते हैं, क्योंकि शब्द की आप्तता से ही उस ज्ञान की यथार्थता का अनुमान होता है। इसके उत्तर में मीमांसा का कहना है कि सभी ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होता है। अर्थात् जिस कारण-सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी में ज्ञान की यथार्थता का कारण भी विद्यमान रहता है। अतः अन्यान्य प्रमाणों की तरह शब्द-प्रमाण भी ज्ञान का साधन होने के साथ-साथ उसकी यथार्थता का भी प्रमाण है। आगे इसका सविस्तर विचार किया जाएगा।

(ग) अर्थापत्ति

कुछ अनुपपत्ति के समाधान के लिए अदृष्टार्थ की कल्पना, जिसकी सहायता के बिना उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अर्थापत्ति कहलाती है। जब कोई ऐसी घटना देखने में आती है जो बिना एक दूसरे विषय की कल्पना किए समझ में नहीं आ सकती तो उस अदृष्ट विषय की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। दूसरे शब्द में अर्थापत्ति वह आवश्यक कल्पना है जिसके द्वारा कोई अन्यथा अनुपपन्न विषय उपपन्न हो जाता है।[1] जैसे, मान लीजिए, देवदत्त दिन में कभी भोजन नहीं करता, फिर भी दिन-दिन मोटा होता जाता है। अब यहाँ इन दोनो बातों में—उपवास और शरीर पुष्टि में—परस्पर विरोध देखने में आता है। अब इन दोनो विरुद्ध बातों की उपपत्ति तभी संभव हो सकती है जब यह कल्पना कर ली जाए कि देवदत्त रात में खूब भोजन करता है। इस तरह की कल्पना के द्वारा विरुद्ध-कोटिक विषयों का समन्वय हो जाता है और उनकी संगति बैठ जाने से घटना समझ में आ जाती है। ऐसी ही कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति किसे कहते हैं

अर्थापत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान विशिष्ट प्रकार का होता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द के अंतर्गत नहीं आता। यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

१ देखिए, शावर-भाष्य १।१।५ श्लोक-वार्तिक, शास्त्रदीपिका और प्रकरणपंचिका। विशेष आलोचना के लिए श्री धीरेंद्र मोहन दत्त का The Six Ways of Knowing Bk. V. देखिए।

देवदत्त को हमने रात में भोजन करते हुए नहीं देखा है। यह शब्द प्रमाण भी नहीं [illegible] किसी आप्त वाक्य के द्वारा हमें यह बात (कि देवदत्त रात में [illegible] है) मालूम नहीं हुई है। इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, [illegible] शरीर के मोटा होने में और रात्रि में भोजन करने में [illegible] (अर्थात् जहाँ-जहाँ शरीर का मोटापन रहता है, वहाँ-वहाँ रात में भोजन करना भी [illegible] जाता है) नहीं है, जिसके बल पर हम जान सकें कि देवदत्त रात में भोजन करता है।

अर्थापत्ति की विशेषता

दैनिक जीवन में अर्थापत्ति का बराबर प्रयोग होता रहता है। कुछ दृष्टान्त लीजिए। मान लीजिए, हम किसी मित्र के घर जाते हैं जो जीवित हैं। वे नहीं मिलते। तब [illegible] सोचते हैं कि 'वे कहीं अन्यत्र गए होंगे।' ऐसा हम क्यों सोचते हैं? क्योंकि बिना ऐसी कल्पना के किसी जीवित मनुष्य का घर पर [illegible] पाया जाना समझ में नहीं आ सकता। इसी तरह वाक्य का अर्थ [illegible] समय भी कभी-कभी अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं। यदि किसी वाक्य में कुछ [illegible] बिना अर्थ की संगति नहीं बैठती है तो हम उन शब्दों का अध्याहार कर लेते हैं। जैसे, '[illegible] पगड़ी को बुलाओ' इस वाक्य में 'लाल पगड़ी' से 'लाल पगड़ीवाले मनुष्य' का अर्थ [illegible] किया जाता है (अर्थात् 'मनुष्य' का अध्याहार कर लिया जाता है)। इसी तरह, '[illegible] गाँव गंगाजी पर है' यहाँ 'गंगाजी पर' का अर्थ लिया जाता है, 'गंगाजी के तट पर'। [illegible] मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण अर्थापत्ति द्वारा एक गौण अर्थ को ले लेते हैं।

अर्थापत्ति की उपयोगिता

मीमांसक-गण दो प्रकार की अर्थापत्ति मानते हैं। (१) दृष्टार्थापत्ति—जहाँ अर्था[illegible] पत्ति के द्वारा किसी दृष्टार्थ या देखी हुई घटना की उपपत्ति हो सके (जैसे, देवदत्त का [illegible] मोटापन तभी समझ में आ सकता है जब यह कल्पना की जाए कि [illegible] रात में खाता है), और (२) श्रुतार्थापत्ति—जहाँ अर्थापत्ति के [illegible] किसी श्रुतार्थ या सुनी हुई बात की संगति हो सके (जैसे, 'यह [illegible] गंगाजी पर है' यह बात तभी समझ में आ सकती है जब इस अर्थ की कल्पना की जाए [illegible] 'यह गाँव गंगाजी के किनारे पर बसा है')। इसी तरह वैदिक विधि है 'विश्वजित् [illegible] यहाँ पूर्ण समझने के लिए यह अध्याहार करना होगा कि जिसे 'स्वर्ग-प्राप्ति की कामना है' [illegible]

दो प्रकार की अर्थापत्ति

अर्थापत्ति की समानता उस वस्तु से है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Hypothesis कहते हैं। यह Explanatory Hypothesis सा मालूम होता है। परंतु भेद यह है कि जहाँ Hypothesis में अनिश्चितता रहती है, वहाँ अर्थापत्ति में निश्चयता का [illegible] रहता है। अर्थापत्ति में यह विश्वास रहता है कि 'यहीं यही [illegible] उपपत्ति संभव है, दूसरी नहीं।' अर्थापत्ति को अनुमान भी नहीं [illegible] सकते क्योंकि अनुमान का काम है दिए हुए वाक्यों से निष्कर्ष निका[illegible] न कि दी हुई घटना के कारण की उपपत्ति करना। अनुमान हेतु [illegible] निगम की ओर जाता है, अर्थापत्ति फल देखकर हेतु की कल्पना करती है।

अर्थापत्ति कोरी कल्पना अथवा निगमन नहीं

(घ) अनुपलब्धि

भाट्ट-मीमांसा और अद्वैत वेदान्त का यह मत है कि किसी विषय के अभाव का [illegible]

क्षात् ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा । इस कोठरी में घड़ा नहीं है। यहाँ घट का अभाव मुझे कैसे विदित होता है? इस ज्ञान को प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका इंद्रिय के साथ संपर्क हो सके। घट का चक्षुरिंद्रिय (आँख) के साथ संयोग हो सकता है, घटाभाव का नहीं। अतएव भाट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदांती का यह कहना है कि यहाँ घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अदर्शन) के कारण होता है। न देखने से ही मैं जान सकता हूँ कि कोठरी में घड़ा नहीं है।

नुपलब्धि किसे
हते हैं

प्रत्यक्ष नहीं

जिस तरह उपर्युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता, उसी तरह अनुमान की कोटि में भी नहीं आता। यदि ऐसा कहा जाए कि घट का अभाव घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है तो वह संगत नहीं होगा। क्योंकि ऐसा अनुमान तभी संभव होता जब हमें अदर्शन (अनुपलब्धि) और अभाव में व्याप्ति-संबंध का ज्ञान रहता अर्थात् जब हमें ऐसा ज्ञान रहता कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसका अभाव रहता है। परंतु यदि ऐसा मान लें तो आत्माश्रय दोष (Petitio Principii) उपस्थित हो जाएगा क्योंकि जो सिद्ध करना है उसे हम पहले ही मान लेते हैं।

अनुमान
नहीं

इसी तरह यह ज्ञान शब्द या उपमान के अंतर्गत भी नहीं आता, क्योंकि यहाँ आप्त-वाक्य या सादृश्य ज्ञान नहीं है। इस प्रकार घटाभाव ("यहाँ घड़ा नहीं है") का जो साक्षात् ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी उपपत्ति करने के लिए हमें स्वतंत्र प्रमाण मानना होगा। इसीको 'अनुपलब्धि' कहते हैं।[1]

शब्द या
मान भी नहीं

इस संबंध में यह बात द्रष्टव्य है कि अनुपलब्धि मात्र से अभाव सूचित नहीं होता। वे के घने अंधकार में घड़ा रहते हुए भी नहीं सूझता। परमाणु, आकाश, पाप, पुण्य आदि अदृश्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं होते। तथापि हम उनका अभाव नहीं मानते। जिस वस्तु की जिस परिस्थिति में उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होने से ही उसका अभाव जाना जाता है। इस तरह अभाव-ज्ञान का कारण योग्यानुपलब्धि (अर्थात् प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होना) है।

यानुपलब्धि

(३) प्रामाण्य-विचार

जब किसी ज्ञान की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण-सामग्री होती है (और इसलिए संशय या भ्रम की गुंजाइश नहीं रहती) तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह निश्चयात्मक या विश्वासजनक होता है। जैसे, दिन-दोपहर के उजाले में ठीक आँख के सामने कोई चीज साफ-साफ देखने में आती है तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्वस्त सूत्र से सार्थक और स्पष्ट वाक्य के द्वारा शब्द-ज्ञान होता है।

तः
माण्यवाद

[1] देखिए, श्लोकवार्त्तिक, शास्त्रदीपिका, वेदांतपरिभाषा (अनुपलब्धि का प्रकरण), विशेष आलोचनात्मक विवरण के लिए श्री धीरेंद्रमोहन दत्त का The Six Ways of Knowing (BK. III) देखिए।

जहाँ पर्याप्त हेतु रहता है, वहाँ अनुमान किया जाता है। दैनिक जीवन में हम कोई ज्ञान प्राप्त होते ही हम तदनुकूल काम करने लग जाते हैं। वह ज्ञान यथार्थ है या नहीं इस बात की तर्क द्वारा समीक्षा नहीं करते। फिर भी उस ज्ञान के आधार पर अनेक क्रिया में सफलतापूर्वक प्रवृत्त होते हैं; ज्ञान और क्रिया में विरोध या विसंवाद नहीं होता, इससे सूचित होता है कि वह ज्ञान यथार्थ है। इसके विपरीत जब उस ज्ञान की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण-सामग्री में कोई त्रुटि या दोष रहता है तब वह ज्ञान उत्पन्न होता नहीं। जैसे, पांडुरोगी को (जिसकी दृष्टि में दोष रहता है और सब चीजें पीली नजर आती हैं) यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए जबतक शंका या अविश्वास के सभी कारण नहीं हो जाते तब तक विश्वास उत्पन्न नहीं होता।

उपर्युक्त बातों से मीमांसक दो निष्कर्ष निकालते हैं—

(१) ज्ञान का प्रामाण्य (प्रामाणिकता) उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में *विद्यमान रहता है, कहीं बाहर से नहीं आता।*[1]

(२) ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है।[2] यह नहीं कि प्रमाणांतर से परीक्षा करने के लिए हम ठहरे रहें और जब वह ज्ञान दूसरी जाँच की कसौटी पर ठीक उतर जाए तब हम उसे सत्य समझें।

इस सिद्धांत को (जिसमें उपर्युक्त दोनों बातें सम्मिलित हैं) 'स्वतःप्रामाण्यवाद' कहते हैं।[3]

सत्य स्वतः प्रकाश होता है

इस मत के अनुसार सत्य स्वतःप्रकाश होता है। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसीमें उसकी सत्यता का गुण भी सन्निहित रहता है। कभी-कभी दूसरे ज्ञान के द्वारा यह मालूम होता है कि वह भ्रमपूर्ण है अर्थात् उस ज्ञान के आधार में कोई त्रुटि या दोष है। इस अवस्था में आधार के दोष से हम उस ज्ञान की सदोषता या मिथ्यात्व का अनुमान करते हैं। इस प्रकार ज्ञान के मिथ्यात्व का निश्चय अनुमान के द्वारा होता है। परंतु ज्ञान की सत्यता स्वतः प्रकट होती है। संक्षेप में यों कहिए कि विश्वास उत्पन्न करना ज्ञान का स्वाभाविक नियम है। अविश्वास कुछ बाधक कारण मालूम होने से ही होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी सत्यता में हम स्वभावतः बिना किसी तर्क-वितर्क के विश्वास कर लेते हैं। हाँ, यदि उसके प्रतिकूल कोई प्रमाण मिलता है जिससे वह बाधित या खंडित हो जाए तभी हम उस ज्ञान के विषय में शंका करने या उसकी असत्यता का अनुमान करने को बाध्य होते हैं। यों बिना विशेष कारण के हमें ज्ञान की सत्यता में संदेह नहीं होता। इसी विश्वास पर हमारे जीवन का काम चलता है।

नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रमाण उस ज्ञान की उत्पादक कारण-सामग्री के अतिरिक्त कुछ कारणों से उत्पन्न होता है। जैसे, कोई प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ

---

१ प्रमाणं स्वतः उत्पत्तौ।
२ प्रामाण्यं स्वतः ज्ञप्तौ च।
३ देखिए, श्लोकवार्तिक २।१।१ और सर्वदर्शन संग्रह में जैमिनीय दर्शन।

ा नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह ज्ञानेंद्रिय (जैसे, आँख, जिसके आधार पर हम सामने एक नदी देख रहे हैं) ठीक है या नहीं। परंतु मीमांसा का कहना है कि ये अतिरिक्त कारण (जैसे, नेत्र की निर्विकारता) भी वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान के ही सहायक कारण हैं, (अर्थात् कारण-सामग्री के अंग हैं) जिनके बिना विश्वास या ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा निश्चित होता है। इसके विरुद्ध मीमांसा का कहना है कि ऐसा मानने से अनवस्था-दोष (Infinite Regress) आ जाएगा। अर्थात् 'क' के प्रामाण्य के लिए 'ख' का आश्रय लेना पड़ेगा, 'ख' के प्रामाण्य के लिए 'ग' का। इस तरह कभी अंत ही नहीं होगा। इस प्रकार किसी का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा और जीवन में प्रामाण्य निश्चय करने के बाद कोई काम करना असंभव हो जाएगा। मान लीजिए, हम एक बाघ देखते हैं। यदि उसको देखने पर पहले हम उस ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा सिद्ध करना चाहें तो फिर उसी नियम के अनुसार उस अनुमान का भी प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए, दूसरे अनुमान का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा और इस तरह इस क्रिया की समाप्ति नहीं होगी। इस तरह जीवन असंभव हो जाएगा। बाघ को देखने के साथ ही हम वहाँ से भागते हैं। यदि उसका प्रामाण्य निश्चित करने के लिए, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इस तरह अनुमानों का अवलंबन करने लग जाते तो हम बाघ को देखते ही नहीं भागते। यह सत्य है कि जहाँ किसी ज्ञान के विषय में शंका का स्थल रहता है वहाँ हम उसकी सत्यता का निश्चय करने के लिए, अनुमान का सहारा लेते हैं। परंतु उसका उद्देश्य होता है ज्ञान के मार्ग में जो प्रतिबंधक है उसे दूर करना। बाधा दूर हो जाने से वह ज्ञान (यदि वह सत्य ज्ञान है) प्रकट हो जाता है और उसकी सत्यता तथा उस सत्यता का ज्ञान भी उसके साथ प्रकट हो जाता है। यदि उस शंका या बाधा का निवारण अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता, तो फिर वह ज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं।

स्वतः प्रामाण्य का खंडन

लौकिक या वैदिक, पौरुषेय या अपौरुषेय शब्द के द्वारा भी इसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि शंका या अविश्वास के लिए कोई आधार न हो तो कोई सार्थक वाक्य सुनने पर हमें स्वभावतः विश्वास हो जाता है। अतएव नित्य अपौरुषेय वेद भी स्वतः प्रमाण है। उनका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है, किसी अनुमान पर निर्भर नहीं। हाँ, मन से संशयों को दूर करने के लिए तर्क का प्रयोजन पड़ता है। ऐसा हो जाने पर वेदों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और वास्तविक अर्थ-बोध के साथ ही उसकी सत्यता की प्रतीति भी हो जाती है। इस प्रतीति या विश्वास के लिए, मीमांसक इतना ही करता है कि वेदों की अभ्रांतता के विरुद्ध जितने भी आक्षेप हो सकते हैं उनका निराकरण करता है, जिससे वैदिक ज्ञान की यथार्थता स्वीकार करने में किसी को संदेह नहीं रहे।

(घ) भ्रम क्या है ?

यदि प्रत्येक ज्ञान स्वतःप्रमाण है और उसकी सत्यता भी स्वयंप्रकाश है तो फिर भ्रम की उत्पत्ति कैसे होती है ? भारतीय दर्शनों में भ्रम के संबंध में गहरी छानबीन की गई है।

। इसके अतिरिक्त दोनों ही भ्रम को अपवाद-रूप समझते हैं। सामान्यतः यही नियम है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है। इसी विश्वास पर हमारा दैनिक जीवन का व्यवहार चल सकता है। हाँ, कभी-कभी इस नियम का अपवाद भी पाया जाता है जिसे हम भ्रम का नाम देते हैं। परंतु कुछ अपवादों के रहते हुए भी स्वाभाविक नियम ही मान्य समझा जाता है।

३. तत्त्व-विचार

(१) सामान्य रूपरेखा

प्रत्यक्ष ज्ञान की यथार्थता के आधार पर मीमांसा जगत् और उसके समस्त विषयों को मानती है। अतएव यह बौद्धमत के शून्यवाद और क्षणिकवाद को तथा अद्वैतमत के मायावाद को नहीं मानती। प्रत्यक्ष विषयों के अतिरिक्त, यह स्वर्ग, नरक, आत्मा और वैदिक यज्ञ के देवताओं का अस्तित्व भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियम के अनुसार सृष्टि की रचना होती है। संसार इन तत्त्वों से बना है—(१) शरीर या भोगायतन जिसमें जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों का भोग करते हैं। (२) ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय जो सुख-दुःख भोग साधन हैं। (३) बाह्य वस्तुएँ जो भोग के विषय हैं। मीमांसा को ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं पड़ता। कुछ मीमांसक वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद मानते हैं।[1] परंतु भेद यह है कि मीमांसकों के मत में परमाणु ईश्वर के द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार ही वे सदा इस तरह प्रवर्त्तित होते हैं जिससे जीवात्माओं को कर्म-फल भोग कराने योग्य संसार बन जाता है। मीमांसा सृष्टि और प्रलय भी नहीं मानती है। संसार सर्वदा वर्त्तमान है।[2] कुछ भाट्ट मीमांसक द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया, अभाव इन पाँच पदार्थों को मानते हैं और वैशेषिक के नव द्रव्यों के अतिरिक्त अंधकार (तम) और शब्द को भी द्रव्य ही मानते हैं।[3]

इस तरह तत्त्व विचार की दृष्टि से मीमांसा-दर्शन वस्तुवादी (Realistic) और बहुवस्तुवादी (Pluralistic) है। मीमांसक वेदवाक्य को प्रत्यक्ष से भी बढ़कर मानते हैं।[4] वे स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक तत्त्वों को मानते हैं जो अतीन्द्रिय विषय होने के कारण अनुभव-गम्य नहीं हैं।

---

[1] सब मीमांसक ऐसा नहीं मानते। (देखिए, श्लोक-वार्त्तिक, अनुमान प्रकरण, श्लोक १८३)। परमाणुवाद के पक्ष में जो युक्तियाँ दी गई हैं उन्हें प्रभाकर-विजय में देखिए।

[2] श्लोकवार्त्तिक में इसका विशद विचार है। (चौखंभा संस्करण, ६५० पृष्ठ से देखिए)।

[3] मानमेयोदय देखिए।

[4] देखिए, श्लोकवार्त्तिक २७, १।१।२

(२) शक्ति और अपूर्व

कार्य-कारण संबंध के विषय में मीमांसा शक्तिवाद का सिद्धांत मानती है।[1] बीज में एक अदृश्य शक्ति होती है जिससे वह अंकुर उत्पन्न कर सकता है। जब वह शक्ति

अदृष्ट शक्ति

बाधित या नष्ट हो जाती है, (जैसे बीज को भूंज देने पर) तब [illegible] कार्य (अंकुर) को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी प्रकार अग्नि में जलाने की शक्ति है। शब्द में अर्थ-बोधकता और नियोगात्मकता की शक्ति है, प्रकाश में भासित करने की शक्ति है। कारण में अदृष्ट शक्ति मानना इसलिए आवश्यक है कि बिना उसके हम इस बात की उत्पत्ति नहीं कर सकते कि कहीं-कहीं कारण (जैसे बीज या अग्नि) वर्तमान रहने पर भी कार्य (जैसे अंकुर या दहनक्रिया) की उत्पत्ति नहीं होती। मीमांसक यह कहेंगे कि इन अवस्थाओं में कारण-द्रव्य विद्यमान रहते हुए भी उसकी शक्ति किसी हेतु से नष्ट या अभिभूत हो गई है जिससे कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

नैयायिक इस अदृष्ट शक्ति को नहीं मानते। उनका कहना है कि बिना इसे माने भी उपर्युक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है। बाधाएँ नहीं रहने पर कारण कार्य को उत्पन्न करता है, और बाधाएँ रहने पर नहीं उत्पन्न करता,

न्यायमत का खंडन

अर्थात् बाधाओं के अभाव में कार्य उत्पन्न होता है, [illegible] मीमांसक इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तब तो, न्याय के अनुसार भी, कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त कुछ वस्तु (अर्थात् बाधा का अभाव) भी आवश्यक मानना पड़ेगा। फिर [illegible] यदि और कुछ मानना ही है तो अभाव पदार्थ में नियोगात्मक शक्ति मानने के बदले भाव पदार्थ (जैसे बीज) ही में यह शक्ति क्यों नहीं मानें?

इस अदृष्ट शक्ति के सिद्धांत के द्वारा मीमांसा एक बड़ी समस्या का समाधान करती है। जैसे, जब कर्म का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो आज का किया हुआ कर्म (जैसे य- [illegible]) इस जीवन के बाद परलोक में कैसे फलित होगा? मीमांसा कहती

अपूर्व

है कि इस लोक में किया हुआ कर्म एक अदृष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव करता है—जिसे 'अपूर्व' कहते हैं।[2] यह कर्म का फल-भोग कराने की शक्ति है जो समय पर फलित होती है। कर्म-फल का व्यापक नियम यह है कि लौकिक या वैदिक सभी कर्मों के फल संचित होते हैं। अपूर्व का सिद्धांत उसीका एक अंश है।

(३) आत्मविचार

मीमांसा में आत्मा का विचार बहुत कुछ उसी तरह से किया गया है जैसे अन्य वस्तुवादी और अनेक-आत्मवादी दर्शनों में (यथा न्याय-वैशेषिक में)।[3] आत्मा नि-

---

1 देखिए, शास्त्र-दीपिका (पृ० ८०), प्रकरण-पंचिका (पृ० १८०)

2 देखिए, शास्त्र-दीपिका (पृ० ८०), प्रकरण-पंचिका (पृ० १८४-८५) शाबर-भाष्य २।१।५।

3 देखिए, श्लोक-वार्तिक (आत्मवाद), शास्त्र-दीपिका (आत्मवाद), प्रकरण-पंचिका (प्रकरण ८)।

...ला जो द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है। मृत्यु के उपरांत भी यह अपने इस जन्म के कर्मों का फल-भोग करने के लिए विद्यमान रहता है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं, किंतु एक औपाधिक गुण है जो अवस्था-विशेष में उत्पन्न हो जाता है। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता क्योंकि ...त्पादक कारणों (जैसे इंद्रिय और विषय का संयोग आदि) का अभाव हो जाता है। ...जीव हैं उतने ही आत्मा हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा है। जीवात्मा ...में आते हैं और उससे मोक्ष भी पा सकते हैं। इन सब बातों में मीमांसा के विचार ...ही हैं जो पूर्वोक्त अन्यान्य आस्तिक दर्शनों के। अतएव पुनरुक्ति करना ...यक है।

...त्मा का ज्ञान कैसे होता है इस संबंध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। भाट्ट संप्रदाय ...है कि आत्मा का ज्ञान कभी-कभी होता है, प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ आत्मज्ञान नहीं होता। जब हम आत्मा पर विचार करते हैं तब अपना बोध होता है कि 'मैं हूँ'। इसे अहंवित्ति (Self-consciousness) कहते हैं। इसी का जो विषय (Object) है वह आत्मा है। प्राभाकर संप्रदाय इस मत को नहीं मानता। उसका कथन है कि 'अहंवित्ति' ...ना ही अयुक्त है क्योंकि एक ही आत्मा उसी ज्ञान का ज्ञाता (Subject) और ...य (Object) दोनों नहीं हो सकता। जैसे, वही अन्न भोक्ता और भोज्य दोनों ...य नहीं हो सकता। कर्त्ता और कर्म के व्यापारों में परस्पर-विरोध होता है। एक ही क्रिया में एक ही साथ एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। परंतु प्रत्येक विषयज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्त्ता ...में, विषय विषय के रूप में उद्भासित होता है। इसलिए जब हमें कोई भी ज्ञान होता ...'यह घड़ा है') तब हम कहते हैं 'मैं घड़ा देख रहा हूँ' अथवा 'मुझे घड़े का ज्ञान हो...। यदि यहाँ मैं स्वयं ज्ञाता के रूप में प्रतीत नहीं होता तो फिर 'मैंने ही घड़ा देखा' ...आधार पर कायम किया जाता?[१]

...के उत्तर में भाट्ट संप्रदाय का कथन है कि यदि प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ आत्मा उद्भासित होता तो 'मैं इस घड़े को जान रहा हूँ', ऐसा बोध सर्वदा वर्तमान रहता। परंतु प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ ऐसा नहीं होता। इससे सूचित होता है कि आत्मज्ञान विषय-ज्ञान का नित्य सहचर नहीं है। वह कभी ...ता है, कभी नहीं होता। अतएव वह विषय-ज्ञान से भिन्न है। तब रहा कर्त्ता और ...विरोध। सो यह कोरा शब्द-जाल है। यदि दोनों में वास्तविक विरोध होता तो ...क विधिवाक्य कि आत्मानं विद्धि (अपने आत्मा को पहचानो) अथवा यह लौकिक ...क 'मैं अपने को जानता हूँ' बिल्कुल निरर्थक हो जाता। इसके अतिरिक्त, यदि ...भी ज्ञान का विषय नहीं होता तो फिर अतीत काल में अपने आत्मा के अस्तित्व को

...ए, प्रकरण-पंचिका (पृ० १४८)

स्मरण करना कैसे संभव होता ? क्योंकि अतीतकालीन आत्मा तो वर्तमान ज्ञान जाता है नहीं, यह केवल वर्तमान-कालीन आत्मा के स्मृतिज्ञान का विषय हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का विषय हो सकता है।[1]

इसी प्रश्न से लगा हुआ एक दूसरा प्रश्न उठता है—'ज्ञान का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?' प्राभाकर मीमांसकों का मत है कि प्रत्येक विषय-ज्ञान में, जैसे, 'मैं यह घड़ा जानता हूँ', तीन अंग विद्यमान रहते हैं—(१) ज्ञाता अर्थात् आत्मा (मैं), (२) ज्ञेय—जो विषय जाना जाता है (जैसे घड़ा) और (३) ज्ञान (अर्थात् घड़े को जानना)। इन तीनों का ज्ञान एक साथ होता है। इसे 'त्रिपुटी ज्ञान' कहते हैं। जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञाता, ज्ञेय और अपने आप को प्रकट करता है। अतएव ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का प्रकाशक होने के साथ-साथ स्वयं प्रकाश भी होता है। परंतु इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान स्वभावतः ज्ञान का विषय स्वयं नहीं हो सकता, जैसे अंगुली का अग्रभाग अपने को नहीं छू सकता। तब हम यह कैसे जानते हैं कि हमें अमुक विषय का ज्ञान हो रहा है ? इसके उत्तर में भाट्ट लोग कहते हैं कि हमें कोई भी विषय या तो ज्ञात (प्रकट) होता है या तो अज्ञात (अप्रकट) रहता है। यदि वह ज्ञात (प्रकट) रहता है तब उस ज्ञातता (प्राकट्य) के आधार पर हम अनुमान करते हैं कि हमें उस विषय का ज्ञान था। इस तरह ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। वह परोक्ष रूप से ज्ञातता के आधार पर—अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।

ज्ञानविचार

४. धर्म-विचार

(१) वेदों का महत्त्व

मीमांसक जगत्-कर्ता या ईश्वर को नहीं मानते। वेद की नित्यता और अपौरुषेयता को स्थापित करने की धुन में मीमांसा को ईश्वर की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। ईश्वर को प्रधानता देने से वेद का महत्त्व गौण (या कम) हो जाएगा, शायद इसलिए मीमांसा में ईश्वरवाद का अभाव पाया जाता। मीमांसा की दृष्टि में वेद नित्य ज्ञान के भंडार तो हैं ही, उनमें शाश्वत (नित्य) विधि-वाक्यों या नियमों के आगार हैं जिनके अनुसार आचरण (क्रिया) करने से हम धर्म प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह धर्म का अर्थ ही है वेद-विहित कर्तव्य। कर्तव्यता और अकर्तव्यता का मानदंड वेद-वाक्य ही है। वेद की व्यवस्था के अनुसार जीवन ही उत्तम है।

वैदिक धर्म

(२) कर्तव्यता

वैदिक युग में जो यज्ञ किए जाते थे वे अग्नि, इंद्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओं को प्रसन्न और स्तुतियों के द्वारा संतुष्ट करने के लिए, जिससे वे इहलोक या परलोक में मंगल करें। मीमांसा वैदिक धर्म की शाखा है। परंतु उसने यज्ञों (वैदिक क्रियाओं) को इतना अधिक महत्त्व दिया कि

कर्मकांड

१ देखिए, [illegible] (पृष्ठ १२३-२१)

ान गौण हो गया है। देवता केवल संप्रदान-कारक-सूचक पद मात्र हैं (जिनके लिए
ा आहुति दी जाती है)। उनके गुण या धर्म का कोई वर्णन नहीं है। उनकी उप-
ा केवल इसी बात को लेकर है कि उनके नाम पर होम किया जाता है। एक प्रसिद्ध
क का कथन है कि यज्ञ करने का प्रधान उद्देश्य पूजा या देवता को संतुष्ट करना
रं अपने आत्मा को शुद्ध करना है। वैदिक कर्म इसीलिए करना चाहिए कि वेद हमें
करने के लिए आदेश देते हैं। इनमें कुछ 'काम्यकर्म' हैं जो स्वर्ग, वृष्टि, आदि की
ा से किए जाते हैं परंतु कुछ कर्म (नित्य और नैमित्तिक कर्म) ऐसे आवश्यक कर्म हैं,
ा पालन करना इसीलिए कर्त्तव्य है कि वेद की वैसी आज्ञा है। यहाँ कर्मकांड के मार्ग
मीमांसा का धर्मशास्त्र अपने चरम उत्कर्ष-बिंदु पर पहुँच जाता है जहाँ निष्काम कर्म
y for Duty's Sake) ही धर्म माना जाता है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट (Kant)
ह मीमांसक भी कहते हैं कि कर्त्तव्य का पालन इसलिए नहीं करना चाहिए कि उससे
उपकार होगा बल्कि इसलिए कि कर्त्तव्य पालन करना हमारा धर्म है। कांट की
उनका भी यह विश्वास है कि यद्यपि सकाम भाव से धर्म नहीं करना चाहिए तथापि
ृष्टि ऐसी है कि जो धर्म करता है वह उसके फल (सुख) से वंचित नहीं रह सकता।
केवल इतना ही है कि जहाँ इस फल के वितरण के लिए कांट ईश्वर का सहारा लेते
ँ मीमांसक अपूर्व का अवलंबन करते हैं। कांट के लिए कर्त्तव्यता का मूल स्रोत है
ा का उच्चतर रूप (Higher Self) जिससे उसका निम्न रूप (Lower Self)
रित होता है। मीमांसक के लिए कर्त्तव्यता का मूल स्रोत एकमात्र अपौरुषेय वेद-
है जो निष्काम कर्म करने के लिए आदेश देता है।

(३) निःश्रेयस[1]

ाचीन मीमांसकों के मत में स्वर्ग (अर्थात् नित्य निरतिशय आनंद की प्राप्ति) ही
ा चरम लक्ष्य माना गया है। इसलिए कहा गया है—स्वर्गकामो यजेत। अर्थात्
जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ करे। सभी कर्मों का अंतिम उद्देश्य है
स्वर्ग-प्राप्ति। परंतु धीरे-धीरे मीमांसक-गण भी अन्यान्य मार्ग...
ौर मोक्ष
की तरह मोक्ष (अर्थात् सांसारिक बंधनों से मुक्ति) को सबसे बड़ा कल्याण (नि-
) मानने लगे। उनका मत है कि यदि सकाम भाव से (किसी विषय की इच्छा से
ुण्य या पाप कर्म) किया जाए तो उसके फलस्वरूप बारंबार जन्म लेना पड़ता है।
ूप्य समझा जाता है कि समस्त सांसारिक सुख-दुःख मिश्रित होते हैं और ...
रिक जीवन से ऊब जाता है, तब वह अपनी वासनाओं को दमन करने की चेष्टा ...
...कर्मों को भी छोड़ देता है जो मु...
पापकर्म से विरत होकर उन सभी कर्मों को भी छोड़ देता है ... छुटकारा मिल ...
न किए जाते हैं। इस तरह पुनर्जन्म और भवबंधन से छुटकारा ... पूर्वकर्मों के संचित संस्कार ...
ाम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्वकर्मों के संचित संस्कार ...
ो जाते हैं। तब इस जन्म के बाद पुनर्जन्म नहीं होता और कर्म का बंधन ...
जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। इसीको ...

[1] ...खिए, प्रकरण-पंचिका (पृ० १८५-८६)

कहते हैं। शरीर, इंद्रिय, मन सभी के बंधनों से आत्मा मुक्त हो जाता है और इस बंधन का नाश हो जाने पर फिर कभी यह जन्म-मरण के जाल में नहीं फँसता।[1]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मीमांसा में चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं माना जाता। जब आत्मा शरीर और इंद्रिय के द्वारा विषयों के संपर्क में आता है

मोक्षावस्था

तभी उसे सुख-दुःख आदि के अनुभव या ज्ञान होते हैं। मुक्त शरीर इंद्रियों और मन से पृथक् हो जाता है; इसलिए इसमें चैतन्य का धर्म नहीं रहता। अतएव वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। मोक्ष आनंद की अवस्था नहीं है। यह अवस्था इसलिए वांछनीय है कि इसमें सभी दुःखों का सर्वदा के लिए अंत हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें आत्मा सुख-दुःख से परे यथार्थ स्वरूप में रहता है।[2] आत्मा के इस स्वरूप-भाव का इससे अधिक और वर्णन नहीं किया जा सकता कि उसमें केवल सत्ता और चैतन्य की शक्ति (वास्तविक चैतन्य नहीं) विद्यमान रहती है। परंतु परवर्ती काल के कुछ भाट्ट के समान मुक्ति को आनंदानुभूति रूप मानने लगे थे।[3]

(४) क्या मीमांसा-दर्शन अनीश्वरवादी है?

क्या मीमांसा-दर्शन को निरीश्वरवादी कहना चाहिए? मीमांसा का वेद पर इसको ध्यान में रखते हुए यह विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है कि मीमांसा ईश्वर को नहीं मानती है। मैक्समूलर (Maxmuller)[4] साहब का

भिन्न-भिन्न मत

है कि मीमांसकों ने सृष्टिकर्ता के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर को सृष्टिकर्ता मान लिया जाए पर क्रूरता, पक्षपात आदि के दोष आरोपित हो जाते हैं। परंतु सृष्टिकर्ता के रूप में को नहीं मानने का अर्थ निरीश्वरवाद नहीं है। मैक्समूलर साहब कहते हैं कि कुछ वादी (Pantheistic) दर्शन (जैसे अद्वैत वेदांत या Spinoza का दर्शन) भी को यथार्थ नहीं मानते, इसलिए उन्हें निरीश्वरवादी कहना न्यायसंगत नहीं होगा।

यदि मीमांसा को वैदिक परंपरा की दृष्टि से (जिसपर मीमांसा को इतना देखा जाए तो प्रायः मैक्समूलर साहब का कहना ठीक है। परंतु मीमांसा जो

समीक्षा

और करती है, उस दृष्टि से देखने पर उसका विचार ठीक नहीं हो सकता। अब हम देखते हैं कि प्राचीन मीमांसा ईश्वर के चुप है और बाद के मीमांसक जैनों की तरह ईश्वर के प्रमाणों का खंडन करते हैं; ईश्वरवाद के लिए वह प्रमाण भी नहीं देते तो इन्हें

---

१ देखिए, प्रकरण-पंजिका (प्रकरण ८, पृ० १५४-६०)
२ देखिए, शास्त्र-दीपिका (पृ० १२६-३१)
३ देखिए, मानमेयोदय
४ The Six Systems of Indian Philosophy (Chap V) पशुपतिनाथ शास्त्री के ग्रंथ Introduction to the Purva Mimamsa में इसी मत का प्रतिपादन किया है।

ान के लिए कोई प्रमाण नहीं रह जाता कि ईश्वर में कभी उनकी आस्था थी। हाँ, वैदिक
ताओं का यज्ञों से अविच्छेद्य संबंध है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मीमांसा
हुदेवतावादी (Polytheistic) है। परंतु यह विचार भी निःसंदेह रूप में नहीं माना
ा सकता, क्योंकि मीमांसा के लिए इन देवताओं का अस्तित्व केवल वैदिक मंत्रों में ही है।
न कहीं इनकी पृथक् सत्ता मानी गई है न इन्हें उपास्य ही स्वीकार किया गया है।[1] वेद के
मंत्रों से हम देख पाते हैं कि मंत्रद्रष्टा ऋषि यज्ञस्थल में देवताओं के आगमन की साक्षात्
अनुभूति करते थे। परंतु मीमांसा इस बात पर आश्चर्य करती है कि एक ही देवता एक ही
समय में भिन्न-भिन्न पूजास्थानों में (जहाँ उनका आवाहन किया गया है) कैसे उपस्थित
हो सकते हैं। इसलिए यह भी कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि मीमांसकों को वैदिक
ऋषियों के समान देवताओं में ज्वलंत विश्वास था।[2]

मीमांसा के देवता महाकाव्यों के अमर पात्रों की तरह हैं। वे देश-काल जगत् के नहीं
। वे यथार्थ पुरुष नहीं, किंतु आदर्श स्वरूप हैं। परंतु एक अर्थ में वे इन पात्रों से अधिक
क्योंकि वे काल्पनिक नहीं। वे शाश्वत स्वतः-प्रकाश चरित्र हैं, क्योंकि वे नित्य प्रकाश्य
ों में वर्णित हैं। ऐसे देवताओं में ऐश्वर्य और पवित्रता का भाव भले ही मिल सके परंतु
वर का भाव उनसे नहीं आता। अतएव केवल वैदिक परंपरा की दृष्टि से मीमांसा
निरूपण करना उचित नहीं। परंपरागत धर्म के अंग, शरीर के अंग की तरह अनुपयोग

ावन का जो नक्शा खींचता है उसमें वैदिक ईश्वर का

। अतएव वैदिक ईश्वर धीरे-धीरे मिट गए हैं।
मीमांसा दर्शन मानव जीवन के इतिहास के इस स्वाभाविक नियम का एक दृष्टांत है कि
ये साधन का महत्त्व अतिरंजित होने से वह स्वयं साध्य का आसन ग्रहण कर लेता है और
मंदिर तथा संत-महात्माओं की वेदी पर ईश्वर का बलिदान चढ़ जाता है। मीमांसा ने
र्म के महत्त्व को इतना अधिक बढ़ाया है कि वैदिक युग में देवताओं में जो ज्वलंत विश्वास
ा वह धीरे-धीरे म्लान हो गया। फिर भी वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य और अर्थ का सूक्ष्म
विचार करते हुए मीमांसा ने जिन युक्तियों और सिद्धांतों का उद्भावन किया है वे बहुत ही
उच्च कोटि के हैं और इसलिए मीमांसा को दर्शनों में एक आदरणीय स्थान प्राप्त है।

---

[1] देखिए, डॉ० गंगानाथ झा द्वारा श्लोकवार्तिक का अंग्रेजी अनुवाद।
[2] देखिए, प्रकरण-पंचिका (पृ० १८६)

१०

वेदांत दर्शन

१. विषय प्रवेश

(१) वेदांत दर्शन की उत्पत्ति और विकास

वेदांत का अर्थ

'वेदांत' का शब्दार्थ है वेद का अंत। प्रारंभ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। पीछे उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा। उपनिषदों […] भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जा सकता है।

(१) उपनिषद् वैदिक युग के अंतिम साहित्य हैं। वैदिक काल में तीन प्रकार […] साहित्य देखने में आता है। सबसे पहले वैदिक मंत्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में संकलित हैं। तत्पश्चात् ब्राह्मण-भाग जिसमें वैदिक कर्मकांड […] विवेचना है। अंत में उपनिषद् जिनमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिल[कर] 'श्रुति' या 'वेद' (अधिक व्यापक अर्थ में) कहलाते हैं।

(२) अध्ययन के विचार से भी उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। […] सामान्यतः संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित क[र्म] (यज्ञादि) करने के लिए 'ब्राह्मण' का प्रयोजन पड़ता था। वानप्रस्थ या संन्यास में […] 'आरण्यक' का। इन्हें 'आरण्यक' इसलिए कहते थे कि अरण्य या वन में एकांत […] बिताते हुए लोग जगत् का रहस्य और जीवन का उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। [उप]निषदों का विकास इसी आरण्यक-साहित्य से हुआ है।

(३) उपनिषद् को इस अर्थ में भी वेद का अंत माना जा सकता है कि वेदों में […] विचार पाए जाते हैं उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषद् में पाया जाता है। स्वयं उपनिषदों [में] ही कहा गया है कि वेद-वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य […] ज्ञान तब पूर्ण नहीं होता जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं करता।[1]

उपनिषद् (उप + नि + सद्) का अर्थ है 'जो ईश्वर के समीप पहुँचावे' अथवा 'जो गु[रु] के समीप पहुँचावे'।[2] यह दूसरा अर्थ इस बात से भी मेल खाता है कि उपनिषदों के सि[द्धांत] गुरु गुप्त रखते थे अर्थात् वे केवल कुछ चुने हुए अधिकारी शिष्यों को ही बताते थे जो गुरु के समीप (उपसन्न) बैठते थे।[3] उपनिषदों को वेद का गूढ़ रहस्य समझा जाता […]

1 देखिए, छांदोग्योपनिषद् (अध्याय, ७-१)
2 देखिए, कठ, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक में शंकर की भूमिका।
3 उप पूर्वक सद् धातु का व्यवहार उपनिषदों में 'गुरु के समीप शिष्य बैठने के' अर्थ में किया गया है।

१०

वेदांत दर्शन

१. विषय प्रवेश

(१) वेदांत-दर्शन की उत्पत्ति और विकास

'वेदांत' का शब्दार्थ है वेद का अंत। प्रारंभ में इस शब्द से उपनिषदों का
होता था। पीछे उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विक
हुआ उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा। उपनिषदों

वेदांत का अर्थ

भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जा सकता है।

(१) उपनिषद् वैदिक युग के अंतिम साहित्य हैं। वैदिक काल में तीन प्रकार साहित्य देखने में आता है। सबसे पहले वैदिक मंत्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग् यजुर्वेद, सामवेद) में संकलित हैं। तत:पर ब्राह्मण-भाग जिसमें वैदिक कर्मकांड विवेचना है। अंत में उपनिषद् जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिल 'श्रुति' या 'वेद' (अधिक व्यापक अर्थ में) कहलाते हैं।

(२) अध्ययन के विचार से भी उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। सामान्यत: संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित (यज्ञादि) करने के लिए 'ब्राह्मण' का प्रयोजन पड़ता था। वानप्रस्थ या संन्यास लेने 'आरण्यक' का। इन्हें 'आरण्यक' इसलिए कहते थे कि अरण्य या वन में एकांत जी बिताते हुए लोग जगत् का रहस्य और जीवन का उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। उ निषदों का विकास इसी आरण्यक-साहित्य से हुआ है।

(३) उपनिषद् को इस अर्थ में भी वेद का अंत माना जा सकता है कि वेदों में विचार पाए जाते हैं उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषद् में पाया जाता है। स्वयं उपनिषदों ही कहा गया है कि वेद-वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य ज्ञान तब पूर्ण नहीं होता जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं करता।[१]

उपनिषद् (उप+नि+सद्) का अर्थ है 'जो ईश्वर के समीप पहुँचावे' अथवा जो 'गु के समीप पहुँचावे'।[२] यह दूसरा अर्थ इस बात से भी मेल खाता है कि उपनिषदों के सिद्धा गूढ़ रखे जाते थे अर्थात् वे केवल कुछ चुने हुए अधिकारी शिष्यों को ही बताए जाते थे जो गुरु के समीप (उपासन्न) बैठते थे।[३] उपनिषदों को वेद का गूढ़ रहस्य समझा जाता था,

---

१ देखिए, छांदोग्योपनिषद् (अध्याय, ६-७)
२ देखिए, कठ, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक में शंकर की भूमिका।
३ उप पूर्वक सद् धातु का व्यवहार उपनिषदों में 'गुरु के समीप शिक्षार्थ बैठने के अर्थ में किया गया है।

लिए उन्हें वेदोपनिषद्[१] भी कहा जाता था। भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों में, भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में नाना उपनिषदें बनीं।[२] यद्यपि उन सबों में मूलतः विचार-सादृश्य है तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन प्रश्नों की विवेचना की गई है और उनके जो समाधान दिए गए हैं उनमें विभिन्नता भी पाई जाती है। अतएव काल-क्रम से आवश्यक होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार हैं उनका विरोध परिहार कर सर्व-सम्मत उपदेशों का संकलन किया जाए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। इसे वेदांतसूत्र, शारीरकसूत्र, शारीरक मीमांसा या उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में ब्रह्म-विषयक समस्त वेदांत वाक्यों का समन्वय, और द्वितीय में उन वाक्यों के तर्क स्मृति आदि से अविरोध प्रदर्शित किया गया है। तृतीय अध्याय में वेदांत के विभिन्न साधनों के विषय में और चतुर्थ में उनके फल के विषय में विचार हैं।

वेदांत का साहित्य

बादरायण ने उपनिषदों का ऐकमत्य स्थापित करने का प्रयास किया है। वेदांत के विरुद्ध जो आक्षेप किए गए हैं या किए जा सकते हैं उनका भी परिहार उन्होंने किया है। उनके सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं। अतः उनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से होने लगी। ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गए जिनमें भाष्यकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदांत का प्रतिपादन किया। प्रत्येक भाष्यकार यह सिद्ध करने की चेष्टा में लगे कि उन्हीं का भाष्य श्रुति और मूलग्रंथ (सूत्र) का असली तात्पर्य बतलाता है। हरएक भाष्यकार एक-एक वेदांत संप्रदाय के संस्थापक बन गए। इस तरह शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निंबार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय चल पड़े। वेदांत के किसी संप्रदाय से केवल उन दार्शनिकों का बोध नहीं होता जो सिद्धांततः उस विचार को मानते हैं, अपितु उस विशाल जनसमूह का भी बोध होता है जो व्यवहारतः उस सिद्धांत के अनुयायी साधना के द्वारा अपने जीवन को उसी साँचे में ढालने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वेदांत का प्रभाव अभी तक लाखों व्यक्तियों के जीवन में वर्तमान है।

वेदांत के संप्रदाय

भाष्यों के अनंतर वेदांत पर अनेक टीका-टिप्पणियों तथा स्वतंत्र ग्रंथों की रचना हुई। प्रत्येक संप्रदाय के विद्वान अपने-अपने पक्ष की स्थापना तथा प्रतिपक्षियों के मत का खंडन करने लगे। इस प्रकार वेदांत के साहित्य का भंडार बढ़ते-बढ़ते बहुत समृद्ध हो गया। किंतु उसका थोड़ा ही अंश अभी तक प्रकाशित हो सका है।

जीव और ब्रह्म में क्या संबंध है। ये दो हैं कि एक ही हैं। मुख्यतः इसी प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तरों पर वेदांत के विभिन्न संप्रदायों की सृष्टि हुई। प्रत्येक संप्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य ने अपने मत के अनुसार ब्रह्मसूत्र का एक-एक भाष्य लिखा। वही उस संप्रदाय की

१ देखिए, तैत्तिरीय, १।११

२ ११२ उपनिषदों की नामावली के लिए Dasgupta की Hiitory of Indian Philosophy (Voll-Page 28) देखिए,

आधारशिला है। शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है अतः उनके मत का नाम पड़ा अद्वैतवाद। रामानुजाचार्य अद्वैत को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेषण रूप से है। अनेक विशेषण विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है विशिष्टाद्वैत। मध्वाचा जीव और ब्रह्म को दो मानते हैं। अतः इस मत को द्वैतवाद कहा जाता है। निंबार्का का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं; किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। इस मत क द्वैताद्वैत कहते हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के भेद, अभेद और भेदाभेद संबंध भिन्न भिन्न प्रकार से स्थापित करनेवाले अनेक मत हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है शंकर का अद्वै और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

वेदांत का विकास

वेदांत के विकास में तीन युग देखने में आते हैं। (१) आदिकाल में श्रुति या वेद क साहित्य, विशेषतः उपनिषद् का साहित्य पाया जाता है जो वेदांत का मूल स्रोत क जा सकता है। इस युग में वेदांत के विचार विशेषतः ऋ... रहस्यमय अनुभूतियों तथा कवित्वमय उद्गारों के रूप में प्रकट हुए हैं। (२) मध्यकाल वह है जिसमें इन विचारों का संकलन, समन्वय त युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इस युग का प्रधान ग्रंथ ब्रह्मसूत्र। (३) अंतिम काल में हम उन समस्त भाष्यों, टीकाओं तथा अन्यान्य ग्रंथों क रखते हैं जिनमें वेदांत के विचारों को तर्क की कसौटी पर रखकर विचार किया गया, अर्थात् श्रुतियों की दुहाई न देकर स्वतंत्र युक्तियों का अवलंबन किया गया है।

इनमें प्रत्येक युग की विचार-धारा की पृथक्-पृथक् समीक्षा करना संभव है परंतु य संक्षेप से एक ही साथ विचार किया जाएगा। वेदांत की विचारधारा एक ही नदी क धारा की तरह एक स्रोत से निकली हुई, क्रमशः विस्तीर्ण और अनेक शाखाओं में प्रवाहि होती गई है।

(२) वेदों और उपनिषदों से वेदांत का विकास

ऋक्, यजुः और साम, इन तीनों वेदों में ऋग्वेद आधारभूत मूल-ग्रंथ है। शेष दोनों (यजुर्वेद और सामवेद) में यज्ञों के निमित्त भिन्न क्रमों से ऋग्वेद के मंत्र आए हैं। ऋग्वे

वैदिक देवता

के मंत्र मुख्यतः अग्नि, मित्र, इंद्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुति आए हैं। उनमें भिन्न-भिन्न देवताओं की शक्तियों और विविध का का वर्णन है और उनसे सहायता या वरदान की प्रार्थना है। स्तुतिपाठ के साथ-साथ हवन कुंड में घृत आदि वस्तुओं की आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ कि जाता था। ये देवता प्रधानतः प्रकृति के विभिन्न अंशों में अंतर्निहित अधिष्ठात्री शक्तियाँ जो उन्हें संचालित करते हैं। यथा—अग्नि, सूर्य, वायु, इंद्र, इत्यादि। जीवन, कृषिकार्य औ अभ्युदय, सब कुछ इन्हीं की कृपा पर निर्भर समझा जाता था। वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि प्रकृति के सभी कार्य सर्वव्यापी नियम ('ऋत') के अनुसार होते हैं जिससे सभी जीव और विषय परिचालित होते हैं। इसी ऋत के द्वारा चंद्र, सूर्य आदि ग्रह अपने स्थानों पर अवस्थित रहते हैं। इसी ऋत के द्वारा सभी जीवों को कर्म के यथोचित फल मिलते हैं।

वेदों को बहुधा अनेकेश्वरवादी कहा जाता है। परंतु वैदिक विचार-धारा में एक विशेषता है कि जिसके कारण इस मत को मानने में संदेह होता है। बात यह है कि जिस

Henotheism

देवता की प्रशंसा वैदिक मंत्रों में की गई है प्रायः उसी को कर्त्ता-हर्त्ता-विधाता सब कुछ मान लिया गया है और इस तरह कभी इंद्र को, कभी अग्नि को, कभी वरुण को सर्वशक्तिमान् ईश्वर समझकर स्तुति की गई है। अतएव मैक्समूलर साहब का विचार है कि वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद कहना ठीक नहीं है। इसके लिए वे एक नया शब्द गढ़ते हैं 'हिनोथीज्म' (Henotheism)।

वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद माना जाए अथवा 'हिनोथीज्म', वह बहुत कुछ स्तुति-मंत्रों के अर्थ पर निर्भर करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रत्येक देवता को जो सर्वश्रेष्ठ पद दिया गया है उसे यदि अतिशयोक्ति मान लिया जाए, तो वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद समझ सकते हैं। परंतु यदि उन मंत्रों को मुख्यार्थ में लिया जाय (अर्थात् यह मान लिया जाए कि वैदिक ऋषियों ने जो कहा है सो ठीक ही उनका विश्वास था) तो 'हिनोथीज्म' नाम ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह दूसरा मत इस बात से और पुष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में बहुत से ऐसे मंत्र पाये जाते हैं जिनमें सभी देवताओं को एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न रूप या शक्ति कहा गया है। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ... (ऋग्वेद १।१६ ४।४।६।)[१] अर्थात् एक ही सत्ता है जिसे विद्वान भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इतना स्पष्ट वचन पाने पर इस विषय में अधिक शंका नहीं रह जाती कि वैदिक ऋषि सभी देवताओं को मूलतः एक ही समझते थे।

कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक विचार-धारा में एक क्रमिक विकास पाया जाता है। पहले अनेकेश्वरवाद (Polytheism) से प्रारंभ कर, 'हिनोथीज्म' (Henotheism)

एकेश्वरवाद

होते हुए, अंत में एकेश्वरवाद (Monotheism) पर पहुँचा गया है। ऐसा समझना ठीक हो सकता है। परंतु पाश्चात्य आलोचकों को संतुष्ट करने के प्रयास में हमें इस बात को भूल नहीं जाना चाहिए कि भारतीय एकेश्वरवाद अपने सुविकसित रूप में भी इस धारणा को नहीं छोड़ता कि यद्यपि ईश्वर वस्तुतः एक ही है तथापि यह विविध देवताओं के रूप में प्रकट होता है जिनमें किसी भी परमेश्वर के रूप में आराधना की जा सकती है। अभी भी अपने देश में शैव, वैष्णव आदि अनेक संप्रदाय साथ-साथ चल रहे है जिनके मूल में वस्तुतः एक ही परमेश्वर या सर्वव्यापी सत्ता है। वैदिक युग से लेकर अभी तक भारतीय एकेश्वरवाद का यही विश्वास रहा है कि देवता एक ही परमेश्वर के रूप है। अतः एक परमेश्वर में विश्वास रखने के लिए अनेक देवताओं का अस्वीकार करना आवश्यक नहीं समझा जाता था। यह भारतीय एकेश्वरवाद की ही एक विशेषता है जो ईसाई या इस्लाम धर्म में नहीं है। यह विशेषता केवल वैदिक युग में ही नहीं पाई जाती। यह हिंदू धर्म का सनातन विश्वास है।

ऋग्वेद का यह विचार कि सभी देवता ईश्वर के रूप में है। उस व्यापक सिद्धांत पर आश्रित है कि मूल सत्ता एक ही है। वेद में इस सिद्धांत का स्पष्ट रूप से उल्लेख पाया जाता

१ और भी मंत्र देखिए, ऋग्वेद १०।११४।४, १०।१२६, १०।८२ इत्यादि।

है। प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में (जो आजकल भी नैष्ठिक ब्राह्मण प्रतिदिन पाठ करते हैं) वैदिक ऋषि संपूर्ण जगत को एक रूप में देखते हैं। मानवीय इतिहास में प्रायः यही अद्वैत की प्रथम अनुभूति है। इस सूक्त का कुछ भाग नीचे उद्धृत किया जाता है—

पुरुष सूक्त

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥ ऋग्वेद, १-६

अर्थात् पुरुष के सहस्र मस्तक हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पैर हैं। वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दस अंगुल परे भी है। जो कुछ है और जो कुछ होगा सो सब वही पुरुष है। वह अमरत्व का स्वामी है। जितने अन्न से पलनेवाले जीव हैं सबमें वही है। उसकी इतनी बड़ी महिमा थी। और उससे भी बड़ा वह पुरुष था। संपूर्ण विश्व उसका एक पाद (चतुर्थांश) मात्र है; तीन पाद बाहर अंतरिक्ष में है। उसके एक पाद से सर्वभूत व्याप्त हैं और तीन पाद अमृत हैं जो द्युलोक में हैं। वही चारों ओर चराचर विश्व में व्याप्त है।

यहाँ पृथ्वी, स्वर्गलोक, ग्रह-नक्षत्र, देवता, जड़, चेतन सभी पदार्थ एक ऐसे पुरुष के अंग माने गए हैं जो संपूर्ण विश्व में तो व्याप्त है ही, उसके बाहर भी विद्यमान है। जो कुछ है, था, या होगा, सब उसी एक में सन्निहित है। इस मंत्र में केवल विश्व की एकता ही का कवित्वमय चित्र नहीं, बल्कि उस परमपुरुष की भी झलक है जिसकी सत्ता विश्व के भीतर भी है और बाहर भी।

ईश्वर सर्वव्यापी है। किंतु उसकी सत्ता विश्व में ही सीमित नहीं है। वह उससे परे भी है। (देखिए उपर्युक्त मंत्र १ और ३)। पाश्चात्य धर्म-विज्ञान में इसे Panentheism (जिसे हिंदी में निमित्तोपादानेश्वरवाद कह सकते हैं) कहते हैं। Pantheism (सर्वेश्वरवाद) में ईश्वर जगत् का उपादान कारण माना जाता है। परंतु Panentheism में ईश्वर को उपादान और निमित्त दोनों माना जाता है। ईश्वर संपूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है। समस्त विश्व से भी वह बड़ा है, क्योंकि समस्त विश्व उसके अधीन है। वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुँच गई है कि इस एक ही मंत्र में उन्होंने अद्वैत जगदीश्वरवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिए हैं।

वेद के नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जिस मूल सत्ता से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है, उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। यहाँ हमें पहले-पहल उस निर्गुण ब्रह्म के दर्शन होते हैं (जिसे पाश्चात्य दर्शन में Indeterminate Absolute कहते हैं) जो सभी वस्तुओं का अंतस्तत्त्व है किंतु स्वतः अवर्णनीय है।

नासदीयसूक्त

ति का प्रारंभ ऐसे होता है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ऋक् १०.१२६.१

अर्थात् जो कुछ है सो पहले नही था, जो कुछ नहीं है सो भी नहीं था। न पृथ्वी थी, न आकाश था, न उसके परे स्वर्गलोक।

मंत्र के अंत में ऐसे कहा गया है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

अर्थात् यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, उसने इसे बनाया या नहीं बनाया, सबसे ऊँचे लोक में जो इसका अध्यक्ष है वह इसे जानता हो, या वह भी नहीं जानता हो।

ईश्वर और ब्रह्म

मूलतत्त्व को सगुण ईश्वर के रूप और निर्गुण ब्रह्म के रूप में जो कल्पनाएँ की गई हैं, उन दोनों में क्या संबंध है इसे समझने के लिए हमें यह बात देखनी चाहिए कि सगुण ईश्वर की सत्ता भी विश्व में सीमित नहीं मानी गई है अर्थात् वह भी अनंत माने गए हैं। अतएव सगुण और निर्गुण ही एक ही मूल तत्त्व के दो रूप हैं।

इस तरह यद्यपि ऋग्वेद में दर्शन के बहुतेरे महत्त्वपूर्ण तथ्य विद्यमान है तथापि वे काव्य के रूप में हैं। ऋषिगण किस प्रणाली से उन तथ्यों पर पहुँचे है या किन युक्तियों के आधार पर उन्हें मानते हैं, इसका कहीं उल्लेख नही है। दर्शन का आधार मुख्यतः तर्क या युक्ति है। इस दृष्टि से देखा जाए तो वेद वास्तविक अर्थ मे दार्शनिक ग्रंथ नहीं कहे जा सकते। सबसे पहले उपनिषदों में दार्शनिक विचार मिलते है। उनमें आत्मा, ब्रह्म और जगत् के बारे मे विचार पाए जाते हैं। परंतु उनमें भी तर्कयुक्ति कम ही देखने में आती है। कुछ उपनिषद् तो छंदोबद्ध हैं और ऋग्वेद की तरह दार्शनिक तथ्यों पर कवित्वमय उद्‌गार हैं। कुछ गद्यमय उपनिषद् भी ऐसे ही हैं। केवल थोड़े ही से उपनिषद् ऐसे है जिनमें प्रश्नोत्तर के रूप मे शंका-समाधान करते-करते—किसी सिद्धांत पर पहुँचा गया है। परंतु कठोर तर्क-प्रणाली का अभाव होते हुए भी उपनिषदो में एक असाधारण आकर्षण है। इसका कारण है कि उनमे विचारो की उच्चता, अनुभूति की गंभीरता, मनुष्य में निहित सत्य शिवं सुंदरम् की अनुप्रेरणा और भाषा की व्यजना शक्ति ऐसी है, जो प्रतीत होता है कि दिव्य दृष्टि से उन सत्यों के दर्शन हुए हों। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenhauer) उपनिषदों से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने कहा है—"संपूर्ण ससार मे किसी ग्रंथ का अध्ययन उतना कल्याणकारक और उतना शांतिदायक नहीं जितना उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शांति रही है, यही मेरी मृत्यु की भी शांति रहेगी।"

उपनिषदों की कुछ प्रमुख समस्याएँ ये हैं—यह मूल तत्त्व क्या है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमे सब कुछ स्थित रहता है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है? वह कौन-सा सत्य है जिसे जानने से सभी कुछ ज्ञात हो जाता है? वह क्या है जिसके ज्ञान

से अज्ञात ज्ञात हो जाता है ? किस तत्त्व को जान लेने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है ?

उपनिषदों की समस्याएँ

ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? जैसा इन प्रश्नों से ही मालूम होता है, उपनिषद् के रचयिताओं का दृढ़ विश्वास था कि एक सर्वव्यापी सत्ता है जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, और इस तत्त्व के ज्ञान से अमरत्व प्राप्त हो सकता है।

ब्रह्म या आत्मा

इस तत्त्व को कभी 'ब्रह्म', कभी 'आत्मा', कभी केवल 'सत्' कहा गया है। नीचे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं। ऐतरेय[१] और बृहदारण्यक[२] में कहा गया है कि 'पहले आदि में केवल वह आत्मा मात्र था।' छांदोग्य[३] में कहा गया है 'यह सब कुछ आत्मा ही है।' बृहदारण्यक[४] फिर कहता है 'आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।' इसी तरह छांदोग्य[५] कहता है—'आदि में केवल सत् था, दूसरा कुछ नहीं था।' पुनः छांदोग्य[६] और मुंडक में कहा गया है—'यह सब कुछ ब्रह्म है।'[७] इन सब वाक्यों में ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'यह आत्मा ही ब्रह्म है'[८] 'मैं ब्रह्म हूँ'[९]।

आत्मा का विचार और विश्लेषण

उपनिषदों में विचार का केंद्र वैदिक देवताओं से उतर कर मनुष्य के आत्मा पर आ गया है। आत्मा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जिससे बाहरी उपाधियाँ छँट जाएँ और केवल असली तत्त्व रह जाए। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और उनसे उत्पन्न होनेवाले आनंद सबकी समीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि ये सब आत्मा के क्षणभंगुर परिवर्त्तनशील रूप हैं, आत्मा के मूल तत्त्व नहीं। ये सब कोष या बाहरी आवरण मात्र हैं जिनके भीतर असली तत्त्व छिपा रहता है। अर्थात् शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि वास्तविक आत्मा नहीं हैं, वे उसके बाह्य रूप मात्र हैं। सबका मूल आधार आत्म-तत्त्व है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। किसी विषय का जो ज्ञान होता है वह इसी चैतन्य का एक सीमित प्रकाश है। शुद्ध चैतन्य किसी विषय की सीमा से बद्ध नहीं होने के कारण अनंत या सर्वव्यापी है। यही आत्मा है। सत्य, अनंत और ज्ञान-स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सभी भूतों में (*सर्व-भूतात्मा*)

१ ॐ आत्मा वा इदम् एक एव अग्र आसीत् (ऐतरेय १।१)
२ आत्मा एव इदम् अग्रे आसीत् (बृहदारण्यक १।४।१)
३ आत्मा एव इदं सर्वम् (छांदोग्य ७।२५।२)
४ आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् (बृहदारण्यक ४।५।६)
५ सदेव सौम्य इदम् अग्रे आसीत्, एकम् एव अद्वितीयम् (छांदोग्य ६।२।१)
६ सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छांदोग्य ३।१४।१)
७ ब्रह्म एव इदं विश्वम् (मुंडक २।२।११)
८ अयम् आत्मा ब्रह्म (बृहदारण्यक २।५।१९)
९ अहं ब्रह्म अस्मि (बृहदारण्यक १।४।१०)

। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है—आत्मा सभी स्तुओं में निहित है और प्रकट रूप से दिखाई नहीं देता। परंतु जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे अपनी क्ष्म बुद्धि से उसे देख लेते हैं।[1]

इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को सर्वश्रेष्ठ या परा विद्या कहा गया है। और सभी द्याएँ अपरा विद्या (न्यून-कोटिक) हैं। आत्मज्ञान का साधन है, काम, क्रोध आदि वृत्तियों का दमन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह अत्यंत कठिन मार्ग है। जिनमें इतना ज्ञान और दृढ़ संकल्प कि प्रेय (सुखद) का परित्याग कर केवल श्रेय (कल्याणप्रद) का अनुसरण करें, उन्हीं में इसमें सफलता मिल सकती है।

आत्मज्ञान

उपनिषदों का मत है कि कर्मकांड के द्वारा (यज्ञादि कर्मों के संपादन से) जीवन के परम पुरुषार्थ—अमरत्व—की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुंडकोपनिषद् का कहना है कि ये कर्म क्षुद्र नौकाओं के समान हैं जिनके द्वारा भवसागर को पार नहीं किया जा सकता। जो अज्ञानी इन्हें ही श्रेय समझकर इनका अवलंबन करते हैं, वे पुनः जरा-मृत्यु के पाश में फँस जाते हैं।[2] नके द्वारा अधिक-से-अधिक स्वर्ग का सुख कुछ काल के लिए मिल सकता है। जब भोग द्वारा पुण्य का क्षय हो जाता है, तब पुन. मर्त्यलोक में जन्म होता है। हाँ, यज्ञ का महत्त्व व बढ़ता है जब ऐसा ज्ञान हो जाए कि यजमान और यज्ञ-देवता ये दोनों वस्तुतः एक हैं। वल हवन और मंत्रपाठ की सांगोपांग विधियाँ बाह्याडंबर मात्र हैं जो तत्त्वज्ञान से चित अज्ञानियों के लिए हैं। देवताओं के यज्ञ से कहीं बढ़कर आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान है। स आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य क्लेशों का अंत हो सकता है। जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है।

यज्ञादि कर्म अपर्याप्त हैं

उपनिषदों में ब्रह्म को सत् (सब सत्ताओं का मूल) और चित् (चैतन्यों का आधार) साथ-साथ आनंद (सभी सुखों का मूल स्रोत) भी माना गया है। समस्त सांसारिक आनंद उसी आनंद के क्षुद्रकण हैं। समस्त सांसारिक विषय उसी सत्ता के सीमित अंश हैं।[1] जो आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है ह ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य अनुभव कर मुक्ति प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी

आनंदमय ब्रह्म

---

१ एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

—कठोपनिषद् ३।१२

२ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥

—मुंडकोपनिषद् १।२।७

१ देखिए, बृहदारण्यक ४।३।३२

मैत्रेयी को समझाते हैं—'आत्मा सभी आनंदों का मूल स्रोत है। इसका यह प्रमाण कि आत्मा से बढ़कर किसी को और कुछ प्रिय नहीं होता। मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु आत्मीय या आत्मवत् जानकर ही प्रेम करता है। कोई वस्तु स्वतः प्रिय नहीं होती। प इसलिए प्यारी नहीं होती कि वह पत्नी है, पति इसलिए प्यारा नहीं होता कि वह पति पुत्र इसलिए प्रिय नहीं होता कि वह पुत्र है। धन भी स्वतः धन के लिए नहीं चाहा जा ये सब आत्मा ही के लिए प्रिय होते हैं।[१]

आत्मा अपने शुद्ध रूप में आनंदमय है, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मनु जब सुषुप्तावस्था में रहता है, तब शरीर, इंद्रिय, विषय तथा मन से अपना संबंध भूल जा है और अपने प्रकृत रूप में आकर, सुख-दुःख से परे शांत अवस्था को प्राप्त हो जाता।

आधुनिक जीवविज्ञान का मत है कि आत्मरक्षण की प्रवृत्ति सभी जीवों में स्वाभावि है। परंतु प्राणरक्षा या जीवन से इतना प्रेम क्यों होता है? उपनिषदों का कहना है।

विषयानंद और ब्रह्मानंद

जीवन इसीलिए इतना प्रिय है कि यह आनंदमय है। यदि जीवन आनंद नहीं रहता तो इसे कौन चाहता?[२] दैनिक जीवन में जो थो सा आनंद का अंश है, वह अत्यल्प और दुःख से मिश्रित होने पर हमारी जीवित रहने की इच्छा को बनाए रखता है। आत्मा से दूर जाकर सांसारिक विष के पीछे दौड़ते रहने से, अधिक आनंद नहीं मिल सकता। विषयों को भोग करने की वासन ये बेड़ियाँ हमें जकड़ कर सांसारिक बंधन में रखती हैं और जिनसे जन्म, मृत्यु और पुनर्ज का चक्र चलता रहता है। वासनाओं के वेग हमें आत्मा से दूर ले जाते हैं और सांसारि विषयों के अनुरूप हमारे जीवन को निरूपित कर देते हैं। जितना ही हम विषय-वासना परित्याग करते हैं और आत्मा या ब्रह्म के साथ अपनी एकता देखते हैं, उतना ही अधिक परमानंद प्राप्त करते हैं। आत्मा का दर्शन करना अनंत, अमृत, आनंदमय ब्रह्म में मिल जा है। यही ब्रह्मानंद है। इसे प्राप्त कर लेने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। किसी प की कामना शेष नहीं रहती। अतएव कठोपनिषद् का कहना है कि जब मनुष्य का हृ सर्वथा निष्काम या वासना-रहित हो जाता है तब वह इसी जीवन में ब्रह्म में लीन अमरत प्राप्त कर लेता है।[३]

यदि ब्रह्म या आत्मा ही समस्त जगत् का मूल तत्त्व है तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्म जगत् का संबंध किस प्रकार का है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन कि

जगत् की सृष्टि

गया है वह ठीक एक-सा नहीं है। परंतु इस विषय में प्रायः सभ सहमत हैं कि आत्मा (ब्रह्म या सत्) ही जगत् का निमित्त और उपाद कारण दोनों ही है। सृष्टि के आदि के विषय में अधिकांश उपनिषदों का मत कुछ इस प्रका का है—"सबसे पहले (आदि) आत्मा मात्र था।" उसमें संकल्प हुआ—"मैं एक से अने होऊँ। मैं सृष्टि रचना करूँ।" इसके बाद के सृष्टि-क्रम को लेकर मतभेद है। इ

१ देखिए, वृहदारण्यक ४।५।६।
२ देखिए, तैत्तिरीय २।७
३ देखिए, कठोपनिषद्

[उप]निषदों का कहना है कि आत्मा से पहले सूक्ष्मतम भूत आकाश की उत्पत्ति हुई, तदनंतर [अन्]य भूत उत्पन्न हुए। और-और उपनिषदों में और-और तरह के वर्णन पाए जाते हैं।

इन वर्णनों से सृष्टि सत्य मालूम होती है और ईश्वर या परमात्मा वास्तविक सृष्टि-कर्त्ता जान पड़ते हैं। परंतु उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य भी हैं जिनमें कहा गया है कि अनेकता यथार्थ नहीं है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन। जो अनेक को वास्तविक समझता है वह मृत्यु को प्राप्त [हो]ता है। मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति।[1]

[..]त्व और [..]नेकत्व

संसार के पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। उनकी एकता के प्रतिपादन में इस प्रकार [के] दृष्टांत दिए गए हैं—जिस प्रकार सोने से निर्मित कुंडलादि आभूषण वस्तुतः एक ही [(स]ोना मात्र) हैं, अर्थात् सबका मूल-तत्त्व सोना एक ही है, केवल नाम-रूप के भेद से (जो [केव]ल औपाधिक भेद हैं) वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार सभी विषयों का मूल [तत्त्]व एक ही है, उनमें केवल नाम-रूप के भेद हैं।[2] सांसारिक विषयों की अपनी-अपनी [..]क् स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। कहीं-कहीं ब्रह्म (आत्मा) को सृष्टिकर्त्ता नहीं कहकर [अनिर्वच]नीय (अवाङ्मनसगोचर) कहा गया है। वह उपासना का विषय भी नहीं हो सकता। [..]ा केनोपनिषद् में कहा गया है—ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनो से परे है। जो वाक् से [..]ित है, जिससे वाक् का स्वयं उद्गम हुआ है, वही ब्रह्म है, जिसकी उपासना होती है सो [..]् नहीं।[3]

ईश्वर और जगत् के संबंध में दोनों तरह के विचार देखने से स्वभावतः मन में [प्र]श्न पैदा हो जाती है। क्या ईश्वर वस्तुतः सृष्टिकर्त्ता है और अतएव सृष्टि सत्य है? अथवा वस्तुतः कोई सृष्टि नहीं होती और यह विषय-संसार माया या [..]ा सृष्टि सत्य है? मिथ्या आभास मात्र है? क्या ईश्वर सगुण पुरुष है जिनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? अथवा वह निर्गुण ब्रह्म है जो सर्वथा [अज्ञे]य है। उपनिषदों का वास्तविक विचार क्या है? पीछे के वेदांत ग्रंथ इन प्रश्नों का [सम]ाधान करते हैं। जैसे पहले कहा जा चुका है, बादरायण के ब्रह्मसूत्र में श्रुतियों का वास्तविक [अर्थ]ं निर्धारित करने की (और उनका सामंजस्य दिखलाने की) चेष्टा की गई है। परंतु [सूत्र] इतने संक्षिप्त होते हैं कि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जा सकते हैं। पीछे के भाष्यकारों [ने ब्र]ह्मसूत्र और उपनिषदों के अर्थों की अपने-अपने ढंग से विशद व्याख्या की है। इस प्रकार अनेक संप्रदाय बन गए उनमें शंकराचार्य का संप्रदाय सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय [है]। 'वेदांत' से साधारण लोग अधिकतर यही (शंकर का अद्वैतवाद) समझते हैं। यहाँ तक [कि] विदेश के लोग भारतीय दर्शन से भी प्रायः अद्वैत वेदांत ही समझ लेते हैं। शंकर

---

[1] देखिए, कठोपनिषद् २।४।११, बृ० ४।४।१९

[2] देखिए, छांदोग्य ६।१

[3] देखिए, केन १।३-४

मत के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैत ही अधिक परिचित है। ये ही दोनो वेदांत सुप्रसिद्ध संप्रदाय हैं।

(३) सामान्य सिद्धांत

वादरायण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज दोनो मुख्यतः जगत् वि इन मतों का खंडन करते हैं। (१) जो यह मानता है कि भौतिक परमाणु स्व आपस में मिलकर संसार को उत्पन्न करते हैं (२) जो यह म कि अचेतन प्रकृति से स्वभावतः सांसारिक विषयों का विकास है। (३) जिसके अनुसार चेतन और अचेतन ये दो प्रधान त जिनमें पहला जगत् का निमित्त कारण और दूसरा उपादान कारण है (जिससे सृष्टि होती है)। शंकर और रामानुज दोनो इस विषय में भी सहमत हैं कि अचेतन तत्व जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती और द्वैतवाद भी (जिसके अनुसार जड़ और चेतन दो मूल तत्त्वों के सहयोग से सृष्टि होती है) संतोषजनक नहीं। दोनो उपनिषद् के खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि जड़ और चेतन दो पृथक् नहीं हैं, किंतु एक ही मूल सत्ता (ब्रह्म) में आश्रित हैं। इस तरह शंकर और रामानुज अद्वैतवादी (Monists) हैं अर्थात् दोनो एक मूल तत्त्व या ब्रह्म को मानते हैं जो प जगत् में व्याप्त है।

जगत् विषयक विचार

वादरायण जगद्विषयक भिन्न-भिन्न मत-मतातरों की परीक्षा करते हैं। वे और श्रुति-प्रमाण दोनो की सहायता से प्रतिपक्षियों के मतों का खंडन करते हैं। मुख्य प्रतिपक्षियों के खंडन में जो स्वतंत्र युक्तियाँ दी गई हैं उनका संक्षेपतः उल्लेख जाता है।[१]

सांख्य का यह मत कि सत्त्व, रज और तम, इन तीनो गुणों से समन्वित अचेतन से जगत् का विकास होता है, समीचीन नहीं, क्योंकि इस संसार में व्यवस्थित क्रम नियम देखने में आते हैं जिन्हें अचेतन कारणों का आकस्मिक नहीं माना जा सकता। जैसा सांख्य खुद स्वीकार करता है, ज्ञा इंद्रियों, कर्मेंद्रियों और विषयों का यह संसार भिन्न-भिन्न जीवात्म के पूर्व कर्मानुसार फलभोग करने के निमित्त बना है। परंतु जड़ प्रकृति ऐसी सुंदर व्यवस्था कैसे कर सकती है? सृष्टि को उद्देश्यमूलक स्वीकार कर और साथ ही सृष्टि का अस्तित्व अस्वीकार कर सांख्य ने अपने को एक विचित्र स्थिति में डाल दिया है। चे रहित उद्देश्य अबोधगम्य है। बिना किसी चेतन परिचालक के उपाय और उपेय, ग और उद्देश्य का संयोजन संभव नहीं है। सांख्य चैतन्यरहित उद्देश्य का दृष्टांत द हैं कि गाय के थन से बछड़े के निमित्त स्वतः दूध बहने लगता है। परंतु यहाँ इस बा ध्यान नहीं दिया गया कि गाय चेतनजीव है और बछड़े के प्रेम से प्रेरित होकर ही उ दूध बहने लगता है। जड़ पदार्थ के द्वारा किसी जटिल उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले

सांख्यमत का खंडन

१. देखिए, ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद और उनपर शंकर रामानुज-भाष्य।

कोई भी निर्विवाद दृष्टांत नहीं दिया जा सकता । सांख्य जिन पुरुषों को मानता है
निष्क्रिय होते हैं अतएव उनसे भी जगत् की सृष्टि में सहायता नहीं मिल सकती ।

वैशेषिक का परमाणुवाद भी समीचीन नहीं । क्योंकि अचेतन परमाणु इस विलक्षण
से सुव्यवस्थित विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकते । परमाणुओं की प्रेरणा के लिए
वैशेषिक अदृष्ट का सहारा लेता है, परंतु इससे भी समस्या हल नहीं

विक का खंडन

होती, क्योंकि वह भी तो अचेतन है । फिर इस बात का भी समाधान
नहीं मिलता कि सृष्टि-रचना के लिए, पहले-पहल परमाणुओं में क्रिया
उत्पन्न हुई । यदि परमाणुओं में गति होना उनका स्वाभाविक गुण है तो फिर उसका
अंत नहीं होना चाहिए । इस तरह प्रलय कभी नहीं होना चाहिए । वैशेषिक ने
माओं का अस्तित्व भी माना है । परंतु उनमें स्वाभाविक चैतन्य का गुण नहीं माना है ।
आत्मा का शरीर और इंद्रियों से संयोग होता है तभी चैतन्य की उत्पत्ति होती है और
ट के पूर्व ये रहते नहीं । अतएव आत्मा को भी परमाणु का प्रवर्तक या प्रेरक नहीं कहा
सकता ।

ब्रह्मसूत्र में बौद्ध क्षणिकवाद के विरुद्ध भी तर्क उपस्थित किया गया है । क्षणिक-
ुओं में कारणत्व नहीं हो सकता । क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने के लिए पहले कारण
की उत्पत्ति होनी चाहिए और तब उस(कारण) में क्रिया होनी

द्ध क्षणिकवाद खंडन

चाहिए । इस तरह एक क्षण से अधिक उसकी सत्ता रहनी चाहिए जो
क्षणिकवाद के विरुद्ध पड़ता है । यदि क्षणिक तत्त्वों की किसी तरह
त्ति मान भी लेते हैं तो फिर उनका संयोग नहीं बनता क्योंकि बौद्ध मतानुसार कोई
नहीं माना गया है जो इन तत्त्वों को एक साथ मिलाकर अभीष्ट विषयों को उत्पन्न
। चैतन्य स्वयं इस क्षणिक तत्त्वों के संयोग का परिणाम माना गया है । अतः सृष्टि
पूर्व उसकी सत्ता नहीं रहती । इस तरह अचेतन-कारणवादवाली आपत्ति यहाँ भी
स्थित हो जाती है ।

बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध वेदांती मुख्यतः ये युक्तियाँ देते हैं—(१) बाह्य पदार्थों
सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सबको प्रत्यक्ष होते हैं । किसी घट,
पट, या स्तंभ को प्रत्यक्ष करते हुए भी उसे नहीं मानना वैसा ही होगा

द्ध विज्ञानवाद खंडन

जैसे भोजन करते समय रसास्वादन को नहीं मानना । (२) यदि
साक्षात् उपलब्धि का विश्वास नहीं किया जाए तो विज्ञानों (मानसिक
वों या प्रत्ययों) का भी कोई विश्वास नहीं किया जा सकता । (३) यदि यह कहा
ए कि मानसिक प्रत्यय ही भ्रम-वश बाह्य विषय के समान आभासित होते हैं तो इसका
ई अर्थ नहीं निकलेगा, यदि, कोई बाह्य पदार्थ सत्य नहीं माना जाए । नहीं तो यह कहना
ी प्रकार का होगा, जैसे 'देवदत्त वंध्यापुत्र के समान दिखाई देता है' (४) जब तक घट-
आदि भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष विषयों की सत्ता नहीं मानी जाती, तब तक घटज्ञान को पटज्ञान
पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान दोनों में ही है । (५) स्वप्न-विषय और
यक्ष विषयों में महान अंतर है । स्वप्न के विषय जाग्रत् अनुभव से बाधित (खंडित)

होते हैं, परंतु प्रत्यक्ष विषय नहीं। जाग्रत् अवस्था के प्रत्यक्ष विषय तब तक असत्य नहीं कहे जा सकते जब तक वे किसी प्रमाण के द्वारा बाधित (मिथ्या प्रमाणित) नहीं होते। इस प्रकार विज्ञानवाद अथवा शून्यवाद से जगत् की संतोषजनक उत्पत्ति नहीं होती।

शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख मतों के अनुसार जगत् का उपादान कारण पंचभूत और निमित्त कारण ईश्वर है।[1] वेदांत इस मत को नहीं मानता। पहली बात

केवल निमित्तेश्वर-वाद का खंडन

तो यह है कि यह मत वेदमूलक नहीं है। केवल साधारण अनुभव और युक्ति के आधार पर यह मत स्थापित है। ऐसी अवस्था में इसे प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध नहीं पड़ना चाहिए। परंतु ऐसी बात नहीं है, जहाँ तक हमारा अनुभव जाता है, ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय से युक्त शरीर के द्वारा ही चेतन पुरुष भौतिक तत्त्वों पर कोई व्यापार कर सकता है। पुनश्च, उसकी क्रिया किसी उद्देश्य या प्रयोजन से ही प्रेरित होती है। (यथा सुख की प्राप्ति या दुःख का निवारण)। पर ईश्वर को अशरीरी, निर्विकार और पूर्ण माना गया है। ऐसी अवस्था में यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर ने सृष्टि की तो क्यों और कैसे ?

जैसा हम पहले देख चुके हैं, वैदिक युग से ही ईश्वर के दो रूप माने गए हैं। ईश्वर संपूर्ण चराचर जगत में व्याप्त है। परंतु उसकी सत्ता जगत में ही सीमित नहीं है। वह

ईश्वर-विचार

इससे परे भी है। वह विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी। ईश्वर का यह उभयात्मक रूप उपनिषदों[2] और अनुवर्ती वेदांत-साहित्य में पाया जाता है। हाँ, सबों की कल्पना ठीक एक-सी नहीं है। 'ईश्वर सब वस्तुओं में विद्यमान है' इस सिद्धांत को Pantheism (सर्वेश्वरवाद) कहते हैं और वेदांत मत भी सामान्यतः यही समझा जाता है। Pantheism (Pan=all; Theism=God) का शाब्दिक अर्थ है यह मत जिसके अनुसार सब कुछ ईश्वर ही है। परंतु यदि सब कुछ ईश्वर ही है तो यह विचार उठता है कि क्या ईश्वर केवल विश्व ही है अथवा उससे अधिक। जब भेद किया जाता है तब प्रथम मत के लिए सामान्यतः Pantheism (सर्वेश्वरवाद या केवलोपादानेश्वरवाद) शब्द का व्यवहार किया जाता है और दूसरे मत के लिए Paenentheism[3] (निमित्तोपादानेश्वरवाद) का। अतएव इस भेद को स्पष्ट करने के लिए और इस बात का स्मरण रखने के लिए कि वेदांत का ईश्वर केवल विश्व ही नहीं, विश्वातीत भी है, वेदांत के ईश्वरवाद को Panentheism (निमित्तोपादानेश्वरवाद) कहना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उपनिषदों और पश्चात्-कालीन वेदांत-साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द का व्यवहार परम तत्त्व या मूल सत्ता (Ultimate Reality) के अर्थ में भी

'ब्रह्म' और ईश्वर'

किया गया है और सृष्टिकर्ता (Creator) के अर्थ में भी (जिसे उपास्य समझा जाता है)। इस दूसरे अर्थ को जताने के लिए अधिकतर

---

१ इन चारों अवैदिक मतों का उल्लेख रामानुज-भाष्य (२।२।३५) में देखिए।
२ द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे ··············· (बृ० २।३।१)
३ यह शब्द जर्मन दार्शनिक (Krause) का गढ़ा हुआ है।

र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' इन दोनों नामों के व्यवहार
: नहीं समझ लेना चाहिए कि कि ये दो पृथक् सत्ताएँ हैं।

वेदांतियों में इस बात को भी लेकर एक मत है कि ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान श्रुतियों
धार पर ही होता है, युक्ति के द्वारा नहीं। चित्त शुद्ध होने पर महात्माओं को ईश्वर
के दर्शन हो सकते हैं। परंतु प्रारंभ में ईश्वर का जो परोक्षज्ञान होता
र का प्रमाण है यह शास्त्रीय वचनों के प्रमाण से ही। जिस तरह न्याय आदि
ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ
ी हैं, उस तरह वेदांत में नहीं। वेदांत ने युक्तियों के द्वारा यही सिद्ध करने की चेष्टा
: कि ईश्वर के विषय में कोई भी वैदिक मत पर्याप्त नहीं ठहरता और केवल वैदिक
रही सत्य है। वेदांत का यह मत अंधविश्वास-सा जान पड़ता है और बहुधा इसकी
आलोचना भी की गई है। परंतु एक बात विचारणीय है कि बहुत से पाश्चात्य दार्शनिकों
जैसे कांट, लोट्ज़ा वगैरह ने) भी ईश्वर-विषयक प्रमाणों को अपर्याप्त समझा है।
ज़ा ने तो साफ कहा है कि जब तक हम ईश्वर में विश्वास को लेकर आगे नहीं बढ़ें तब
केवल तर्क से कुछ सिद्ध नहीं होता।[१] वेदांत के अनुसार भी यह प्रारंभिक विश्वास
क जीवन या धार्मिक विचार के लिए आवश्यक है। मनुष्य अपने में अपूर्णता का
व कर पूर्णता की ओर अग्रसर होना चाहता है, परंतु अज्ञान के अंधकार में भटकता
ता है। जब शास्त्र के द्वारा उसे ज्ञान का प्रकाश होता है तब ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग
जाता है। उपनिषद् आदि शास्त्र ऋषियों के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूतियों का
है। अतः शंकर कहते हैं—प्रत्यक्षं श्रुतिः। इन्हीं शास्त्रीय वचनों को समझने के लिए
-समाधान के द्वारा तत्त्वार्थ-निरूपण करने के लिए तर्क की आवश्यकता होती है।
केवल विचार की एक पद्धति मात्र है जिसके प्रयोग के लिए कोई आधार चाहिए।
त्रों के द्वारा वही आधार प्राप्त होता है जिस पर हम विचार, तर्क या मनन कर
ते हैं।

वेदांती श्रुति के आधार पर ईश्वर को मान कर चलते हैं, और श्रुति के वचनों की
त्ति और संगति के लिए तर्क का अवलंबन करते हैं। उपनिषदों के द्वारा वे यह ज्ञान
त करते हैं कि ईश्वर अनंत, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सृष्टि-स्थिति और लय का कारण है।
क संप्रदाय अपने-अपने ढंग से ईश्वर को समझने की चेष्टा करता है।

बादरायण के सूत्रों का मुख्य विषय है ब्रह्म (या ईश्वर)। अतएव उसका नाम है
सूत्र। परंतु उनका अधिकारी मनुष्य ही है जो शरीरी जीव है। अतएव उन्हें 'शारीरिक
' भी कहते हैं। इस तरह वेदांत में मनुष्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मनुष्य
ज्ञान और मुक्ति के लिए ही वेदांत-दर्शन की रचना हुई है। परंतु मनुष्य का यथार्थ
रूप क्या है ? उपनिषदों का कहना है कि ब्रह्म (ईश्वर) से भिन्न मनुष्य की कोई पृथक्
ा नहीं। शंकर और रामानुज दोनों को यह मत मान्य है। परंतु जीव ब्रह्म में ठीक
ा संबंध है इस विषय को लेकर दोनों में मतभेद है।

देखिए, Lotze-Outlines of a Philosophy of Religon, pp 8–10

२. शंकर का अद्वैत

(१) जगत्-विचार

उपनिषदों में एक ओर सृष्टि का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर नाना विषयात्मक संसार को मिथ्या कहा गया है। इन दोनो बातों का सामंजस्य कैसे किया जाए ? यदि सृष्टि को सत्य मानते हैं तो फिर नानात्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? शंकर इस समस्या का समाधान इस प्रकार करते हैं। उपनिषदों की सामान्य विचार-धारा और दृष्टिकोण को देखते हुए सृष्टि की बातें उन्हें अनमेल सी जान पड़ती हैं। यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विकार है तो फिर वह सृष्टिकर्त्ता कैसे हो सकता है ? यदि उसका कर्तृत्व सत्य है तो फिर वह निर्गुण या अविकारी कैसे ? ये दोनो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। शास्त्रों में यह बात कही गई है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि को सत्य मान लिया जाए, तो यह भी समझ में नहीं आ सकता। यदि जगत् सत्य है तो फिर यह तिरोहित कैसे हो जाता है ? ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर केवल मिथ्याज्ञान (सत् में असत् की प्रतीति) नष्ट हो सकता है। जो सत् है सो कैसे नष्ट होगा ? यहाँ शंकर को जगत् के रहस्य की एक कुंजी मिल जाती है। यदि संसार की तुलना एक स्वप्न या भ्रम से की जाए, तो उसकी सृष्टि और पीछे तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसका ति[illegible] ये दोनो बातें समझ में आ सकती हैं। उपनिषदों में भी इसका संकेत पाया जाता है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि एक ही इंद्रिय माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं।[1] बृहदारण्यक में भी यही बात कही गई है।[2] श्वेताश्वतर में भी स्पष्ट कहा गया कि ब्रह्म की माया ही प्रकृति है।[3]

जगत् का मिथ्यात्व

माया ईश्वर की शक्ति है। जिस तरह अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है उसी तरह माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर ये चित्रपूर्ण सृष्टि की अद्भुत लीला दिखलाते हैं। [illegible] हैं, परंतु जो तत्त्वदर्शी हैं वे इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म-मात्र उन्हें सत्य जान पड़ता है।

माया और ईश्वर

जीवन में साधारणतः किस प्रकार भ्रम होते हैं इसे यदि हम समझने की कोशिश करें तो यह देखने में आता है कि वास्तविक आधार या अधिष्ठान का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे, रस्सी का यथार्थ ज्ञान नहीं होने पर उसमें साँप का भ्रम होता है। यदि हम रस्सी को रस्सी जानते, तो उसके विषय में भ्रम नहीं होता। परंतु केवल रस्सी का अज्ञान-मात्र ही भ्रम का कारण

भ्रम और अविद्या

१ देखिए, ऋग्वेद ६।४७।१८

२ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते — बृ० २।५।१९ (इसपर शांकर-भाष्य देखिए)।

३ मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे० ४।१० (इसपर शांकर-भाष्य देखिए)।

है। क्योंकि वैसी हालत में जिसे रस्सी का कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ सर्वदा साँप ही साँप देखा करता। जिस अविद्या के कारण भ्रम उत्पन्न होता है वह केवल अज्ञान का 'आवरण' ही नहीं करती, उस पर 'विक्षेप' भी कर देती है। आवरण का है यथार्थ स्वरूप को ढँक देना। विक्षेप का अर्थ है उसपर दूसरी वस्तु का आरोप कर । ये दोनो अविद्या या अज्ञान के कार्य हैं, जिनसे हमारे मन में भ्रम पैदा होता है।

जब कोई बाजीगर जादू का खेल दिखाकर हमें भ्रम में डाल देता है (जैसे, एक ही के को अनेक सा बनाकर दिखा देता है) तब दर्शक तो भ्रम में पड़ जाते हैं परंतु स्वयं बाजीगर उस भ्रम में नहीं पड़ता। हममें वह भ्रम या अविद्या अज्ञान के कारण पैदा होता है जिसके कारण वस्तु का स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान में दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है। यदि कोई दर्शक एक सिक्के का असली रूप ही देखता रहे तो जादू की छड़ी उसे भुलावे में नहीं डाल ी; यह तो हमारी दृष्टि से हुआ। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की है, जिससे उसके दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वयं जादूगर नहीं। इसी तरह सृष्टि की भी दो तरह से समझी जा सकती है। ईश्वर के लिए यह केवल लीला की इच्छा है। र स्वयं उस माया से मुग्ध नहीं होता।[1] हमलोग जो अज्ञानी हैं उसे देखकर भ्रम में जाते हैं और एक ब्रह्म के बदले अनेक विषय देखने लग जाते हैं। इस तरह माया हमलोगों ए भ्रम का कारण है। इस अर्थ में माया को अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। इसके र्य हैं—जगत् के आधार, ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देना और उसे संसार के रूप भासित करना। इस विक्षेप-शक्ति के कारण माया को भावरूप अज्ञान कहते हैं। का आरंभ कभी किसी काल में हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अतः माया को अनादि हैं। जो इने-गिने ब्रह्मज्ञानी संसार की भूलभुलैया में नहीं पड़ जगत् को ब्रह्ममय हैं उनके लिए न कोई भ्रम है न माया। उनके लिए ईश्वर भी मायावी नहीं।

रामानुज श्वेताश्वतर का अनुसरण करते हुए माया का भी उल्लेख करते हैं, परंतु से वह ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति को समझते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्त्व को। शंकर भी माया को ब्रह्म की शक्ति समझते हैं। परंतु उनके अनुसार यह शक्ति ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं (जैसा रामानुज मानते हैं), परंतु एक इच्छा-मात्र है जिसको वे चाहें तो परित्याग कर सकते हैं। जो ज्ञानी हैं और संसार-ग-मरीचिका के फेर में नहीं पड़ते उन्हें ईश्वर को मायावी समझने का कोई प्रयोजन । शक्तिरूप में माया ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। शक्ति ब्रह्म से उसी तरह अभिन्न और च्छेद्य है जैसे दाहकता अग्नि से और संकल्प मन से। जब शंकर प्रकृति को माया कहते वे उनका अर्थ यही होता है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए र की प्रकृति (आदि या मूल कारण) है जो इसे (संसार को) देख रहे हैं। अतएव और रामानुज का भेद संक्षेप में यह है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म में अवस्थित अचित्

:के मत में

[1] देखिए, ब्रह्मसूत्र २।१।६ पर शांकर-भाष्य।

तत्त्व में (और इसलिए ब्रह्म में भी) वास्तविक परिवर्तन होता है। शंकर का मत है कि ब्रह्म में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता।

परिणाम और विवर्त

किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे रस्सी का सांप के रूप में दिखाई पड़ना) विवर्त कहलाता है, और वास्तविक विकार (जैसे दूध का दही बन जाना) परिणाम। अतएव शंकर का उपर्युक्त मत विवर्तवाद कहलाता है। इसके विपरीत सांख्य का मत (अर्थात् प्रकृति वस्तुतः बदल कर जगत् के रूप में परिणत हो जाती है) परिणामवाद कहलाता है। रामानुज का मत भी एक तरह का परिणामवाद है, क्योंकि वे मानते हैं कि ब्रह्म का अचित् अंश ही संसार के रूप में परिणत होता है। विवर्तवाद और परिणामवाद दोनो इस बात में सहमत हैं कि कार्य पहले ही से अपने उतपादान कारण में विद्यमान रहता है। अतएव दोनो ही सत्कार्यवाद (अर्थात् कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में सत् या विद्यमान था वह कुछ नई वस्तु नहीं है, इस मत) के अंदर आते हैं।[1]

अध्यास

जहां जो वस्तु नहीं है उसे वहां कल्पित करना अध्यास कहलाता है। वर्तमान मनोविज्ञान (Psychology) की भाषा में इसे एक तरह का बहिरारोप (Projection) कहेंगे। जहां-जहां भ्रांत प्रत्यक्ष (Illusion) होता है वहां-वहां ऐसा अध्यास (Projection) होता है। जिस तरह रज्जु में सर्प अध्यस्त हो जाता है उसी तरह ब्रह्म में जगत् अध्यस्त हो जाता है।

उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन आता है वह इस अर्थ में कि ब्रह्म की माया में संसार बन जाता है। शंकर इसे मानते हैं कि माया को कहीं-कहीं अव्यक्त या प्रकृति भी कहा गया है जो सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणों से युक्त है। परंतु इसे सांख्य की प्रकृति नहीं समझ लेना जो स्वतंत्र मानी जाती है।[2] वेदांत की प्रकृति ईश्वर की माया है और उन्ही पर सदा आश्रित है।

पंचीकरण

उपनिषदों की तरह वेदांत-ग्रंथों में भी इस बात को लेकर मतैक्य नहीं है कि ब्रह्म की माया से किस प्रकार और किस क्रम से जगत् के विषयों का आविर्भाव हुआ है। सर्व प्रचलित मत यह है कि आत्मा या ब्रह्म से पहले पांच सूक्ष्म भूतों का इस क्रम से आविर्भाव होता है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इन पांचो का पुनः पांच प्रकार से संयोग होता है जिनसे पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। जब पांच सूक्ष्म भूतों का संयोग इस अनुपात से होता है कि आधे में आकाश तत्त्व और बाकी आधे में शेष चारो तत्त्व रहते हैं (अर्थात्

---

१ विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः
वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे
स्वयं समायाति विवर्तवादः॥
— संक्षेप शारीरिक २।६१

२ देखिए, ब्रह्मसूत्र १।४।३ और श्वेताश्वतर ४।१४।११ पर शांकर-भाष्य।

ाकाश+$\frac{1}{2}$ वायु+$\frac{1}{8}$ अग्नि+$\frac{1}{8}$ जल+$\frac{1}{8}$ पृथ्वी) तब स्थूल आकाश का प्रादुर्भाव ा है। इसी तरह शेष चारों स्थूल भूत भी उत्पन्न होते हैं। जैसे स्थूल वायु-भूत की ति में सूक्ष्मभूतों का संयोग इस प्रकार होता है—+$\frac{1}{2}$ वायु+$\frac{1}{8}$ आकाश $\frac{1}{8}$ अग्नि+$\frac{1}{8}$ जल+$\frac{1}{8}$ पृथ्वी) । इस क्रिया को 'पंचीकरण' कहते हैं ।

मनुष्य का सूक्ष्म शरीर भूतों से बना है और स्थूल-शरीर (तथा अन्यान्य सांसारिक ग्य) स्थूल भूतों से (जो पांच सूक्ष्म तत्त्वों के संयोग से बनते हैं) । शंकर-सृष्टि के ी क्रम को मानते हैं। परंतु वे इस समस्त प्रक्रिया को विवर्त्त या अध्यास मानते हैं।

ांकर मत की विशेषता

शंकर के इस विवर्त्तवाद में कई गुण हैं । एक तो यह कि शास्त्रीय वचनों की संगत ाख्या इस मत में हो जाती है । दूसरे, सृष्टि का अधिक युक्ति-संगत कारण यह बतलाता है। यदि ऐसा माना जाए कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है और अचेतन प्रकृति जैसी किसी अन्य वस्तु को लेकर जगत् की रचना करते हैं, तब ईश्वर के अतिरिक्त उस दूसरी वस्तु की सत्ता भी माननी पड़ती है और इस तरह ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता नहीं रह जाते। उनकी असीमता नष्ट हो जाती है। परंतु यदि उनकी प्रकृति को सत्य भी मानते और ईश्वर में आश्रित भी, और इस संसार को उसका वास्तविक परिणाम मानते हैं तो एक दुविधा उपस्थित हो जाती है ।[1] प्रकृति या तो ईश्वर का एक अंग मात्र है अथवा संपूर्ण ईश्वर से अभिन्न है। यदि पहला विकल्प मान लिया जाए (जैसा रामानुज मानते हैं) तो यह आपत्ति आ जाती है कि ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों की तरह सावयव है और अतएव उन्हीं की तरह विनाशी सिद्ध हो जाता है । यदि दूसरा विकल्प (अर्थात् प्रकृति संपूर्ण ईश्वर से अभिन्न है) माना जाए तो यह बाधा उपस्थित होती है कि तब प्राकृतिक विकास का अर्थ हो जाता है संपूर्ण ईश्वर का जगत् के रूप में परिणत हो जाना । वैसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि होने के उपरांत कोई ईश्वर नहीं रहता । यदि ईश्वर में सचमुच विकार होता है तो वह विकार चाहे आंशिक हो या पूर्ण, ईश्वर को किसी हालत में नित्य निर्विकार नहीं कहा जा सकता। और, तब वह ईश्वर कहलाने के योग्य नहीं रहता । विवर्त्तवाद को मान लेने पर ये कठिनाइयां दूर हो जाती हैं । क्योंकि विकार आभास मात्र है, वास्तविक परिवर्त्तन नहीं है।

इन कठिनाइयों का अनुभव रामानुज ने भी किया है। परंतु उनका विचार है कि सृष्टि का रहस्य मानव-बुद्धि के परे है और शास्त्रों में जो सृष्टि का वर्णन दिया गया है, वही हमें मान्य होना चाहिए । रही कठिनाइयों की बात । सो एक बार जब हम ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और विचित्र-सृष्टिकारी मान लेते हैं तो उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं रह जाता है[2]। शंकर भी यह मानते हैं कि बिना श्रुति की सहायता से, केवल तर्क के सहारे,[3] सृष्टि का रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता । परंतु वे कहते हैं कि स्वयं श्रुतियों में ही

१ देखिए, ब्रह्मसूत्र २।१।२६।२८
२ देखिए, श्रीभाष्य, २।२।२६-२८ और १।१।३
३ देखिए, शांकर-भाष्य २।१।२७

एक से अनेक आभासित होना बतलाया गया है। शास्त्र-ज्ञान के अनुसार हम अपनी तर्क-बुद्धि का सहारा लेकर अपने जीवन के साधारण भ्रम के अनुभवों से इस सृष्टि-रूपिणी माया के रहस्य को यथासंभव समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

(क) विवर्त्तवाद की समर्थक युक्तियाँ

विवर्त्तवाद के पक्ष में शंकर की युक्तियाँ, और उनका माया, अविद्या तथा अध्यास-विषयक सिद्धांत—ये सब अद्वैतवाद [illegible]
विषयक अपरोक्ष अनुभूति में विश्व [illegible]
जगत् का वास्तविक रूप समझना [illegible]
को बहुत अधिक मूल्यवान समझें [illegible]
ग्रंथ लिखे हैं (जैसे, तत्त्वप्रदीपिका या चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, खंडनखंडखाद्य) उनमें ऐसी ऐसी सूक्ष्म और चमत्कृत युक्तियाँ हैं जिनकी गहराई को पाश्चात्य दर्शन के गंभीर ग्रंथ भी शायद ही पा सकते हैं। वेदांत का मूल है श्रुति या अपरोक्ष अनुभूति। तथापि वह इस बात को नहीं भूलता कि जब तक मनुष्य की तर्क-बुद्धि संतुष्ट नहीं होती और सहज अनुभव के आधार पर युक्ति द्वारा उसे कोई बात समझ में नहीं आ जाती तब [illegible] उच्चतम अपरोक्ष अनुभूति को भी वह नहीं मान सकता। वेदांत के विद्यार्थी को अद्वैतवाद के इस स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए नीचे यह दिखाया जाता है कि शंकर सामान्य अनुभव को तर्क की कसौटी पर कसकर किस तरह अपने मत की स्थापना करते हैं—

(१) किसी कार्य और उसके उपादान कारण में क्या संबंध है, यदि इसकी सूक्ष्म विवेचना की जाए तो ज्ञात होता है कि कार्य कारण से भिन्न वस्तु नहीं है। मिट्टी का बर्तन मिट्टी के अलावे और कुछ नहीं। सोने का गहना सोना मात्र है। पुनः कार्य अपने उपादान-कारण से अविच्छेद्य है। उसके बिना वह नहीं रह सकता। हम मिट्टी से बर्तन को पृथक् नहीं कर सकते न सोने से गहने को अलग कर सकते हैं। अतएव ऐसा समझना गलत है कि कार्य एक नई चीज है जो पहले नहीं थी और अब हुई है। तत्त्वतः वह सर्वदा अपने उपादान कारण में विद्यमान थी। वस्तुतः हम अभाव पदार्थ से उत्पन्न होने की (असत् से सत् होने की) कल्पना भी नहीं कर सकते। द्रव्य का केवल रूपांतर होना (एक रूप से दूसरे रूप में आना) हम सोच सकते हैं। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति संभव होती तो बालू से भी तेल निकल सकता, न कि केवल तिल आदि वस्तुओं से। निमित्त-कारण (जैसे तेली, या कुम्हार या सोनार) की क्रिया से किसी नए द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। अतएव कार्य को कारण से अनन्य और उसमें पूर्व से विद्यमान जानना चाहिए।[१] कार्य कारण की ही अवस्थामात्र है।[२]

सत्कार्यवाद

१ देखिए ब्रह्म-सूत्र २।१।१४-२०, छांदोग्य ६।२, तै० २।६, बृ० १।२।१, गीता २।१६ पर शांकर-भाष्य।

२ कारणस्य एव संस्थानमात्रं कार्यम्।
—ब्र० सू० २।२।१७ पर शांकर-भाष्य।

इन युक्तियों के आधार पर शंकराचार्य सत्कार्यवाद का अवलंबन करते हैं। सांख्य
ी इसी मत का अनुयायी है। परंतु शंकर का कहना है कि सांख्य सत्कार्यवाद का पूरा
तत्त्व नहीं समझ पाता। क्योंकि सांख्य का मत है कि यद्यपि कार्य अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है तथापि उपादान में वास्तविक विकार का परिणाम होता है, क्योंकि वह नया रूप धारण करता है। इसका अर्थ यह है कि जो आकार-असत् था वह सत् हो
ाता है। इस तरह सत्कार्यवाद का सिद्धांत टूट जाता है। यदि इस सिद्धांत (सत्कार्यवाद)
ा आधार पक्का है तो हमें उसको सर्वथा मानने को भी तैयार रहना चाहिए और
े मत का अवलंबन नहीं करना चाहिए जिससे यह सिद्धांत भंग हो जाए।

रिणामवाद का
डन

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कार्य में जो एक नया आकार होता है, इस प्रत्यक्ष
ुत को कैसे अस्वीकार किया जाए। शंकर प्रत्यक्ष को अस्वीकार नहीं करते, केवल उसका
ार्य तत्त्व क्या है, उसीका अनुसंधान करते हैं। क्या सांख्य का यह समझना ठीक है कि
ाकार का परिवर्त्तन वास्तविक परिवर्त्तन है? यह तब ठीक होता जब आकारकी अपनी
लग सत्ता होती। परंतु सूक्ष्म विवेचना करने से ज्ञात होता है कि आकार द्रव्य या उपादान
की एक अवस्था मात्र है जो उस (द्रव्य) से अविच्छेद्य है। उसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आकार की जो कुछ सत्ता है वह द्रव्य या वस्तु ही को लेकर। अतएव आकार या आकृति के परिवर्त्तन को देखकर उसे वास्तविक परिवर्त्तन समझना *ठीक नहीं*। इसके विपरीत, यह देखने में आता है कि आकारिक
रिवर्त्तन होने पर भी कोई वस्तु वही कही जाती है। जैसे, देवदत्त सोते, उठते या बैठते
ए भी देवदत्त ही कहा जाता है। यदि आकार-परिवर्त्तन का अर्थ वास्तविक विकार
ोता तब यह बात कैसे होती?[१]

ाकार परिवर्त्तन
ास्तविक विकार
हीं है

इसके अतिरिक्त यदि आकार या और किसी गुण की द्रव्य से पृथक् सत्ता मान ली
ाए तो फिर गुण में और द्रव्य में कैसे संबंध होता है, यह समझ में नहीं आ सकता। क्योंकि
दो पृथक् सत्ताओं में बिना किसी वस्तु की सहायता से संबंध स्थापित नहीं हो सकता। अब यदि हम इस तीसरी वस्तु की कल्पना करते हैं तो उसका पहली और दूसरी वस्तु से संबंध जोड़ने के लिए चौथी और पाँचवीं वस्तुओं की भी कल्पना करनी पड़ेगी। फिर उन चौथी
ौर पाँचवीं का अपनी-अपनी अपेक्षित वस्तुओं से संबंध जोड़ने के लिए भी उसी प्रकार
न्य *संबंधों की कल्पना करनी पड़ेगी*। इस तरह अनवस्थादोष का प्रसंग आ जाएगा।
तएव गुण और द्रव्य में उस तरह की संबंध-कल्पना करने से हम पार नहीं पा सकते।
ंक्षेप में यह कहिए कि गुण और उसके द्रव्य में पार्थक्य की कल्पना करना अयुक्तिसंगत है।
ाकार द्रव्य से भिन्न सत्ता नहीं है। अतएव यदि द्रव्य वही कायम रहे तो केवल आकार-
रिवर्त्तन को वास्तविक परिवर्त्तन नहीं कहा जा सकता।

ाकार से द्रव्य
ृथक् नहीं है

---

[१] देखिए, ब्रह्म-सूत्र २।१।१८ पर शांकर-भाष्य

हम देख चुके हैं कि कोई कार्य उत्पन्न होता है, तब द्रव्य में विकार नहीं आता। कारण-कार्य का संबंध वास्तविक परिवर्तन सूचित नहीं करता। और जो परिवर्तन होता है वह कारण के ही द्वारा। अतएव वस्तु का विकार नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि हम विकारों को देखते हैं तथापि बुद्धि उन्हें सत्य नहीं मान सकती। अतएव उनका जो प्रत्यक्ष होता है उसे प्रत्यक्षाभास ही समझना चाहिए। हमें आकाश नील दीख पड़ता है, सूर्य में गति दिखलाई पड़ती है, परंतु हम इन सब बातों को सत्य नहीं मानते, क्योंकि वे युक्ति के द्वारा असत्य प्रमाणित हो जाती हैं। ऐसी प्रत्यक्ष किंतु असत्य घटना को आभास कहते हैं, जो वास्तविक सत्ता नहीं है। इसलिए सभी विकारों को आभास-मात्र समझना चाहिए, वास्तविक सत्य नहीं। इस तरह हम केवल युक्ति द्वारा भी विवर्तवाद पर पहुँच जा सकते हैं।[1] इसके अनुसार हम जो परिवर्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र है। इसी को शंकर 'अध्यास' कहते हैं। इस तरह की मिथ्या कल्पना का कारण अविद्या है जो हमें भ्रम में डाल देती है और असत् में सत् का आभास कराती है। इसको शंकर अज्ञान, अविद्या या माया कहते हैं। इसी कारण संसार की प्रतीति होती है।

विवर्तवाद

(२) यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह परिवर्तनशील संसार आभास-मात्र है तो वह कौन-सी वस्तु या पदार्थ है जो भिन्न-भिन्न विषयों के रूप में हमें आभासित होती है। सामान्यतः हम उसीको द्रव्य कहते हैं जो कुछ गुणों का आश्रय होता है। इस अर्थ में घट या पट द्रव्य है। परंतु हम देख देख चुके हैं कि घट से पृथक् उसके रूप आदि गुणों की सत्ता नहीं होती और घट की सत्ता उसके उपादान कारण (मृत्तिका) से भिन्न नहीं होती। यहाँ मृत्तिका ही सत्य या वास्तविक द्रव्य है और घट उसका एक रूप या आकार मात्र है। परंतु मृत्तिका स्वयं विकार को प्राप्त होनेवाली वस्तु है। और उसका मृत्तिका-भाव नष्ट हो जा सकता है। अतएव इसे भी यथार्थ वस्तु या पदार्थ नहीं कह सकते।[2] यह घट की अपेक्षा अधिक स्थायी जरूर है पर यह भी किसी अन्य द्रव्य का एक रूप मात्र है जो द्रव्य उस मृत्तिका के सभी विकारों में विद्यमान रहता है, और मृत्तिका के आधार-भूत कारण में भी वर्तमान रहता है और मृत्तिका का नाश हो जाने पर उसके परिणाम रूप द्रव्यांतर में भी। इस तरह यदि सभी 'द्रव्य' नामधारी पदार्थ विकारी हैं तो वास्तविक द्रव्य वह जो सभी विषयों में एक-सा बना रहता है।[3] हम देखते हैं कि

मूल तत्त्व या सत्ता

---

१ सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥

—वेदांतसार।

२ वर्तमान भौतिकविज्ञान (Physics) भी कहता है कि रसायन शास्त्र (Chemistry) जिन्हें मूल-भूत (Element) कहता है कि ये भी वस्तुतः अविकारी नहीं हैं। Electron और Proton के संयोग-विशेष बने होने के कारण उनका भी दूसरी वस्तुओं में रूपांतर हो सकता है।

३ एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः सः परमार्थः—शांकर-भाष्य २।१।११

सत्ता' (Existence)—सभी विषयों में सामान्य है। प्रत्येक विषय में—चाहे उसका रूप कुछ भी हो—'सत्ता' देखने में आती है। अतएव इसकी सत्ता को विषय-संसार मूल द्रव्य या उपादान कारण समझना चाहिए।

जब हम अपनी परिवर्तनशील मनोवृत्तियों पर ध्यान देते हैं तब वहाँ भी देखते हैं कि प्रत्येक भाव या विचार का विषय चाहे जो कुछ हो, उसमें सत्ता तो अवश्य ही रहती है। भ्रमात्मक विचार का विषय सत्य नहीं होता, तो भी वह विचार अवगति (Idea) के रूप में तो अवश्य ही सत् (Existent) है।[1] सुषुप्तावस्था या मूर्च्छावस्था निर्विषयक होने पर भी सत् होती है।[2] इस तरह सत्ता एक अव्यभिचारी वस्तु है जो वाह्य और आभ्यंतरिक सभी अवस्थाओं में अनुगत रहती है।[3] अतएव इसी सत्ता को मूल-द्रव्य या उपादान कारण मानना चाहिए। सभी वाह्य विषय या आभ्यंतरिक वृत्तियाँ इसी सत्ता के नाना रूप हैं।

सत्ता सभी में अनुगत है

इस तरह हम देखते हैं कि शुद्ध सत्ता जो समस्त संसार का मूल कारण है नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार है, भिन्न-भिन्न भागों में होने पर भी यथार्थतः निरवयव है, सान्त विषयों मे भासमान होने पर भी वस्तुतः अनंत है। शंकर इस अनंत, निर्विशेष सत्ता को ही संसार का मूल तत्व या उपादान कहते हैं। वह इसी सत्ता को 'ब्रह्म' कहते हैं।

सत्ता स्वयं प्रकाश है

(३) इस ब्रह्म को चेतना सत्ता माना जाए या अचेतन? साधारणतः हम वाह्य विषयों को अचेतन और अपने मन की आभ्यंतरिक वृत्तियों को चेतना समझते हैं। परंतु चैतन्य की कसौटी क्या है? मन की वृत्ति को हम चैतन्य कहते हैं क्योंकि उनका अस्तित्व स्वय प्रकाश है। परंतु जब हम वाह्य संसार को देखते हैं तो उसका अस्तित्व भी स्वयं अपने को प्रकाशित करता है। यह 'भाति' या प्रकाश की शक्ति वाह्य और आभ्यंतरिक दोनो पदार्थों में पाई जाती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि इन दोनो पदार्थों में जो अनुगत सामान्य तत्व-सत्ता है वह स्वय प्रकाशक है अर्थात् उसमें अपने को प्रकट करने का स्वाभाविक गुण है। अतएव ब्रह्म को स्वयं प्रकाश चैतन्य-स्वरूप मानना अधिक समीचीन है। सूक्ष्मतया विचार करने से विदित हो जाएगा कि प्रकाश या भान ही सत् पदार्थ को असत् से पृथक् करता है। जो असत् है (जैसे वंध्यापुत्र) वह क्षण भर के लिए भी अपने को प्रकट नहीं कर सकता।

यहाँ दो आपत्तियाँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि कुछ सत् पदार्थ भी दिखाई नहीं देते और दूसरी यह कि असत् पदार्थ भी (जिनका अस्तित्व नहीं है) दिखाई देते हैं (जैसे स्वप्न या मृगमरीचिका आदि भ्रमों में)। प्रथम आक्षेप का यह उत्तर है कि सत् पदार्थो के अप्रत्यक्ष या अप्रकाश का कारण है प्रकाश के मार्ग में बाधा। (जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश

१ देखिए, ब्रह्मसूत्र २।१।१४ पर शांकर-भाष्य।
२ देखिए, छांदोग्य ६।२।१ पर शांकर-भाष्य।
३ इससे मिलते-जुलते मत के लिए Mc Taggart The Nature of Existence देखिए।

होते हुए भी बादलों के कारण छिप जाता है, अथवा स्मृति में बाधा उपस्थित होने पर कोई अनुभूत विषय भी प्रकाशित नहीं होता)।[1] दूसरे आक्षेप का उत्तर यह है कि भ्रम के अधिष्ठान में भी कोई सत्ता अवश्य रहती है और उसीका हमें आभास होता है। इस तरह सत्ता का अर्थ है स्वयं-प्रकाशकता अथवा चैतन्य।

(४) इस सिद्धांत की पुष्टि एक दूसरी दृष्टि से भी होती है। जहाँ-जहाँ सत्ता प्रकाश होता है वहाँ-वहाँ तद्विषयक बुद्धि भी विद्यमान रहती है। जैसे, एक बाह्य 'मृत्तिका' (मिट्टी) भी मृद्बुद्धि ('यह मिट्टी है' ऐसी बुद्धि) के रूप प्रकाशित होती है। जब हम इस मृत्तिका को घट के रूप में परि देखते हैं तब हमारी मृद्बुद्धि घटबुद्धि ('यह घट है' ऐसी बुद्धि) बदल जाती है।[2] काल्पनिक विषय उस विषय की बुद्धि मात्र भ्रम का विषय भी केवल तद्विषयकबुद्धि मात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ प्रकार की सत्ता रहती है वहाँ बुद्धि भी अवश्य ही विद्यमान रहती है।

शुद्ध सत्ता का स्वरूप

इस तरह अनेक युक्तियों से शंकर श्रुति के इस वाक्य का मंडन करते हैं कि का आधार ब्रह्म है जो शुद्ध सत्ता एवं चैतन्य-स्वरूप है और स्वतः निर्विकार होते हुए अपने को नाना रूपों में प्रकट करता है।

ब्रह्म (सत्ता या चैतन्य) हमारी सभी अनुभूतियों में या सभी भासमान विषयों वर्तमान है। किंतु उसके रूप नाना होते हैं। और, एक प्रकार की प्रतीति (जैसे या भ्रम) दूसरे प्रकार की प्रतीति (जैसे जाग्रत् अवस्था के अनुभव) से कट जाता है। जो प्रतीति बाधित (या खंडित) होती है वह कम सत्य मानी जाती है और जिस प्रतीति के द्वारा वह होती है वह अधिक सत्य। परंतु इन सब बाध्य-बाधक प्रतीतियों रहते हुए भी शुद्ध सत्ता या चैतन्य बाधित नहीं होता। जब हम रज्जु में आभासित असत्य समझते हैं तब केवल सर्पाकार सत्ता का निषेध करते हैं, सत्ता-मात्र का नहीं। तरह जब हम स्वप्न के विषय को मिथ्या समझते हैं तब भी हम उस अनुभूति का सत्ता को मानते हैं। और जब हम ऐसे देश-काल की कल्पना करते हैं भी कम-से-कम उस देश-काल की सत्ता तो मानते ही हैं। इस तरह रूप में) प्रत्येक विचार में व्याप्त है। अतः सत्ता के अभाव या निषेध जा सकती। यह सर्वव्यापी शुद्ध सत्ता अथवा चैतन्य (सत् चित्) ही जिसके बाधित (खंडित) होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव शंकर पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। इस तरह यह युक्ति द्वारा सत्ता का यह लक्षण निर्धारित हैं—जो प्रत्येक देश, काल और अवस्था में अबाधित रहे।[3]

शुद्ध सत्ता या ब्रह्म अबाधित है

---

१ देखिए, बृ० १।२।१ पर शांकर-भाष्य

२ देखिए, छा० ६।२।२ पर शांकर-भाष्य

३ यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्यापि अबाध्यमानत्वात् ।—शांकर-भाष्य २।१।१४

किसी विशिष्ट रूप की सत्ता (जिसकी हमें प्रतीति होती है) के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में वह किसी दूसरी प्रतीति से बाधित नहीं हो जाएगी। उसके बाधित होने की संभावना बराबर बनी रहती है। यह भी एक कारण है जिससे शंकर कहते हैं कि ऐसा विषय (अथवा संसार जो इन समस्त विषयों का समूह है) अबाध्य या अखंडनीय सत्ता का पद नहीं प्राप्त कर सकता। उपर्युक्त कारणों से वह बहुधा यों लक्षण करते हैं कि जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओं में रहे वह सत् और जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओं में नहीं रहे वह असत् है। अर्थात् अनुवृत्ति सत् का लक्षण है और व्यभिचार असत् का।[1]

सत् असत् की परिभाषा

इस तर्कशैली को ध्यान में रखते हुए हम अद्वैतवाद की इस पहेली को समझ सकते हैं कि घट और पट जो एक दूसरे से पृथक् हैं एक दूसरे की सत्ता को बाधित और खंडित करते हैं। शंकर की सृष्टि में दो तरह से विरोध हैं, प्रत्यक्ष और संभावित। सर्पाकार सत्ता की प्रतीति उससे अधिक प्रबल रज्ज्वाकार (रस्सी के आकार की) सत्ता की प्रतीति से कट जाती है। यहाँ एक वास्तविक प्रतीति दूसरी वास्तविक प्रतीति से खंडित हो जाती है। यह प्रत्यक्ष विरोध है। सामान्यतः इसीको असत्यता का चिह्न समझा जाता है। शंकर भी इसे मानते हैं। परंतु कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों (जैसे जेनो, कांट, ब्रैडले आदि) की तरह वे भी और एक प्रकार का विरोध मानते हैं। यह वहाँ होता है जहाँ कोई वास्तविक प्रतीति विचार के द्वारा बाधित हो जाती है अथवा एक विचार दूसरे विचार से बाधित हो जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर विकार या परिवर्तन को (जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है) असत्य मानते हैं, क्योंकि यह युक्ति द्वारा बाधित हो जाता है। इसी तरह वे यह दिखलाते हैं कि यद्यपि घट की प्रतीति से पट की प्रतीति बाधित नहीं होती तथापि घट और पट दोनो सत्ता के यथार्थ रूप से विरुद्ध पड़ते हैं। शुद्ध सत्ता वह है जो न केवल प्रत्यक्ष द्वारा अबाधित है किंतु अनुमान या युक्ति से भी अबाध्य है, क्योंकि उसका खंडन कल्पनातीत है। घट, पट आदि सविशेष प्रतीतियों में यह बात नहीं है। बल्कि सत्ता की भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीति होती है। इसी बात से इस संभावना का मार्ग खुल जाता है कि जिसकी एक रूप में अभी प्रतीति हो रही है उसकी बाद में दूसरे रूप में प्रतीति हो सकती है (जैसे अभी साँप के रूप में जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी रस्सी के रूप में प्रतीति हो सकती है)। प्रत्यक्ष अनुभव में परिवर्तन की यह आशंका और फलस्वरूप बाधित होने की संभावना प्रत्येक वस्तु की सत्ता को शंकाग्रस्त कर देती है। हमें इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं हो सकता कि अभी जिसे इस घट के रूप में देख रहे हैं, वह कभी ध्वंस रूप में नहीं दिखाई पड़ेगा। इस तरह घट-पट आदि भिन्न-भिन्न आकार की सत्ताएँ एक दूसरे से टकराती हैं जिससे किसी की सत्ता असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती। यदि यहाँ विशेषाकार की सत्ता नहीं लेकर केवल शुद्ध सत्ता का ग्रहण किया जाए तो कोई विरोध उपस्थित होने की

प्रत्यक्ष और संभावित विरोध

---

१ देखिए, छां० ६।२२, ब्रह्मसूत्र २।१।११ और गीता २।१६ पर शांकर-भाष्य।

संभावना नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में वस्तु मात्र की सत्ता अबाधित रहती है। विशेषों का विशेषत्व ही उसकी अकाट्य सत्यता का बाधक हो जाता है। निर्विशेष सं संदेह और बाधाओं से परे है।

(५) संसार के परिवर्तनशील विशेष विषयों की सत्ता की परीक्षा करते हुए शं उनका दुहरा रूप देखते हैं। ये विषय शुद्ध सत् नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये विकारशील हैं। किंतु ये वंध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् अथवा तुच्छ भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें भी सत्ता है जो उनके रूप में आभासित हो रही है। इस कारण ये न तो सत् कहे जा सकते हैं असत्। ये अनिर्वचनीय हैं। यह समस्त विषय-संसार और उसकी जननी माया अविद्या भी सत् असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीय

(ख) भ्रम-विचार

शंकर जगत् को माया या भ्रम समझते हैं अतएव उन्होंने (और उनके अनुयायियों ने भी) भ्रम की विशद विवेचना की है, विशेषतः इसलिए कि अन्यान्य संप्रदायों के भ्रम-विषय मत अद्वैतवाद के प्रतिकूल पड़ते हैं। मीमांसक-गण तो प्रत्यक्ष में भ्रम की संभावना मानते ही नहीं। कुछ पाश्चात्य वस्तुवादी दार्शनिकों की तरह उनका कहना है कि सभी ज्ञान यथार्थ हैं, कहीं भ्रम नहीं है। यदि यह विचार ठीक माना जाए तो अद्वैत की सिद्धि नहीं होती। अतएव अद्वैतवादी इस मत की आलोचना करते हैं। मीमांसकों का कहना है कि जिसे भ्रम कहते हैं (जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम) वह दो यथार्थ ज्ञानों का मिश्रण है। यह प्रत और स्मृतिज्ञान का सम्मिश्रण और इन दोनों के भेदज्ञान का अभाव (भेदाग्रह) है। इस विरुद्ध अद्वैतवादियों की ये मुख्यतः युक्तियाँ हैं। 'यह साँप है' ऐसा भ्रमात्मक विचार सूचित करता है कि यहाँ एक ही ज्ञान है। यह सत्य हो सकता है कि 'यह' पदवाच्य वस्तु के प्रत से पूर्वानुभूत साँप की स्मृति जग जाती है, परंतु यदि यह स्मृति इस प्रत्यक्ष के साथ मिल एक ज्ञान नहीं बन जाती (अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान विचार होते (१) 'मैं इसे देखता हूँ' (२) 'यह है' और (२) 'यह साँप था।' इसके विप पदवाच्य प्रत्यक्ष का विधेय (Predicate) है। अतएव 'यह' (प्रत्यक्ष वस्तु) और अभिन्न माना गया है। यहाँ केवल भेद ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है, परंतु प्रत्यक्ष व स्मृति पदार्थों की तादात्म्य-कल्पना भी है। यदि ऐसा तादात्म्यज्ञान (अर्थात् यह विश्वास कि 'यह वस्तु साँप है') नहीं रहता तो हम उस वस्तु से डरकर भागते नहीं। अतः इस मत का भ्रम को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मीमांसा मत का खंडन

प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रम हो सकता है इस बात को न्याय-वैशेषिक भी स्वीकार करता है। परंतु वह उसे एक अलौकिक प्रत्यक्ष की तरह मानता है जिसमें स्मृति का संस्कार (जै पूर्वभूत सर्प के सदृश रस्सी को देखकर उस सर्प का स्मृतिसंस्कार इतना प्रबल हो उठता है कि वह प्रत्यक्ष सा जान पड़ता है। इस वह जो वस्तुतः पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुआ था (जैसे अन्यत्र देखा हुआ स

न्याय-वैशेषिक मत का खंडन

उस संस्कार के द्वारा वर्तमान-कालिक ज्ञान बन जाता है। जो नित्य असत् है उसकी ी प्रतीति नहीं हो सकती। जिस सत् पदार्थ का भी पहले प्रत्यक्ष हुआ था उसीकी प्रतीति में हो सकती है। अतएव अद्वैतवादियों का यह कहना कि यह जगत् भ्रम-मात्र है समझ में आ सकता है जब किसी वास्तविक जगत् का भी पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हो चुका बिना इसके भ्रम की सिद्धि ही नहीं होती। यदि जगत् त्रिकाल मे असत् है तो इसकी प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए।

इसके उत्तर में अद्वैतवादी मुख्यतः ये युक्तियाँ देते हैं। वर्तमान देश-काल में किसी त देश-काल के विषय का प्रत्यक्ष होना असंभव है। स्मृति-संस्कार कितना ही प्रबल न हो उसमें 'तत्' ('वह') का भाव रहेगा, 'एतत्' ('यह') का नही। ('वह' में देश- की दूरता का भाव है, 'यह' सामीप्य अर्थात् 'यहाँ' और 'अभी' का सूचक है)। इस भ्रमात्मक विषय में जो वर्तमानत्व और साक्षात् प्रतीति का भाव रहता है उसकी ति नहीं होती। यदि यह कहा जाए कि स्मृति-ज्ञान प्रत्यक्ष के वास्तविक विषय को देश-काल से अलग कर हटा देता है तो यह भी असंगत होगा। किसी भी अवस्था में ो मानना ही पड़ेगा कि जो यहाँ और अभी वस्तुतः सत् नहीं है (जैसे साँप), वह सत् के भासमान हो सकता है और वह इस कारण कि हमें वर्तमान वस्तु (जैसे रज्जु) का न है। इन सब बातों को एक साथ मिलाकर अद्वैतवादी इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि न के कारण वास्तविक विषय के स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है और वहाँ विषयांतर तीति होती है जिसे हम भ्रम कहते हैं। वर्तमान स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं होना, कई णों से हो सकता है, जैसे दृष्टि-दोष, प्रकाश का अभाव, आदि। सादृश्य-ज्ञान और य स्मृतिसंस्कार के उद्बोधन से अज्ञान को भावरूप भ्रम (जैसे सर्प) की सृष्टि करने में ता पहुँचती है। यह भासमान विषय (सर्प) वर्तमान देशकालिक (यहाँ और अभी) त के रूप में विद्यमान है, यह तो मानना ही होगा। इसे अज्ञान की ही तात्कालिक एक कह सकते हैं। इस सृष्टि को सत् नहीं कह सकते क्योंकि यह पश्चात्-कालिक अनुभव ु के प्रत्यक्ष) से बाधित हो जाती है। इसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि यह कुछ के लिए (क्षण भर के लिए ही) प्रकट होती है। और जो वस्तु असत् है (जैसे वंध्यापुत्र) भी क्षणमात्र के लिए भी प्रकट नहीं हो सकती। अतएव अद्वैतवादी इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। भ्रम के विषय में यह मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहलाता है। यह वाद-सा मालूम हो सकता है। परंतु माया या भ्रम में रहस्य तो है ही। जो वस्तुवादी भाववादी हैं उनके लिए भी यह एक उलझन है। न्याय-वैशेषिक को भी इसे अलौकिक र करना पड़ा है।

यह संसार भी एक प्रकार का भ्रम है। उस भ्रम का कारण अज्ञान है। अज्ञान के

वाद का
त

कारण आवरण और विक्षेप होता है अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित होकर जगत् की प्रतीति होती है। यही वेदांत का मत है। फिर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि वास्तविक जगत् का पहले कभी नहीं हुआ तो फिर इस वर्तमान जगत् की प्रतीति ही कैसे हो सकती है। परंतु

अद्वैतवादी के लिए इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। क्योंकि कतिपय अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह वे भी मानते हैं कि सृष्टि का प्रवाह अनादि है और इस संसार के पहले असंख्य संसार हो चुके हैं। उनके संस्कार जीवों में रह जाते हैं।

अतएव शंकराचार्य 'अध्यास' (भ्रम) का अर्थ करते हैं—'पूर्ववर्ती अनुभव का परवर्ती आधार में अवभासित होना'।[1] उनका अभिप्राय है कि अज्ञान के कारण हम पूर्व जन्मों में अनुभूत ... ना विषयों का *शुद्ध सत्ता या ब्रह्म में आरोप करते हैं।*

यदि ... दि प्रवाह का सिद्धांत न भी माना जाए तो भी सत्ता का रूपांतर में प्रकट हो सकना भ्रमात्मक ज्ञान के आधार पर ही सिद्ध हो जाता है। प्रत्येक भ्रम में, एक विषय के स्थान में विषयांतर प्रकट होता ही रहता है। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि जिसकी अपनी वास्तविक सत्ता नहीं है वह भी सत् के रूप में प्रकट हो सकता है। अयथार्थ वस्तु भी सत् रूप में प्रकट हो सकती है, यह बात प्रत्येक भ्रम से सिद्ध होती है।

अद्वैतवाद का भ्रमविषयक सिद्धांत बौद्धमत के शून्यवाद या विज्ञानवाद से भिन्न है।

अद्वैतवाद शून्यवाद या विज्ञानवाद नहीं है

शून्यवादी कहता है कि शून्य (अर्थात् जो बिलकुल असत् है) ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है। विज्ञानवादी का मत है कि मानसिक विज्ञान या प्रत्यक्ष ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है। शंकर और उनके अनुयायियों का सिद्धांत है कि प्रत्येक विषय का आधार शुद्ध सत्ता है और यह आधार न तो शून्य है, न विज्ञानमात्र ही है।

यद्यपि स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था का संसार भ्रम की तरह अविद्या का परिणाम माना जाता है तथापि अद्वैतवादी यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम-प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। अतएव इनके कारणवश अज्ञान भी दो प्रकार के माने गए हैं। जिस मूल अविद्या के कारण व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह 'मूलाविद्या' कहलाती है। उसी के सदृश जिस अविद्या के कारण सर्पादि का तात्कालिक भ्रम उत्पन्न होता है, वह 'तूलाविद्या' कहलाती है।

अद्वैतवादी व्यावहारिक जगत् और प्रातिभासिक विषय (जैसे रज्जु में सर्प का आभास) दोनों को अविद्या द्वारा सृष्ट बाह्य विषय (Objective) मानते हैं। इस संबंध में अद्वैतवादी वस्तुवादियों से भी बढ़े-चढ़े हैं। भेद इतना ही है कि अद्वैतवादियों के अनुसार बाह्य विषय होने से ही यथार्थ भी होगा ऐसा आवश्यक नहीं और असत् होने से वह मन में ही है यह भी आवश्यक नहीं। होल्ट (Holt) प्रभृति कुछ आधुनिक नववस्तुवादी (Neo-Realists) भी ऐसा ही मानते हैं। पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर शंकर कहते हैं कि प्रत्येक विषय अविशेष और विकारशील होने के कारण विरुद्धात्मक है, अतएव यह शुद्ध सत्ता के अनन्त ऐकान्तिक निषेध रहित नहीं है।

(ग) शांकर मत की समालोचना

शंकराचार्य के इस मत पर अनेक प्रकार के आक्षेप किए गए हैं कि उनमें मुख्य यह है कि शंकर जगत् का उत्पादन नहीं करते, अपितु उसकी समस्या ही को उड़ा देते हैं।

---

1 देखिए, ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारंभ में अध्यास विचार।

र्शन का काम है जगत् का कारण बतलाना। यदि वह जगत् की सत्ता ही नहीं माने, तो फिर ह टिकेगा किस आधार पर? परंतु इस तरह की आलोचना कुछ छिछली-सी प्रतीत होती है। यह सत्य है कि दर्शन का काम है जगत् का (अर्थात् समस्त विषयों के समूह का) कारण बतलाना। परंतु इसका यह अर्थ नही कि दर्शनशास्त्र शुरू से ही इस बात को स्वीकार कर लेता है कि सामान्यतः जो संसार देखने में आता है वह पूर्ण सत्य है। दर्शन ामान्य ज्ञान और लोकमत की परीक्षा करता है जिससे उसका वास्तविक तथ्य निकल वे और सबसे सुसंगत विचार या सिद्धांत की प्राप्ति हो सके। शंकराचार्य ऐसी परीक्षा द्वारा इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि सभी प्रतीतियाँ एक समान विश्वसनीय नहीं हैं और सभी लोकमत परस्परविरोध से रहित हैं। एक प्रकार की प्रतीति दूसरी को बाधित ती और उससे सत्य होने का दावा करती है। कुछ अनुभव और विश्वास (अपने विशेष ों में) ऐसे हैं जिनका भविष्य अनुभव से विरोध पड़ने की संभावना है। अतएव दर्शन-त्र का काम है कि वह एक विश्वास और दूसरे विश्वास में, एक अनुभव और दूसरे अनुभव में, विवेचना कर प्रत्येक का उचित स्थान निर्धारण करे। इसी यौक्तिक आधार पर शंकर सामान्य अनुभवों का प्रकार भेद और स्थान-निरूपण करते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, यह पहले सभी प्रकट और संभाव्य विषयों को अप्रकट असत् (जैसे वंध्यापुत्र) से पृथक् ते हैं। पुनः उन्हें तीन कोटियों में विभाजित करते हैं—

(क्या शंकर जगत् को बिलकुल मिथ्या मानते हैं?)

(प्रकार तारतम्य और त्रिविध सत्ताएँ)

(१) वे विषय जो क्षण भर के लिए प्रकट होते हैं (जैसे स्वप्न, या भ्रम में) किंतु वाभाविक जाग्रत् अवस्था के अनुभवों से बाधित होते हैं। (२) वे विषय जो स्वाभाविक ग्रत् अवस्था में प्रकट होते हैं (जैसे परिवर्त्तनशील घट, पट आदि वस्तुविशेष, जो हमारे िक जीवन और व्यवहार के विषय हैं) परंतु जो तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक या बाधित े की संभावना रहने के कारण संपूर्णतः सत्य नहीं कहे जा सकते। (३) शुद्ध सत्ता जो ी प्रतीतियों में प्रकट होती है और जो न बाधित होती है और न जिसके बाधित होने की ावना ही हो सकती है।

यदि सभी प्रकार की प्रतीतियों के विषयों का नाम जगत् या संसार है, तो समस्त जगत् अथवा इसके प्रत्येक विषय को एक-सत्य नहीं कह सकते हैं। अतः, ऊपर जिन तीन टियों की सत्ता का वर्णन किया गया है, उनमें प्रथम प्रातिभासिक सत्ता, दूसरी व्यावहारिक सत्ता और तीसरी पारमार्थिक सत्ता कहलाती है। इस तरह संसार एक रूप नही है। तथापि जो यह जानना चाहते हैं कि जगत् (समष्टि-रूप में) क्या है, उनके लिए शंकर का यही उत्तर है कि यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है। परंतु यदि जगत् से केवल साधारण घट, पट आदिक विषयों को समझा जाए तो यह हना ठीक होगा कि केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है अर्थात् यह प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक सत्य और पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा कम सत्य है।

(प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक)

किंतु यदि जगत् से इसके सब विषयों के मूल अव्यभिचारी अधिष्ठान या कारण ब्रह्म को समझा जाए, तो शंकर जोर देकर कहते हैं कि जगत् अवश्य ही सत्य है। उनका कहना है—"जैसे कारणरूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में (भूत, भविष्य और वर्तमान में) रहती है, वैसे ही (सत्तारूपेण जगत् भी) त्रिकाल में सत्य नहीं खोती है। क्योंकि कारण-कार्य अभिन्न है।[1] पुनश्च नाना रूपनामात्मक विषय सत्तारूपेण सत्य हैं, किंतु अपने विशेष रूप में असत् हैं।[2]

व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत्य है

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शंकर व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य मानते हैं और विज्ञानवादी (Subjective Idealist) की तरह उसे विज्ञान मात्र नहीं मानते (जिसका अस्तित्व मन के भीतर ही सीमित रहता है)। विज्ञानवाद का खंडन देखने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।[3] उनका कहना है कि स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था के विषय स्वप्नविषयों की कोटि के नहीं हैं क्योंकि स्वप्न के विषय जाग्रत् अनुभव से बाधित होते हैं। अतएव जाग्रत् अनुभव अधिक सत्य है। घट, पट आदि बाह्य विषय जो साक्षात् रूप से मन के बाहर जान पड़ते हैं, मन के आभ्यंतरिक भावों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि ये विषय सबको समान रूप से दिखलाई देते हैं। परंतु विज्ञान का अनुभव केवल उसीको होता है जिसके मन में वे हैं। शंकराचार्य इस बात को भी स्पष्ट कर देते हैं कि यद्यपि वह स्वप्न के दृष्टांत द्वारा जगत् के स्वरूप का उपपादन करते हैं तथापि वह बाधित स्वप्न-ज्ञान और बाधक जाग्रत्-ज्ञान (जो व्यावहारिक जगत् का आधार है) में बहुत अंतर है। इन दोनों के कारण इस प्रकार भिन्न-भिन्न हैं, इसे भी वह मानते हैं।[4] प्रथम कोटि का अनुभव (जैसे स्वप्न या भ्रम) व्यक्तिगत एवं तात्कालिक अज्ञान से होता है। द्वितीय कोटि का अनुभव (जैसे नाना विषयों का प्रत्यक्ष) सार्वजनिक और अपेक्षाकृत स्थायी अज्ञान से होता है। प्रथम के लिए बहुधा 'अविद्या' और द्वितीय के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परंतु ये दोनों शब्द पर्यायवत् (भ्रमोत्पादक अज्ञान के अर्थ में) भी व्यवहृत होते हैं।

(२) ब्रह्म-विचार

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना जाता है और ब्रह्म को इसका मूलकारण, सृष्टिकर्ता,

तटस्थ और स्वरूप लक्षण

पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान कह सकते हैं। इसी रूप में उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म भी कहा जाता है। इसी रूप में ईश्वर की उपासना भी की जाती है।

---

१ देखिए, ब्रह्मसूत्र २।१।१६ "यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति।"

२ देखिए, छान्दोग्य ६।३।२ "सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं, स्वतस्तु अनृतमेव।"

३ देखिए, ब्रह्मसूत्र २।२।२८

४ देखिए, ब्रह्मसूत्र २।२।२९

परंतु ब्रह्म को जगत्कर्त्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता
र्यात्, जब तक हम जगत् को सत्य मानते हैं) । जगत्-कर्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण
केवल तटस्थ लक्षण है। अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता होना उनका औपाधिक गुण है;
विक स्वरूप नहीं।

एक दृष्टांत के द्वारा यह भेद स्पष्ट हो जाएगा।[1] एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा
र अभिनय करता है। वह देश जीतकर उसपर शासन करता है। अब वास्तविक
से वह व्यक्ति गड़ेरिया है। यह उसका स्वरूप-लक्षण है। किंतु नाटक की दृष्टि
राजा विजेता और शासक के रूप में प्रकट होता है। वह उसका तटस्थ लक्षण है।
त् ऐसा लक्षण है जो उसके असली स्वरूप को स्पर्श नहीं करता)।

इसी तरह ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (अर्थात् ब्रह्म सत्य
अनंत ज्ञान-स्वरूप है)।[2] जगत्कर्त्ता, जगत्पालक, जगत्-संहारक आदि विशेषण
का जगत् से संबंध है) उसके तटस्थ लक्षण मात्र हैं और केवल व्यावहारिक दृष्टि से
हैं। जिस प्रकार हम रंगमंच के पात्र को नट के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोण से भी
कते हैं, उसी तरह हम ब्रह्म को जगत् से भिन्न दृष्टिकोण से अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि
देख सकते हैं। तब जगत् के संबंध को लेकर जितने विशेषण हम उसमें लगाते हैं,
भी से वह परे हो जाता है। यही ब्रह्म का यथार्थ असली स्वरूप है। शंकराचार्य
परब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के इस यथार्थ स्वरूप को (जो जगत् से अतीत या परे हैं)
औपाधिक रूप को (जो जगत् से संबद्ध है) समझने के लिए शंकर मायावी का दृष्टांत
(जो श्वेताश्वर में वर्णित है)।[3] जादूगर केवल उन्हीं लोगों की दृष्टि में अद्भुत है
उसकी माया या छल से छले जाते हैं और उसके दिखलाए हुए इंद्रजाल को सच समझते
रंतु जो लोग उसके माया-जाल में नहीं फँसते और उसकी चालाकी समझ जाते हैं,
दृष्टि में वह जादू अद्भुत या आश्चर्यजनक नहीं रहता। इसी तरह, जो जगत् रूपी
-जाल के भुलावे में आ जाते हैं वे ईश्वर को मायावी या सृष्टिकर्त्ता के रूप में देखते
रंतु जो इने-गिने तत्त्वज्ञानी हैं वे समझते हैं कि यह संसार केवल धोखे की टट्टी है। न
वास्तविक सृष्टि है न वास्तविक सृष्टिकर्त्ता।

शंकर का मत है कि इसी प्रकार सामान्य अनुभव के आधार पर हम समझ सकते हैं
ह्म कैसे जगत् में व्याप्त भी है और इससे परे भी। जगत् जबतक भासित होता है
क वह एकमात्र सत्ता-ब्रह्म के ही आश्रित रहता है; जैसे रस्सी में आभासित साँप उस
के अलावे और कहीं नहीं रहता। परंतु जिस तरह उसी रस्सी में सर्पत्व की भ्रांति
रण कोई विकार नहीं आता अथवा जिस तरह नाटक के पात्र को राज्य की प्राप्ति
श से कोई यथार्थ लाभ-हानि नहीं होती, उसी तरह जगत् के सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि
ों से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता।

नट की उपमा के लिए ब्रह्मसूत्र २।१।१८ पर शांकर-भाष्य देखिए।
तैत्तिरीय २, १
ब्र० सू० भाष्य २।१।९

जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, रामानुज ब्रह्म के इन दो विभिन्न रूपों (विश्वगत और
विश्वातीत) का सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वे
असमंजस में पड़ जाते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म जगत् में रहते हुए भी जगत्
दोषों से रहित है। यह कठिनता केवल रामानुज को ही नहीं है। अधिकांश पाश्चात्य
ईश्वरवादी भी इस कठिनता में पड़ जाते हैं और सृष्टि को वास्तविक मानते हैं।

जैसे बाह्यजगत् वस्तुतः तत्त्वरूपेण ब्रह्म से अभिन्न है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से अभिन्न
है। अज्ञानवश इन दोनों में भेद-बुद्धि होती है, और जीव ब्रह्म को उपास्य समझता है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

ब्रह्म ईश्वर बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर की उपासना
इसलिए की जाती है कि उसे जगत् का कर्त्ता और स्वामी समझा जाता
है। इस तरह उपासना और उपास्य ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से
संबंध रखते हैं जिसके अनुसार जगत् सत्य प्रतीत होता है और ईश्वर तत्संबंधी
गुणों से युक्त मालूम होता है।

पारमार्थिक दृष्टि से जगत् या जीव के गुण ब्रह्म में आरोपित नहीं किए जा सकते।
यह सजातीय, विजातीय और स्वगत, सभी भेदों से रहित है। यहीं शंकर का रामानुज से
भेद पड़ता है। रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म में चित् (Conscious)
और अचित् (Unconscious) ये दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। शंकर का मत है कि निरपेक्ष
रूप में ब्रह्म सर्व उपाधियों से रहित है। अतएव वे परब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म मानते हैं। सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (ब्रह्म सत्य और अनंत ज्ञान-स्वरूप है) यह यद्यपि तटस्थ लक्षणों से अधिक
शुद्ध है और इसे स्वरूप लक्षण भी कहा जाता है, तथापि वस्तुतः यह भी सीधे-सीधे ब्रह्म का
ठीक स्वरूप नहीं बतला सकता। यह केवल इतना ही संकेत देता है कि ब्रह्म का स्वरूप असत्,
सांत और अचेतन नहीं है और इस तरह बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करता है।[1]

उद्देश्य (Subject) के संबंध में किसी गुण का विधान (Predication) करना
मानों उस उद्देश्य को सीमित कर देना है। तर्कशास्त्र के प्रतिवर्त्तन (Observation)

'नेति' का तात्पर्य

नियम से यह निष्कर्ष निकलता है। यदि 'क' 'ख' है तो वह 'अ-ख'
नहीं है। अर्थात् 'अ-ख' 'क' के बहिर्गत है। अतः 'क' उस द
तक सीमित है। यूरोप के एक बड़े दार्शनिक स्पिनोज़ा भी, इसी बात को स्वीकार करते
हैं। उनका सिद्धांत है—प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध। (Every determination
is a negation) अतएव उनका यह भी विचार है कि मूल द्रव्य (Substance) अनिर्धार्य
(Indeterminate) और अवर्णनीय है। उपनिषदों का भी यही सिद्धांत है। उनका
कहना है—'नेति-नेति'। अर्थात् ब्रह्म में यह गुण नहीं है, यह गुण नहीं है। इसी तरह
किसी गुण का—उपास्यता तक का—ब्रह्म में आरोप नहीं किया जाता।[2] इसी कारण
शंकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं।

---

1 देखिए, पृ० २११ पर भाष्कर-भाष्य।

२ केन १।५

पहले कहा जा चुका है कि संसार माया का फलस्वरूप है। अतः सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मायावी के समान कहे गए हैं। अज्ञानी मनुष्य समझते हैं कि सृष्टि सत्य है अतएव ब्रह्म वस्तुतः मायाविशिष्ट (सृष्टि की शक्ति से युक्त) है। परंतु वस्तुतः कर्तृत्व ब्रह्म का स्वाभाविक गुण नहीं है यह केवल बाह्य उपाधिमात्र है जिसको हम भ्रमवश ब्रह्म में आरोपित करते हैं। अतएव ब्रह्म केवल मायोपहित (माया की उपाधि से युक्त) है। सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म—ये दोनो ही एक हैं। जैसे नाट्यशाला के भीतर जो आदमी है वही नाट्यशाला से बाहर जाने पर दूसरा आदमी नहीं हो जाता। नटत्व उस मनुष्य का एक सामयिक उपाधि मात्र है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। जगत् की अपेक्षा से वह ईश्वर है। निरपेक्ष रूप से वह परब्रह्म है।

दैनिक जीवन में भी हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने के अभ्यस्त रहते हैं। अतएव यह अद्वैत-दर्शन की कुछ नई या विलक्षण वस्तु नहीं है। दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि

व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोण

सरकारी नोट जो वस्तुतः कागज मात्र है वह व्यावहारिक दृष्टि से धन है। फोटो वस्तुतः कागज होते हुए भी मनुष्य-सा दिखाई पड़ता है। दर्पण का प्रतिबिंब यथार्थ वस्तु-सा प्रतीत होता है परंतु असल में वैसा नहीं रहता। इस तरह से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। प्रतीत और वास्तविक रूप का यह सामान्य भेद लेकर वेदांत ने ब्रह्म और जगत् का संबंध समझाने की चेष्टा की है। इस तरह व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद न अस्वाभाविक है, न अगम्य। यह जीवन में प्रचलित भेद ही का एक प्रयोगमात्र है।

यद्यपि ईश्वर परब्रह्म का औपाधिक रूप मात्र है तथापि उसका महत्त्व हमें कम नहीं समझना चाहिए। निचली सीढ़ी के सहारे ही हम क्रमशः ऊपर चढ सकते हैं। उपनिषदों

ईश्वर का महत्त्व

और अद्वैत वेदांत का विश्वास है कि सत्य का साक्षात्कार क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा होता है। अविवेकी मनुष्य, जिसे यही संसार पूर्ण सत्य जान पड़ता है, इसके बाहर जाने की अथवा इसके कारण या अधिष्ठान का अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं समझता। जब उसे किसी तरह संसार की अपूर्णता का बोध हो जाता है तब वह उस तत्त्व की खोज करता है जो इस संसार की पृष्ठभूमि या आधार है। तब वह सृष्टिकर्त्ता और जगत्पालक के रूप में ईश्वर को ढूँढ़ निकालता है और श्रद्धा-भक्ति के साथ उसको पूजा करता है। इस तरह ईश्वर उपास्य हो जाता है। जब विचार इससे भी आगे बढ़ जाता है, तब (अद्वैतानुसार) हमें यह बोध हो सकता है कि जिस ईश्वर तक हम जगत् के सहारे पहुँच चुके हैं वही वास्तव में एकमात्र सत्ता है और जगत् केवल एक आभास मात्र है। इस प्रकार पहली कोटि में जगत् ही सत्य है। दूसरी कोटि में, जगत् और ईश्वर, ये दोनो ही सत्य हैं। तीसरी कोटि में, केवल ईश्वर (ब्रह्म) ही सत्य है। प्रथम मत निरीश्वरवाद (Atheism) है दूसरा मत रामानुज प्रभृति आचार्यों का ईश्वरवाद (Theism) है। तीसरा मत शंकराचार्य का अद्वैतवाद (Absolute Monism) है। शंकराचार्य इस बात को मानते है कि अंतिम कोटि पर एकाएक नहीं पहुँचा जा सकता। दूसरी कोटि के सहारे ही क्रमशः ऊपर चढ़ कर हम वहाँ तक पहुँच सकते हैं। अतएव

वे सगुण ब्रह्म की उपासना को भी महत्त्व देते हैं। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायता मिलती है। इसके बिना हमें विश्वव्यापी एवं विश्वातीत ब्रह्म का अनुभव नहीं हो सकता। शंकराचार्य देवताओं की उपासना की भी उपयोगिता मानते हैं; क्योंकि उससे अज्ञानी की नास्तिकता दूर होती है। इस प्रकार उपासना तत्त्वज्ञान के पथ में एक सोपान है।

अद्वैत ब्रह्मवाद की समर्थक युक्तियाँ

उपर्युक्त ब्रह्मविषयक विचार मुख्यतः श्रुतियों के आधार पर हैं। परंतु स्वतंत्र अनुभव और युक्ति के द्वारा भी उनका उपपादन किया जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर तर्क के द्वारा कैसे इन बातों को सिद्ध करते हैं—

युक्ति के द्वारा ब्रह्म का समर्थन

(१) संसार के सभी परिच्छिन्न और परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान (और उपादान) शुद्ध निर्विशेष सत्ता है।

(२) विषयों के परस्पर-बाधित होने के कारण पूर्णतः सत्य नहीं माने जा सकते।

(३) केवल शुद्ध सत्ता ही अनुभूत या संभाव्य विरोध से रहित होने के कारण एकमात्र निरपेक्ष सत्य है।

(४) शुद्ध सत्ता शुद्ध अपरिच्छिन्न या अनंत चैतन्य-स्वरूप है।

उपर्युक्त बातों से सूचित होता है कि यह निरपेक्ष सत् चित् ही उपनिषदों का सत्, ज्ञान, अनंत ब्रह्म है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप भी युक्ति-द्वारा सिद्ध किए जा सकते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, विषय-संसार के स्वरूप से युक्तियों के द्वारा हम शुद्ध सत्ता या ब्रह्म पर पहुँच जाते हैं। जब तक हम ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण नहीं करते तब तक जाग्रत अवस्था का व्यावहारिक जगत् ही वास्तविक सत्य प्रतीत होता है। हमारा सामान्य दैनिक जीवन इसी सहज विश्वास पर अवलंबित रहता है। परंतु जब समीक्षा के द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि अखिल विश्व का आधार शुद्ध सत्ता मात्र है तब प्रत्येक वस्तु में उसका अस्तित्व दिखलाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि प्रत्येक विषय में ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। यद्यपि यह जगत् अनेक नामरूपात्मक आभासित होता है तथापि इसका एकमात्र आधारतत्त्व ब्रह्म ही है।

परंतु जब इस बात का अनुभव होता है कि 'यद्यपि शुद्ध सत्ता अनेक रूपों में प्रकट हुई है तथापि युक्ति उन्हें यथार्थ नहीं मान सकती', तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्रह्म के मूल-कारण में ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है जो वह स्वयं अपरिणामी होते हुए भी अनेक रूपों में प्रकट होने को उत्पन्न करता है। धार्मिक भाषा के शब्दों में इस दार्शनिक तथ्य को आकार विशिष्ट सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कह सकते हैं। यही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर या सगुण ब्रह्म है। संहार में समस्त विषय नष्ट होकर रूपांतर में परिणत हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे सभी मूल-कारण-सत्ता में विलीन हो सकते हैं। इस प्रकार ईश्वर को जगत्कर्त्ता और संहारकर्त्ता भी कह सकते हैं, क्योंकि उसमें सांसारिक विषयों के विशेष रूप शांत हो जाते हैं।

सगुण ब्रह्म

परंतु और भी गंभीर विचार करने पर ज्ञात होता है कि सत् से असत् का संबंध सत्य नहीं हो सकता। अतः दृश्यमान जगत् के साथ ब्रह्म का संबंध जताने के लिए जो विशेषण उसमें आरोपित किए जाते हैं वे वास्तविक नहीं माने जा सकते। इस तरह निर्गुण ब्रह्म की कल्पना की जाती है जो सभी विशेषणों से परे है। यह निर्विशेष, निरवच्छिन्न, नानात्व से परे ब्रह्म ही परब्रह्म है।

निर्गुण ब्रह्म

इस तरह सामान्य अनुभव के सूक्ष्म विश्लेषण से युक्ति के द्वारा सगुण और निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन किया जा सकता है।

स्पिनोजा के Substance की तरह शंकर का ब्रह्म (निर्गुण या परब्रह्म) भी उपास्य ईश्वर से भिन्न है। अर्थात् उस ईश्वर से भिन्न है जो उपासक से पृथक्, सर्वोच्च गुणों से विभूषित, माना जाता है। अतएव यह आश्चर्य की बात नहीं। शंकर पर भी, स्पिनोजा की तरह, बहुधा निरीश्वरवादी होने का दोष लगाया गया है। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा गया है। यदि 'ईश्वर' का संकुचित अर्थ लिया जाए तो यह दोषारोपण ठीक है। परंतु यदि 'ईश्वर' का व्यापक अर्थ लिया जाए तो यह दोषारोपण उचित नहीं। यदि 'ईश्वर' से परम सत्ता का अर्थ किया जाए तो शंकर का मत निरीश्वरवाद नहीं, प्रत्युत आस्तिकता की परम सीमा है। निरीश्वरवादी केवल जगत् को मानता है, ईश्वर को नहीं। ईश्वरवादी जगत् और ईश्वर दोनों को मानता है। शंकर केवल ईश्वर ही को मानते हैं। उनके मत में ईश्वर (ब्रह्म) ही एकमात्र सत्ता है। इसे ईश्वर का निषेध कैसे कहा जा सकता है। यह तो ईश्वर को पराकाष्ठा पर पहुँचाना हुआ। आस्तिकों के मन में ईश्वर के प्रति जो भाव रहता है उसको यह मत पूर्णता पर पहुँचा देता है। क्योंकि यह उस अवस्था को लक्ष्य करता है जहाँ अहंकार और विषयों के परे केवल ब्रह्म का स्थान ही है। शंकर के मत को साधारण ईश्वरवाद से भिन्न नाम दिया जाए तो इसे 'निरीश्वरवाद' न कहकर 'परब्रह्मवाद' कहना अधिक संगत होगा।

क्या यह मत निरीश्वरवाद है?

सृष्टि-वर्णन के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म से मायाशक्ति द्वारा जगत् का क्रमिक विकास होता है अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की परिणति का आभास होता है। इस विकास-क्रम में तीन अवस्थाएँ होती हैं। (जिस तरह बीज से वृक्ष होने में)[1]—(१) बीजावस्था या अव्यक्त कारणावस्था, (२) अंकुरावस्था या सूक्ष्म परिणामावस्था, (३) वृक्षावस्था या स्थूल परिणामावस्था। वस्तुतः अपरिणामी ब्रह्म में ये परिणाम या विकार नहीं हो सकते। ये सभी परिवर्तन या विकास माया ही के हैं। यह माया या सृष्टि-शक्ति पहले अव्यक्त रहती है, तब सूक्ष्म विषयों में व्यक्त होती है, तत्पश्चात् स्थूल विषयों में। इस अव्यक्त माया का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर का नाम दिया जाता है। यह ब्रह्म का वह रूप है जो वास्तविक सृष्टि से पहले अव्यक्त माया को साथ रखता है। जब माया सूक्ष्म रूप से व्यक्त

ब्रह्म और माया
जगत् की उत्पत्ति

[1] देखिए, सदानंदकृत वेदांतसार।

ही से काम लिया जाता है। उसे तर्क की कसौटी पर कसना भी उचित नहीं। प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में सृष्टि की यह पहेली मानव-बुद्धि के कुतूहल की सामग्री रही है। संसार के समस्त धर्मग्रंथ तथा दंतकथाएँ इस बात के प्रमाण हैं। कभी-कभी दर्शन के साथ भी उनका सम्मिश्रण हो जाता है। पर बड़े-बड़े दार्शनिक इन पौराणिक कल्पनाओं से दूर ही रहते हैं। ग्रीन और ब्रैडले ने तो साफ स्वीकार किया है कि सृष्टि का 'क्यों' और 'कैसे' दर्शन की परिधि के बाहर है। इसी तरह, शंकर सृष्टि या विकास-क्रम के पीछे उतना नहीं पड़ते, जितना मूल-तत्त्व ब्रह्म के प्रतिपादन या परिवर्तनशील विशेष-विषयों के खंडन में। उनके मत में सृष्टि-विकास की कथाएँ, केवल निम्न स्तर की दृष्टि से सत्य हैं।

(३) आत्म-विचार

हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर का मत विशुद्ध अद्वैतवाद है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय में भेद, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद, ये सब माया की सृष्टि हैं। उनका विचार है कि वस्तुतः एक ही तत्त्व है और अनेकत्व मिथ्या है। सर्वत्र उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। अतएव उपनिषदों में बारंबार जीव और ब्रह्म की एकता बतलाई गई है उसका वे पूर्णतः समर्थन करते हैं।

आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है

मनुष्य शरीर और आत्मा के संयोग से बना हुआ जान पड़ता है। परंतु जिस शरीर को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वह अन्यान्य भौतिक विषयों की तरह माया की सृष्टि है। इस बात का ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कुछ अंतर नहीं। 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ है कि जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है अर्थात् दोनों में यथार्थतः अभेद-संबंध है। यदि 'त्वम्' से शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव-विशेष समझा जाए और 'तत्' से परोक्ष परम-तत्त्व या परब्रह्म का बोध हो तो 'तत्' और 'त्वम्' में अभेद-संबंध नहीं हो सकता। अतएव 'त्वम्' से जीव का अधिष्ठान रूप शुद्ध चैतन्य और 'तत्' से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिए। इन दोनो में पूर्ण अभेद है। यही वेदांत की शिक्षा है।

'तत्त्वमसि' का अर्थ

इस बात को समझने के लिए एक दृष्टांत दिया जाता है। किसी तादात्म्य-सूचक वाक्य को लीजिए। जैसे, 'यही वह देवदत्त है'। इस वाक्य से सूचित होता है कि देवदत्त को हम पहले एक बार देख चुके हैं, अब दूसरी बार देख रहे हैं। अब प्रथम बार देखे हुए देवदत्त में जो-जो औपाधिक गुण थे, ठीक वे ही सब द्वितीय बार देखे हुए देवदत्त में नहीं है। फिर भी हम कहते हैं 'यह वही देवदत्त है।' इसका अर्थ यह है कि तात्कालिक और एतत्कालिक इन दो विरुद्ध विशेषणों से रहित मनुष्य एक ही है। इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा के विषय में समझना चाहिए। 'तत्' शब्द का मुख्यार्थ है परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा ब्रह्म और त्वम् शब्द का मुख्य अर्थ है अल्पज्ञत्व अपरोक्षत्व, आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव, इन दोनो का विरुद्ध अंश त्याग करके उभयनिष्ठ शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करके दोनो का अभेद या ऐक्य समझना चाहिए। यही तत्त्वमसि महावाक्य

तत्त्वमसि-वाक्य का अभिप्राय

तात्पर्य है। और इस व्याख्या-प्रणाली को भागत्याग लक्षणा कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि तत्त्वमसि-वाक्य, पिष्ट-पेषण या निरर्थक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह बतलाता है कि जो आपाततः भिन्न प्रतीत होते हैं वे यथार्थतः एक हैं। जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अभिन्न हैं। इसी तादात्म्य का ज्ञान कराना तत्त्वमसि-वाक्य का तात्पर्य है।[1] आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक है। वह स्वतः प्रकाश, ज्ञानचैतन्य स्वरूप है। अनंत आत्मा सीमित जीवात्मा की तरह भासित होता है, इसका कारण है अविद्याजनित शरीर के साथ संबंध।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर

इंद्रियों के द्वारा जो स्थूल शरीर दिखलाई पड़ता है, उसके भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है जो अंतःकरण, प्राण और इंद्रियों का समूह है। मृत्यु में स्थूल शरीर का नाश होता है, सूक्ष्म शरीर का नहीं। सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। ये दोनों शरीर—स्थूल और सूक्ष्म शरीर—माया के कार्य हैं।

बंधन

अनादि अविद्या के कारण आत्मा भ्रमवश अपने को स्थूल या सूक्ष्म शरीर समझ लेता है। यही बंधन है। इस स्थिति में आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप (ब्रह्मत्व) भूल जाता है। वह स्वल्प, क्षुद्र, दुःखी जीव की नाईं संसार के क्षणभंगुर विषयों के पीछे दौड़ने लगता है, उनको पाने पर सुखी होता है और नहीं पाने पर दुःखी होता है। वह अपने को शरीर या अंतःकरण समझकर सोचता है—'मैं मोटा हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'। इस तरह आत्मा में 'अहंकार' ('मैं हूँ') भाव की उत्पत्ति होती है। यह 'अहम्' (मैं) अपने को शेष संसार से पृथक् समझता है। अतएव इस 'अहम्' को शुद्ध आत्मा नहीं समझकर उसका एक औपाधिक बंधन मात्र समझना चाहिए।

प्रमाण

आत्मा का ज्ञान भी शारीरिक उपाधियों के कारण सीमित या परिच्छिन्न हो जाता है। अंतःकरण और इंद्रियों के द्वारा ही विषयों का सीमित ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा परिच्छिन्न-विषय-ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब किसी इंद्रिय के द्वारा अंतःकरण उस विषय तक पहुँचकर तदाकाराकार हो जाता है। अर्थात् घट पटादि का आकार लेकर अंतःकरण वृत्ति उत्पन्न होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त, वेदान्ती पाँच प्रकार के परोक्ष ज्ञान भी मानते हैं—अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अद्वैतवादियों का इस विषय में भाट्ट मीमांसकों के साथ ऐक्य[2]

---

1 वेदान्तसार व वेदान्त-परिभाषा में इस महावाक्य पर और प्रकार की व्याख्याएँ देखिए।

2 इस विषय का विशेष विवरण डॉ॰ धीरेंद्र मोहन दत्त के Six Ways of Knowing में देखिए।

है। उनका प्रमाण विषयक सिद्धांत पहले ही वर्णित हो चुका है, अतएव यहाँ दुहराना अनावश्यक होगा।[1]

जब मनुष्य जाग्रत् अवस्था में रहता है तब वह शरीर और इंद्रियों को ही अपना असली रूप समझता है। निद्रित होने पर, स्वप्नावस्था में भी, उसे स्मृति-संस्कार-जन्य विषय-ज्ञान रहता है अतएव अहंकार बना रहता है। सुषुप्तावस्था में उसे किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता। विषयों के अभाव में उसका ज्ञातृत्व भाव भी लुप्त हो जाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद ही मिट जाता है। उसे यह भी भान नहीं रहता कि वह शरीर की परिधि में सीमित है। तथापि इस अवस्था में भी चैतन्य का नाश नहीं होता। नहीं तो जागने पर यह कैसे अनुभव होता है कि 'मैं खूब सुख से सोया', 'अच्छी नींद आई', 'कोई स्वप्न नहीं देखा'। यदि उस अवस्था में हम पूर्णतः अचेतन रहते तो फिर इन बातों की याद कैसे आती?

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाएँ

सुषुप्तावस्था के अनुभव से हमें आत्मा की उस अवस्था की झलक मिल जाती है जिसमें उसका शरीर से तादात्म्य-भाव दूर हो जाता है। आत्मा अपने प्रकृत रूप में स्वल्प दुःखी प्राणी नहीं होता। उसमें अहंभाव ('मैं हूँ') नहीं होता, जिसके कारण जीव अपने को 'मैं' मानकर 'तुम' या 'उस' से पृथक् समझने लगता है। सुषुप्ति में विषयों के पीछे दौड़ने से जो दुःख उत्पन्न होते हैं उन सबसे यह मुक्त रहता है। इससे जान पड़ता है कि यथार्थ में आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनंद स्वरूप है।

शंकर के आत्मविचार की समर्थक युक्तियाँ

आत्मा का उपर्युक्त विचार मुख्यतः श्रुतियों के आधार पर किया गया है। परंतु अद्वैतवादी इसे सामान्य अनुभव के आधार पर स्वतंत्र युक्तियों के द्वारा भी प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ मुख्य युक्तियों का संक्षेपतः दिग्दर्शन कराया जाता है। इस प्रसंग में पहले एक बात कह देना आवश्यक है। वह यह कि शंकर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए युक्ति देने की आवश्यकता नहीं समझते। आत्मा प्रत्येक जीव में स्वतः प्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं अनुभव करता।[2] परंतु इस 'मैं' के साथ इतने प्रकार के अर्थ जुड़े हुए हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिए सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क की जरूरत है।

आत्मा का अर्थ

इस विषय की विवेचना के लिए एक प्रणाली है शब्दार्थ का विश्लेषण। 'मैं' कभी-कभी शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे, 'मैं मोटा हूँ'। कभी-कभी 'मैं' का व्यवहार ज्ञानेंद्रिय के अर्थ में किया जाता है, जैसे, 'मैं काना हूँ'। कभी-कभी 'मैं' से कर्मेंद्रिय का बोध होता है, जैसे, 'मैं लँगड़ा हूँ'। कभी-कभी 'मैं' अंतः-करण के अर्थ में आता है, जैसे, 'मैं सोचता हूँ।' कभी-कभी 'मैं' ज्ञाता के अर्थ में व्यवहृत होता है, जैसे, 'मैं जानता हूँ।'

मैं और मेरा का अर्थ

---

१ अद्वैतियों का कहना है---व्यवहारे भट्टनयः।

२ देखिए, ब्रह्मसूत्र १।१।१

इनमें किसको आत्मा का असली तत्त्व समझा जाए? इसका निरूपण करने के लिए हमें सत्ता के वास्तविक लक्षण पर ध्यान देना चाहिए। जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहे वही उसका यथार्थ तत्त्व या असली सत्ता है।[1] इस

आत्मा का धर्म

प्रकार विषय-संसार की तह में जो यथार्थ तत्त्व है वह विशुद्ध सत्ता है क्योंकि जहाँ संसार की और सभी वस्तुएँ बदलती और नष्ट होती हैं वहाँ सत्ता प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है। इसी तरह, यह देखने में आता है कि शरीर, इंद्रिय, अंतःकरण आदि में जिस तत्त्व के कारण आत्मा उनसे अपना सर्वसंबंध मानता है, वह है ज्ञान। इसमें किसीके साथ आत्मा के तादात्म्य-भाव का अर्थ है किसी प्रकार का आत्म-ज्ञान, जैसे, 'मैं मोटा हूँ' (आत्मा का शरीर रूप में ज्ञान), 'मैं देख रहा हूँ' (आत्मा का इंद्रिय रूप में ज्ञान), इत्यादि। अतः आत्मा चाहे जिस रूप में प्रकट हो, ज्ञान उसका असली धर्म है। यह कोई विशेष-विषयक ज्ञान नहीं, बल्कि शुद्ध सामान्य चैतन्य है। इस चैतन्य को शुद्ध सत्ता-स्वरूप समझना चाहिए क्योंकि यह सभी प्रकार के ज्ञानों में विद्यमान रहता है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि विशेष प्रकार के भिन्न-भिन्न विषयक ज्ञान परस्पर बाधित होने के कारण आभासमात्र हैं, जैसे पहले हम देख चुके हैं कि घट, पट आदि विशेष विषयक सत्ताएँ परस्पर बाधित होने के कारण आभासमात्र हैं। 'मेरा शरीर', 'मेरा इंद्रिय', 'मेरा अंतःकरण'—आदि शब्दों के व्यवहार से भी उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि होती है। इन शब्दों से सूचित होता है कि आत्मा अपने को इनसे (शरीर, इंद्रिय, अंतःकरण आदि से) पृथक् कर इन्हें अपने से भिन्न बाह्य पदार्थ समझ सकता है। अतएव ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप नहीं कहे जा सकते।

यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि 'मेरा चैतन्य' ऐसा भी तो प्रयोग किया जाता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यहाँ षष्ठी विभक्ति का अर्थ संबंध नहीं, किन्तु यह ऐक्य ही सूचित करती है, जैसे, काशी की नगरी। ऐसे प्रयोग को औपचारिक (आलंकारिक) समझना चाहिए। 'मेरा चैतन्य' इस प्रयोग को मुख्य अर्थ में नहीं लिया जा सकता। क्योंकि यदि आत्मा अपने को चैतन्य से पृथक् समझने की चेष्टा करे तो यह भी एक विशिष्ट प्रकार का चैतन्य ही होगा। इस प्रकार 'मैं' और 'मेरा' की सूक्ष्म विवेचना करने पर शुद्ध चैतन्य ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्धारित होता है।

चैतन्य का स्वरूप

हम अपने दैनिक जीवन की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं की तुलना करने से भी उपर्युक्त सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं। आत्मा का यथार्थ चैतन्य इन तीनों में बराबर ही वर्तमान रहता है, अन्यथा आत्मा का अस्तित्व इन तीनों अवस्थाओं में कैसे रह सकता? पर, इन सभी अवस्थाओं में हम कोई-न-कोई समान तत्त्व पाते हैं। प्रथम अवस्था में बाह्य विषयों का ज्ञान रहता है। द्वितीय अवस्था में केवल आन्तरिक विषयों का स्वप्न-रूप में ज्ञान होता है। तृतीय अवस्था में विषय

1. देखिए, ब्रह्मसूत्र २।१।११ पर शांकर भाष्य। एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। गीता २।१६ पर शंकर-भाष्य—यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसत्।

विषय का ज्ञान नहीं रहता। परंतु तथापि चैतन्य का लोप नहीं होता। क्योंकि सुषुप्ति से जागने पर उस सुषुप्तावस्था के आनंद की (अर्थात् मैं खूब आराम से सोया) ऐसी स्मृति होती है। इस तरह जो तत्त्व स्थायी है वह है चैतन्य। हाँ, वह किसी खास विषय का ज्ञान नहीं। इस प्रकार देखने में आता है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है।

इस प्रसंग में दो बातें और विचारणीय हैं। एक तो यह है कि आत्मा का स्वरूप—चैतन्य विषयों पर निर्भर नहीं। अतएव यह समझना उचित नहीं कि ज्ञाता का किसी माध्यम के द्वारा विषय के साथ संपर्क होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान नित्य नहीं है, उसकी उत्पत्ति होती है, इस साधारण मत को हमें बदलना पड़ेगा। यदि आत्मा स्वतः स्थित और स्वतः प्रकाश चैतन्य है और प्रत्येक विषय भी (जैसा हम देख चुके हैं) स्वप्रकाश सत् चित् का एक विशेष रूप मात्र है, तो किसी विद्यमान विषय की अनुपलब्धि का एक ही कारण समझ में आ सकता है—कोई आवरण जो उस विषय के रूप को आच्छादित करता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रियादि के द्वारा आत्मा का विषय के साथ जो संपर्क होता है, वह इसी आवरण या बाधा को हटाने के लिए आवश्यक होता है, जैसे आवृत वस्तु को देखने के लिए उसका ढकना दूर कर दिया जाता है।

दूसरी बात यह कि आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में (सुषुप्तावस्था की तरह विषयों से निर्लिप्त) रहता है। शुद्ध चैतन्य-आनंद स्वरूप है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में भी यह आनंद कुछ न कुछ अंश में विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका रूप विकृत हो जाता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था के क्षणिक आनंद उसी सत् चित् आनंद के अंश हैं। मनुष्य को धन, स्त्री आदि प्राप्त होने पर आनंद होता है, क्योंकि वह उनको अपने में आत्मसात् करता है अर्थात् उसे अपना लेता है। इस प्रकार हरएक आनंद का मूल स्रोत आत्मा ही है। विषयानंद क्षुद्र और क्षणिक होता है क्योंकि आत्मा क्षुद्र और क्षणिक विषयों में अपने को सीमित करने से संकुचित हो जाता है। जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप (निर्विशेष शुद्ध चैतन्य जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त है) का ज्ञान हो जाता है तब उसे किसी विषय की आशंका नहीं रहती और वह केवल आनंदरूप हो जाता है।

शुद्ध चैतन्य आनंद स्वरूप है

उपर्युक्त युक्तियों से सिद्ध होता है कि उपाधि-रहित शुद्ध सत्ता जीव और जगत् दोनो में समान है। चैतन्य दोनो में विद्यमान रहता है, जीव में व्यक्त रूप से और बाह्य जगत् में अव्यक्त रूप से। अतएव जीव और जगत् दोनों का तत्त्व एक ही है। यदि जगत् और जीव का एक सामान्य आधार नहीं होता, तो जीव को जगत् का ज्ञान संभव नहीं होता। और, बाह्य विषयों के साथ उसका तादात्म्य-ज्ञान तो और भी असंभव होता। दूसरे शब्दों में, अनंत सत् चित् या ब्रह्म ही एकमात्र मूल तत्त्व है जिससे जीव और जगत् दोनों ही बनते हैं। ब्रह्म आनंद-स्वरूप भी है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में आत्मा का जो यथार्थ-स्वरूप—निर्विषयक शुद्ध चैतन्य—प्रकट होता है वह आनंदरूप भी है। आत्मा का जीव-विशेष

ब्रह्म ही जीव और जगत् का आधार है

जिसमें सभी विषयों से विरत हो जाने के कारण आत्मा को कुछ काल के लिए शांति मिल जाती है।

उपर्युक्त मत को प्रतिबिंबवाद कहते हैं। परंतु उसमें एक दोष यह है कि जीवों को प्रतिबिंबवत् मानने से मुक्ति का अर्थ हो जाएगा जीवों का नाश, क्योंकि अविद्यारूपी दर्पण नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिंब भी नष्ट हो जाएँगे। इस दोष का परिहार करने के लिए अर्थात् जीव की सत्ता को बचाने के लिए कुछ अद्वैतवादी एक दूसरी उपमा का सहारा लेते हैं। वह है घटाकाश (घड़े के बीच का आकाश) की। जैसे आकाश वस्तुतः सर्वव्यापी और एक ही है, फिर भी घटमठादि उपाधि-भेद से वह घटाकाश, मठाकाश आदि नाना रूपों में आभासित होता है और व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम आकाश का काल्पनिक विभाग करते हैं, उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी और एक ही है तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि-भेद से नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः विषय-विषय में, जीव-जीव में, कोई भेद नहीं क्योंकि मूलतः वे एक ही शुद्ध सत्ता मात्र हैं। यहाँ भ्रम है केवल सर्वव्यापी का सीमित रूप में अनंत का सांत रूप में आभासित होना। जीव सीमित सांत रूप में दृष्टिगोचर होते हुए भी वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है। मुक्ति का अर्थ है अविद्यामूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप हो जाना। इस मत को 'अवच्छेदवाद' कहते हैं।

अवच्छेदवाद

(४) मोक्ष-विचार

शंकर और उनके अनुयायी यह बतलाने की चेष्टा करते हैं कि आत्मा का शुद्ध स्वरूपा-स्थान कैसे संभव है। सुषुप्तावस्था का आनंद शाश्वत नहीं है; कुछ ही काल के अनंतर मनुष्य फिर अपने जाग्रत् चैतन्य की क्षुद्र परिधि में सीमित हो जाता है। इससे सूचित होता है कि सुषुप्तावस्था में भी कर्म या अविद्या की शक्ति [illegible] फिर संसार में खींच लाती है। जबतक इन पूर्वसंचित [illegible] जीव को इस दुःखमय संसार से मोक्ष पाने की [illegible]

[illegible]दांत का उद्देश्य

वेदांत का अध्ययन मनुष्य को इस अनादि अविद्या के बद्धमूल संस्कारों पर विजय [illegible]प्त करने में सहायता पहुँचाता है। परंतु यदि साधना से चित्त को निर्मल नहीं किया जाए तो केवल वेदांतोक्त सत्यों का अध्ययन करना निष्फल है। प्रारंभिक साधन मीमांसा-सूत्र का अध्ययन नहीं है, जैसा रामानुज मानते हैं। मीमांसा जो देवताओं के निमित्त यज्ञों का विधान करती है, वह [उ]पासक और उपास्य के मिथ्या भेद पर अवलंबित है। अतः उसकी विचार-धारा वेदांत अद्वैतवाद के प्रतिकूल पड़ती है। वह अद्वैत सत्य को ग्रहण करने के लिए चित्त को तैयार [न]ा करेगी, उलटे अनेकत्व और विभेद के मिथ्या भ्रम को और भी सुपुष्ट करती है।

[सा]धन-चतुष्टय

शंकर के मतानुसार वेदांत के वही अधिकारी है जो पहले साधन-चतुष्टय को अपनाते [हैं]। ये हैं—(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक (साधक को पहले नित्य और अनित्य पदार्थों [क]ी विवेचना करनी चाहिए), (२) इहामुतार्थ भोग-विराग (उसे लौकिक और पार-

लौकिक समस्त भोगों की कामना का परित्याग कर देना चाहिए), (३) शमदमादि साधन-संपत् (शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों से युक्त होना चाहिए)। शम का अर्थ है मन का संयम। दम का अर्थ है इंद्रियों का नियंत्रण। शास्त्र में निष्ठा रखना श्रद्धा है। चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना समाधान है। विक्षेपकारी कार्यों से विरत होने को उपरति कहते हैं। शीतोष्ण आदि सहन करने के सामर्थ्य को तितिक्षा कहते हैं, (४) मुमुक्षुत्व (साधक को मोक्ष-प्राप्ति के लिए दृढ़-संकल्प होना चाहिए)। उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होने पर ही कोई वेदांत का अधिकारी हो सकता है।[१]

श्रवण, मनन, निदिध्यासन

इस प्रकार इंद्रिय, मन तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर ऐसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर चुका हो। वेदांत के अध्ययन के लिए ये तीन बातें आवश्यक हैं—(१) श्रवण (अर्थात् गुरु के उपदेश सुनना) (२) मनन (अर्थात् उन उपदेशों पर युक्तिपूर्वक विचार करना) और (३) निदिध्यासन (अर्थात् उन सत्यों का बारंबार ध्यान करना)।

मोक्ष की प्राप्ति

पूर्व के संचित संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि एक बार वेदांत के अध्ययन मात्र से नष्ट नहीं हो जाते। बारंबार ब्रह्म-विद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण के अभ्यास से ही क्रमशः उन संस्कारों का क्षय हो सकता है। जब सभी मिथ्या संस्कार दूर हो जाते हैं और ब्रह्म की सत्यता में अचल निष्ठा हो जाती है तब मुमुक्षु को गुरु तत्त्वमसि (तू ब्रह्म है) वाक्य की दीक्षा देते हैं। तदनंतर वह एकाग्र चित्त से इस सत्य की अनुभूति करने लगता है और अंत में अपरोक्ष साक्षात्कार पा जाता है 'अहं ब्रह्मास्मि' (अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ)। इससे जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद छूट जाता है और उसी के साथ बंधन कट कर मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है।

जीवन्मुक्ति

मोक्ष के बाद भी शरीर रह सकता है क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल है। किंतु मुक्तात्मा पुनः कभी अपने को यह शरीर नहीं समझता। संसार का मिथ्या प्रपंच उसके सामने रहता है। परंतु वह फिर ठगा नहीं जाता। सांसारिक विषयों के हेतु उसे तृष्णा नहीं होती। अतएव उसे कोई दुःख अनुभव नहीं होता। वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त है। इस प्रकार का यह विचार परवर्ती वेदांत-साहित्य में "जीवन्मुक्ति" के नाम से विख्यात है।[२] इसका अर्थ है जीवितावस्था में ही मुक्ति पा जाना। बौद्ध, सांख्य, जैन और कुछ अन्य दर्शन भी इसी प्रकार की मुक्ति को संभव मानते हैं। मुक्ति स्वर्ग की तरह, मरणोत्तर अलौकिक सिद्धि नहीं। यह सत्य है कि साधक को पहले शास्त्रों में निष्ठा रखकर चलना पड़ता है, परंतु उसके विश्वास का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

---

१ देखिए, शांकर-भाष्य १।१।१

२ देखिए, शांकर-भाष्य, १।१।४ 'सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः [illegible]' [illegible] ४।१।१५— 'तस्य तावदेव [illegible]'

कर्म तीन प्रकार के होते हैं---(१) संचित (पूर्वकाल के वे कर्म जो जमा हैं), २) प्रारब्ध (पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फल-भोग हो रहा है), और (३) क्रियमाण या संचीयमान (वे नए कर्म जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं)। तत्त्व ज्ञान से संचित कर्म का क्षय तथा क्रियमाण कर्म का निवारण होता है और इस तरह पुनर्जन्म के बंधन से छुटकारा मिल जाता है। परंतु रब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फल-भोग करने के लिए यह शरीर 'जो प्रारब्ध का फल है') रह जाता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती तब उसका भी अंत हो जाता है। जिस तरह कुम्हार का चाक दंड उठा लेने पर भी कुछ तक घूमता रहता है और फिर घूमते-घूमते, वेग शांत होने पर, आप-से-आप रुक जाता। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अंत हो जाता है, तब जीवनमुक्त की जो अवस्था प्त होती उसे 'विदेह-मुक्ति' कहते हैं।

विदेह-मुक्ति

पारमार्थिक दृष्टि से मुक्ति न तो उत्पन्न होती है, न पहले से अप्राप्त है। यह प्राप्त ही प्राप्ति है। यह शाश्वत सत्य का अनुभव है। जो सत्य सर्वदा से है, (बंधन की अवस्था में भी जो सत्य अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है) उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। मोक्ष प्राप्ति की उपमा वेदांती यों देते हैं कि किसी के गले में पहले ही से हार है, परंतु वह कंठगत हार को भूलकर इधर-उधर ढूंढ़ता रता है, अंत में जब वह अपनी ओर देखता है तो हार मिल जाता है। इसी तरह मुमुक्षु मोक्ष-प्राप्ति के लिए कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, सिर्फ अपने को जानने की जरूरत है। बंधन अज्ञानकृत होता है, अतः इस अज्ञान का आवरण दूर कर ा ही मुक्ति है। इसके लिए और कई दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। जैसे एक राजपुत्र को गड़ेरियों ाला। वह भ्रमवश अपने को गड़ेरियों का पुत्र मानता रहा। जब वास्तविक ज्ञान हुआ ो वे अपने को राजपुत्र समझने लगा। इसी प्रकार एक बार दस व्यक्ति नदी पार कर थे। उस पार जाकर सबने बारी-बारी से गिनना शुरू किया, तो सभी की गिनती में हीं आए। सभी बहुत चिंतित हुए कि एक कहाँ खो गया। तब एक दर्शक ने गिननेवाले कहा कि 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् दसवें तुम्ही हो। तब गिननेवालों को अपना भ्रम मालूम ा कि गणना के समय वे स्वयं अपने को छोड़ देते थे। इस तरह 'दशम मैं ही हूँ' ऐसा न प्रत्येक को प्रत्यक्ष हो गया।

क्ति का स्वरूप

जीव और ब्रह्म की भेद-बुद्धि से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशों की निवृत्ति मात्र ही मुक्ति ी हैं। अद्वैतवादी उपनिषदों के अनुसार मोक्षावस्था को आनंद मानते हैं। मोक्ष का र्थ है ब्रह्मानुभूति।

यद्यपि मुक्त आत्मा को किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती तथापि वह इस तरह र्म कर सकता है, जिससे पुनः बंधन में नहीं फँसे। शंकराचार्य गीता के इस सिद्धांत को मानते हैं कि आसक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म ही बंधन का हेतु होता है। परंतु पूर्णज्ञान और पूर्णानंद प्राप्त कर लेने पर मनुष्य आसक्ति से क्त हो जाता है। उसे किसी वस्तु की चाह नहीं रहती। अतएव लाभ-हानि और हर्ष-

नासक्त कर्म

तो यह मानना ही पड़ता है कि सांसारिक विषय परस्पर-विरोधी और अनित्य होने के कारण
परम सत्य और परमार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। उनका वास्तविक तत्त्व कुछ दूसरा ही
है जिसका हमें अन्वेषण करना चाहिए। बुद्धि ही यह चाहती है कि हम अपने जीवन को
युक्ति के आधार पर उच्चतम सत्ता के अनुरूप बनावें और परमार्थ को प्राप्त करें। जैसे
बच्चा सयाना होता है तो अपने बदले हुए दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन बदल लेता
है। जो खिलौने उसकी दृष्टि में सबसे अधिक मूल्यवान प्रतीत होते थे वे ही अब अन्य
मूल्यवान पदार्थों के सामने तुच्छ मालूम होते हैं। अतएव जीवन का उच्चतर आदर्श के
अनुरूप पुनः संगठन करना व्यावहारिक जीवन को क्षति नहीं पहुँचाता वरन् जीवन को
और अधिक उच्च और पूर्ण बनाता है। पशु, बच्चे और असभ्य मनुष्य जिन वासनाओं से
[illegible] मान लिया जाए तो ठीक ही
[illegible] करने को कहता है। किंतु
[illegible] करता है जो जीवन में
[illegible]

रही जीवन-संघर्ष में सफलता की बात। वनस्पति-जीवन, पशु-जीवन और मनुष्य-
जीवन के क्षेत्रों में योग्यता और सफलता के भिन्न-भिन्न मानदंड हैं। मानव-जीवन में
प्रेम, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयांधता
की अपेक्षा अधिक मूल्य है। और इन सद्गुणों को वेदांत के इस सिद्धांत से कि 'सभी जीव
एक हैं', 'सर्व भूतों में एक ही आत्मा और सत्ता है, जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी और
किसी सिद्धांत में नहीं।' अतएव यह कहना कि व्यावहारिक जीवन पर वेदांत का बुरा
असर पड़ता है सरासर भूल है। वेदांत जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधनों पर जोर
देता है, उसका लक्षण है आत्मदर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् सब विषयों में ब्रह्म की
सत्ता देखना। जीवन के अविचारित अनुभव हमें इस ज्ञान से दूर ले जाते हैं, परंतु शुद्ध
विचार के द्वारा यह ज्ञान प्रतिष्ठित होता है।

शंकराचार्य का वेदांत उपनिषदों के एकत्ववाद का युक्तिसिद्ध परिणाम है। अपने
सभी गुण-दोषों के साथ, यह मानव-चिंतन के इतिहास में सबसे अधिक संगत अद्वैतवाद है।

उपसंहार

जैसा विलियम जेम्स[२] स्वामी विवेकानंद के द्वारा प्रतिपादित शांकर
वेदांत की प्रशंसा में कहते हैं—"भारतवर्ष का वेदांत संसार के सभी
अद्वैतवादों का शिरोमणि है।" यह सत्य है कि जो लोग सांसारिक नाम-गुणों के विषय में
अपनी अधूरी धारणाओं की पुष्टि के लिए दर्शन का मुँह जोहते हैं, उन्हें वेदांत से निराश
होना पड़ेगा। आदि बौद्ध और जैन दर्शनों की नाईं शंकर का अद्वैतवाद भी उन प्रौढ़
विचारवालों के लिए है जो दृढ़तापूर्वक युक्ति-मार्ग का अवलंबन करते हैं, चाहे वह जिस
परिणाम पर ले जाए। ऐसे इने-गिने साहसी लोगों के लिए ही वेदांत का दुर्गम मार्ग है
जो सामान्य अनुभव को उलट देता है और व्यावहारिक मूल्यों को तुच्छ बनाता है। परंतु
यद्यपि अद्वैतवाद का भी अपना एक खास आकर्षण और आनंद है। जैसा जेम्स[२] कहते हैं—

२ देखिए, William Jams का Pragmatism (पृ० १५१–४)

रामानुज इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषद् (श्वेताश्वतर) में ईश्वर को मायावी कहा गया है। इसका वे यह अर्थ लगाते हैं कि जिस अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा

माया का अर्थ

सृष्टि की रचना करते हैं वह मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है। माया का अर्थ है ईश्वर की 'विचित्रार्थ-सर्गकरी' (अद्भुत विषयों की सृष्टि करनेवाली) शक्ति। कभी-कभी माया से अघटन-घटना पटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।[1]

सृष्टि और जगत् भ्रममात्र है, रामानुज इस बात को स्वीकार नहीं करते। अपना इस समर्थन करने के लिए वे कहते हैं कि सभी ज्ञान सत्य होता है (यथार्थं सर्वविज्ञानम्)

ज्ञान सभी सत्य है

और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है। रज्जु-सर्प वाले भ्रम में भी यह बात है। जो तीनो तत्त्व (तेज, जल, पृथ्वी) सर्प में विद्यमान हैं वे ही रज्जु में भी। इसलिए जब वस्तुतः सत् समान तत्त्व परिलक्षित होता है तब हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वहाँ असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। प्रत्येक विषय के मूल उपादान सभी विषयों में वर्तमान रहते हैं, अतः उसी प्रकार से सभी भ्रमों की उत्पत्ति हो सकती है।

मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकराचार्य के बहुत दिन बाद हुए। अतः उन्हें शंकर तथा उनके अनुयायियों की आलोचना करने का अवसर मिला है। ब्रह्मसूत्र पर रामानुज ने भाष्य लिखा है वह रामानुज-भाष्य अथवा श्री भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य में उन्होंने वेदांत के

ज्ञान-विषयक शंका-समाधान

अनेक जटिल प्रश्नों की विवेचना की है। शंकर के मायावाद पर उन्होंने बहुत आक्षेप किए हैं। यद्यपि अद्वैतवाद की तरफ से उनका समाधान भी किया गया है, तथापि शंकर और रामानुज इन दोनो के दृष्टिकोण अच्छी तरह समझाने में उनसे बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ शंकर के मायावाद पर रामानुज के मुख्य आक्षेप और अद्वैतवाद की ओर से उनके संक्षिप्त उत्तर दिए जाते हैं।

जिस अविद्या या अज्ञान से संसार की उत्पत्ति होती है, उसका आधार क्या है अर्थात्

(१) अज्ञान का आधार क्या है ?

वह कहाँ (किसमें) रहता है ? यदि यह कहा जाए कि वह जीवाश्रित रहता है तो यह शंका उत्पन्न होती है कि जीवत्व तो स्वयं अविद्या का कार्य है, फिर जो कारण है वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है ? यदि कहा जाए कि अज्ञान ब्रह्माश्रित है तो फिर ब्रह्म को शुद्ध ज्ञान-स्वरूप कैसे कह सकते है ?

शंकराचार्य के अद्वैतमत की तरफ से इसका समाधान यों हो सकता है। अज्ञान को जीवाश्रित मानने से उपर्युक्त दोष तभी लग सकता है जब अज्ञान को कारण और जीव को उसका कार्य माना जाए। परंतु यदि ये दोनो एक ही वस्तु के दो परस्परापेक्ष सहवर्ती अंग मान लिए जाएँ (जैसे वृत्त और परिधि, अथवा त्रिभुज और उसके कोण) तो वह आपत्ति

---

[1] देखिए ब्रह्मसूत्र १।४।८।१०, १।१।३ और २।१।१५ पर श्री भाष्य, वेदांतसार और वेदांत-दीपिका (यहाँ गीता के अनुसार गुणों को प्रकृति से उत्पन्न धर्म माना गया है प्रकृति का तत्त्व नहीं।)

(५) भाव-रूप अज्ञान नाश कैसे हो सकता है? — यदि माया को भावरूप अज्ञान भी मान लिया जाए, तो यह प्रश्न उठता है कि तब ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होना कैसे संभव है? भावरूप सत्ता का ज्ञान के द्वारा नाश नहीं हो सकता।

इसके विषय में अद्वैतियों का यह कहना है कि दैनिक जीवन में हमें जो रज्जु-सर्प [illegible] (जैसे भ्रम) भावरूप से [illegible] [illegible] नष्ट हो जाता है। [illegible] [illegible] कोई असंगति नहीं है। इसी प्रकार रामानुज के अनुयायियों की तरफ से भी इनके [illegible]उत्तर दिए गए हैं। यह उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला अभी तक जारी है।

(२) ब्रह्म-विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्त्वों से [illegible] है। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतंत्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। परंतु उसमें जो जीव और प्रकृति हैं सो भी वास्तविक हैं। [illegible] है क्योंकि उसके [illegible] है। उसकी एकता [illegible]

(१) विजातीय भेद,—जैसे, गाय और भैंस में।

(२) सजातीय भेद—जैसे, एक गाय और दूसरी गाय में।

(३) स्वगत भेद—जैसे, गो के पुच्छ और सींग में।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय (विजातीय और सजातीय भेद) ब्रह्म में नहीं माने जा सकते। क्योंकि ब्रह्म का विजातीय या सजातीय कोई अपर पदार्थ नहीं। परन्तु उसमें स्वगत भेद का होना रामानुज मानते हैं, क्योंकि उसमें चित् और अचित्, ये दोनों अंश एक दूसरे से भिन्न हैं।

ब्रह्म सगुण है — ब्रह्म अनंत गुणों का भंडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कृपालु है। अतएव ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में जीव के हेय गुण (रागद्वेष आदि) नहीं पाया जाता[1] है, ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले हैं। जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब भी ब्रह्म में चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ये दोनो तत्त्व अपनी बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणामस्वरूप विषय बनते-बिगड़ते और बदलते रहते हैं परंतु उनका आधारभूत द्रव्य सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों के शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं परंतु उनके चित् तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक प्रकृति) से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों तथा भौतिक विषयों में व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है।

---

१ श्रीभाष्य १।१।१, 'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात् उपपद्यन्ते।'

नही होती । यदि अज्ञान को ब्रह्माश्रित माना जाए तो भी कोई दोष नहीं लगता । क्योंकि ब्रह्म को माया का आधार मानने का अर्थ है कि वह मायावी की तरह जीवों से अविद्या या भ्रम उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है । परंतु जिस तरह मायावी (जादूगर) स्वयं अपनी माया से ठगा नहीं जाता, उसी तरह ब्रह्म भी अपनी माया से अभिभूत नही होता ।

(२) अज्ञान ब्रह्म का नाश करनेवाला है

माना जाता है कि अज्ञान ब्रह्म को आच्छादित करता है । परंतु ब्रह्म स्वप्रकाश माना जाता है । यदि माया से ब्रह्म पर आवरण पड़ जाता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है और इस तरह ब्रह्म का लोप हो जाता है ।

इसके उत्तर में शंकर के अनुयायी कहते हैं कि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म का जो आवरण होता है उसके कारण अज्ञानी जीव को ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप नहीं दीखता । जैसे, मेघ से आच्छादित हो जाने से सूर्य का दर्शन नहीं होता । इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य का लोप हो जाता है । उसी तरह अज्ञान के कारण ब्रह्म का लोप नही हो जाता । स्वप्रकाशता का अर्थ यह नहीं है कि बाधा होने पर भी प्रकाश का आवरण नहीं हो । अंधा (नेत्र के अभाव में) सूर्य को नहीं देख सकता, इससे सूर्य की स्वयं-प्रकाशता नष्ट नहीं होती ।

(३) अज्ञान सत् है या असत्

अज्ञान का स्वरूप क्या है ? कभी-कभी अद्वैतवादी माया को सत् और असत् दोनों से विलक्षण, अनिर्वचनीय मानते हैं । यह असंभव है । क्योंकि अनुभव यही सिद्ध करता है कि सभी पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् । इन दो विरुद्ध कोटियों के अतिरिक्त तीसरी कोटि नहीं हो सकती ।

इसके उत्तर में अद्वैती का कहना है कि माया (तथा प्रत्येक भ्रम के विषय) को सत् कहा जा सकता है न असत् । उसकी प्रतीति होती है, इस कारण वह वंध्यापुत्र या आकाश-कुसुम की तरह असत् नहीं मानी जा सकती (जिसकी कभी प्रतीति नहीं हो सकती) । पुनश्च वह कालांतर के अनुभव से बाधित हो जाती है, अतएव वह ब्रह्म या आत्मा की तरह सत् भी नही मानी जा सकती (जो कभी बाधित नही हो सकता) । इसीलिए माया या भ्रम को सत् और असत् इन दो सामान्य कोटियों से विलक्षण समझा जाता है । माया को अनिर्वचनीय कहने का अर्थ है कि हम उसे किसी सामान्य कोटि में नहीं रख सकते । यहाँ विरोध का दोष भी नहीं लगता । क्योंकि 'सत्' का अर्थ यहाँ 'पूर्णतः सत्य' और 'असत्' का अर्थ 'पूर्णतः असत्य' है । परंतु इन दोनो के बीच में तीसरी कोटि भी संभव है, जैसे पूर्ण प्रकाश और पूर्ण अंधकार के बीच में ।

(४) अज्ञान भाव-रूप कैसे हो सकता है ?

अद्वैतवादी प्रायशः माया या अविद्या को भावरूप अज्ञान कहते हैं । परंतु ऐसा कहने का कुछ अर्थ नही होता । अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव । तब फिर वह भाव-रूप कैसे माना जा सकता है ?

इसका उत्तर अद्वैतवाद की तरफ से यों दिया जाता है कि अज्ञानमूलक भ्रम (जैसे रज्जु-सर्प भ्रम) में केवल वस्तु के ज्ञान का अभाव मात्र ही नहीं रहता, विपरीत का आभास (सर्प का भाव) भी रहता है । इसी अर्थ में माया को भाव रूप अज्ञान कहा गया है ।

(५) भाव-रूप अज्ञान का नाश कैसे हो सकता है ?

यदि माया को भावरूप अज्ञान भी मान लिया जाए तो यह प्रश्न उठता है कि तब ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होना कैसे संभव है? भावरूप सत्ता का ज्ञान के द्वारा नाश नहीं हो सकता।

इसके विषय में अद्वैतियों का यह कहना है कि दैनिक जीवन में हमें जो रज्जु-सर्प रीखे भ्रम हुआ करते हैं उनमें हम देखते हैं कि मिथ्या विषय (जैसे सर्प) भावरूप से प्रकट होता है और पुनः यथार्थ वस्तु (जैसे रज्जु) का ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। अतएव यहाँ कोई असंगति नहीं है। इसी प्रकार रामानुज के अनुयायियों की तरफ से भी इनके त्युत्तर दिए गए हैं। यह उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला अभी तक जारी है।

(२) ब्रह्म-विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनो तत्त्वों से युक्त है। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतंत्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। परंतु उसमें जो जीव और प्रकृति हैं सो भी वास्तविक हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैत कहलाता है क्योंकि उनके अनुसार चित् और अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। उसकी एकता भेद-रहित नहीं है। वेदांती तीन प्रकार के भेद मानते हैं।

(१) विजातीय भेद,—जैसे, गाय और भैंस में।

(२) सजातीय भेद—जैसे, एक गाय और दूसरी गाय में।

(२) स्वगत भेद—जैसे, गो के पुच्छ और सींग में।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय (विजातीय और सजातीय भेद) ब्रह्म में नही माने जा सकते। क्योंकि ब्रह्म का विजातीय या सजातीय कोई अपर पदार्थ नही। परंतु उसमें स्वगत भेद का होना रामानुज मानते हैं, क्योंकि उसमें चित् और अचित्, ये दोनो अंश एक दूसरे से भिन्न हैं।

ब्रह्म अनंत गुणों का भंडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कृपालु है। अतएव ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में जीव के हेय गुण (रागद्वेष आदि) नही पाया जाता[1] है, ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले हैं।

ब्रह्म सगुण है

जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब भी ब्रह्म में चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ये दोनो तत्त्व अपनी बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणामस्वरूप विषय बनते-बिगड़ते और बदलते रहते हैं परंतु उनका आधारभूत द्रव्य सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों के शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं परंतु उसके चेतन् तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक प्रकृति) से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों तथा भौतिक विषयो में व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है।

---

[1] श्रीभाष्य १।१।१, 'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात् उपपद्यन्ते।'

करते हुए रामानुज ईश्वर और जीव के भेद पर इतना जोर देते हैं कि वे भेदवाद के समर्थक से जान पड़ते हैं।[1] बादरायण सूत्र २।१।२२ पर उनका भाष्य देखने पर (कि ब्रह्म शरीरी जीव से भिन्न है) यह बात और पुष्ट हो जाती है। परंतु जब सूत्र २।१।१५ पर उनका भाष्य देखते हैं (कि कारण रूप ब्रह्म से जीव-जगत् अनन्य है) तो यह विचार पलट जाता है। रामानुज में ये दोनो विचार परस्पर विरोधी से जँचते हैं।

भेद, अभेद और भेदाभेद

परंतु जब सूत्र २।३।४२ पर उनका भाष्य पढ़ते हैं (कि जीव ब्रह्म का अंश मात्र है) तब यह विरोध मिट जाता है। क्योंकि वहाँ रामानुज स्पष्ट कहते हैं कि जीव को ब्रह्म का अंश मानने पर परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले श्रुतिवाक्यों का इस तरह सामंजस्य हो जाता है कि दोनो में भेद भी है और अभेद भी है अर्थात् जिस प्रकार संपूर्ण और अंश में भेद और अभेद दोनो हैं उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में भी समझ चाहिए।

अतएव रामानुज का यह मत प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीव और ईश्वर का संबंध भिन्न-भिन्न है। ईश्वर पूर्ण और अनंत है, जीव अपूर्ण और अणु है, इस दृष्टि से दोनो में भेद का संबंध है। जीव ईश्वर से अपृथक् है (और ईश्वर जीवों का आत्मा रूप है), इस दृष्टि से दोनो में अभेद, तादात्म्य या अनन्यत्व[2] का संबंध है। जीव ब्रह्म का अंश है, इस दृष्टि से दोनो में भेदाभेद का संबंध है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शनसंग्रह में कहते हैं कि रामानुज भेद, अभेद और भेदाभेद ये तीनो ही मानते हैं। काश्मीरक सदानंद भी अपनी अद्वैतब्रह्मसिद्धि में (पृ० १४३, २७०) पुनःपुनः रामानुज को भेदाभेदवादी कहते हैं।

परंतु इस सिद्धांत में भी शंका है। क्योंकि रामानुज ने कई जगह भेद, अभेद और भेदाभेद, इन तीनो का खंडन किया है।[3] इस तरह अंतिम मत भी विचलित हो जाता है।

रामानुज में पूर्ण अभेद और पूर्ण भेद का खंडन तो समझ में आ सकता है। परंतु भेदाभेद का वह क्यों खंडन करते हैं, यह शंका उदित होती है, क्योंकि वे तो स्वयं इस विचार को श्रुतियों से समर्थन करते हैं कि भेद और अभेद दोनो ही सत्य हैं। ज्ञात होता है कि भेदाभेद का खंडन करते समय दो तरह के प्रतिपक्षी उनके मन में हैं—

(१) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश वस्तुतः सर्वव्यापी आकाश से भिन्न नहीं है (परंतु सर्वव्यापी आकाश का उपाधि-परिच्छिन्न कल्पित रूप मात्र है), उसी प्रकार जीव सर्वव्यापी ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न नहीं है, परंतु ब्रह्म का एक कल्पित उपाधियुक्त रूप है। अर्थात् भेद कल्पित है, अभेद ही सत्य है।

(२) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव ब्रह्म का वास्तविक परिच्छिन्न परिणाम है।[4]

---

१ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१।
२. ये सब शब्द स्वयं रामानुजाचार्य के हैं।
३ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ और १।१।४
४ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१

अर्थात् जीव पहले से नहीं था। ब्रह्म में पहले भेद नहीं था। उसके परिणाम से भेद की सृष्टि हुई है।

प्रथम पक्ष के विरुद्ध रामानुज का यह आक्षेप है कि जब उपाधि कल्पना मात्र है तब जीव वस्तुतः ब्रह्म है, अतएव जीव के सभी दोष यथार्थतः ब्रह्म पर लागू हो जाते हैं। द्वितीय पक्ष के विरुद्ध उनकी यह युक्ति है कि जब ब्रह्म वस्तुतः जीव के रूप में परिणत हो जाता है तब जीव के समस्त दोष यथार्थतः ब्रह्म ही के दोष हैं। इन आपत्तियों का निराकरण करने के लिए रामानुज इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि चित् और अचित् ये दोनों ब्रह्म में नित्य वर्त्तमान हैं और सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न स्वरूप होते हुए भी नित्य अविच्छेद्य रूप से ब्रह्म से संबद्ध हैं। उनका ब्रह्म से वैसा ही संबंध है जैसा अंश का पूर्ण से, कार्य का उपादान कारण से या गुण का द्रव्य से।

रामानुज का आशय

रामानुज का आशय यह मालूम होता है कि जिस तरह पूर्ण कभी अंश नहीं हो सकता या द्रव्य कभी गुण नहीं हो सकता, उसी तरह ब्रह्म कभी जीव नहीं हो सकता। ब्रह्म नित्य ब्रह्म है और उसके अंतर्गत जो जीव हैं वे नित्य जीव हैं। परंतु यदि ऐसा मान लेते हैं तो फिर ब्रह्म जीव का (या जगत् का) कारण कैसे कहा जा सकता है? कारण का अर्थ है जिससे कार्य उत्पन्न हो। प्रायः 'कारण' से उनका अभिप्राय नियत पूर्ववर्त्ती नहीं होकर उपादान

ी जीवों या भूतों का

(अर्थात् यह नहीं कि

अपने सकल अंशों के

हित नित्य सत् है, वह कभी अंशरूप विशिष्ट जीव नहीं बनता और इसलिए उनके दोषों युक्त नहीं होता।

अंशी और अंश की इस उपमा से ब्रह्म जीवों के दोषों से मुक्त होते हैं या नहीं यह कहना तो कठिन है। परंतु इतना स्पष्ट है कि रामानुज का आक्षेप सभी भेदाभेदवाद विरुद्ध (जिसका उन्होंने सूत्र २।३।४२ के भाष्य में खुद समर्थन किया है) नहीं है ल्कि विशेष प्रकार के भेदाभेद के विरुद्ध है। उनके स्वीकृत भेदाभेद का अर्थ है "एकं स्तु द्विरूपं प्रतीयते।[1] प्रकारद्वयावस्थितत्वात् समानाधिकरणस्य।[2] (अर्थात् एक ही स्तु दो रूपों में दिखाई देती है) वे जिन मतों का खंडन करते हैं वे ये हैं। (१) एक ी वस्तु भ्रमवश दो रूपों में दिखाई पड़ती है और (२) एक ही वस्तु यथार्थतः दो बन ाती है। पूर्ण और अंश का भेदाभेद इन अर्थों में सही नहीं है। इनसे पहले जो कहा या है उस अर्थ में भेदाभेद रामानुज को मान्य है। संपूर्ण अंशी होते हुए भी अपने अंशों भिन्न है, तथापि उसकी सत्ता प्रत्येक अंश में रहती है, परंतु फिर भी वह एक ही है, नेक नहीं। (नहीं तो विभाजित हो जाता और पूर्ण नहीं रहता)।

रामानुज भेद और अभेद दोनों को सत्य मानते हैं। परंतु आधार द्रव्य के एकत्व ा उन्होंने जो प्रतिपादन किया है या अनेकत्व को जो उसपर आश्रित माना है, उसे देखते हुए जान पड़ता है कि उन्होंने भेद से अधिक अभेद पर ही जोर दिया है।

---

१ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ (पृ० १५०)
२ देखिए, श्रीभाष्य १।१।१ (पृ० ६४)

उपर्युक्त विचार हमें रामानुज और निम्बार्क (ये भी भेदाभेदवादी हैं) का भेद समझने में भी सहायता पहुँचा सकता है। जैसा घाटे कहते हैं—"निम्बार्क और रामानुज के मतों में बहुत समानता है। दोनों भेद और अभेद को वास्तविक मानते हैं। परंतु निम्बार्क के लिए भेद और अभेद, इन दोनों ही का एक ही महत्त्व है, ये दोनों एक ही स्तर के हैं। परंतु रामानुज अभेद को मुख्य और भेद को गौण मानते हैं।"[1] इसलिए जहाँ निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत कहलाता है वहाँ रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

भेद, अभेद और भेदाभेद के संबंध में रामानुज के मत को स्पष्ट करने के लिए कुछ लोग उनके मत को सामान्य कोटियों से परे एक निराली कोटि में रखते हैं, जिसको वे 'अपृथक् स्थिति' का नाम देते हैं।

शरीर और आत्मा

रामानुज के अनुसार मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य हैं। ब्रह्म के अचि अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य होता है वह भी ईश्वर का ही अंश है। शरीर और आत्मा दोनों ही अंश हो के कारण सीमित होते हैं। अतएव आत्मा को उपनिषदों में ज सर्वव्यापी कहा गया है उसका स्थूल अर्थ नहीं लेना चाहिए। उक्त वास्तविक तात्पर्य यह है कि आत्मा इतना सूक्ष्म है कि यह प्रत्येक अचित् या भौतिक तत् में प्रवेश कर सकता है।[2] रामानुज आत्मा को सर्वव्यापी नहीं मानते। इसलिए वे उ अणु मानते हैं क्योंकि यदि आत्मा को महत् या अणु—इन दोनों में कुछ भी नहीं मान जाए तो उसे सावयव वस्तुओं की तरह मध्यम-परिणामवाला और अतएव विनाशशील मानना पड़ेगा। आत्मा का चैतन्य औपाधिक नहीं अर्थात् शरीर संयोग पर आश्रित नहीं है चैतन्य आत्मा का गुण है और प्रत्येक अवस्था में उसमें विद्यमान रहता है। परंतु अद्वैत के समान रामानुज ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते हैं। ज्ञान आत्मा का धर्म है आत्मा धर्मी है। सुषुप्तावस्था में भी आत्मा को यह ज्ञान रहता है 'मैं हूँ'। इसी 'अहम् (मैं) शब्द के द्वारा सूचित होनेवाले पदार्थ को रामानुज 'आत्मा' कहते हैं।[3]

बंधन कर्मज होता है

आत्मा का बंधन कर्म का परिणाम है। कर्म के फलस्वरूप आत्मा को शरीर प्राप्त होता है। शरीरयुक्त होने पर आत्मा का चैतन्य शरीर और इंद्रियों से बद्ध हो जाता है। यद्यपि आत्मा अणुरूप है तथापि यह शरीर के प्रत्येक भाग को चैतन्ययुक्त कर देता है। जैसे, छोटा-सा दीपक संपूर्ण कोठरी को प्रकाशित कर देता है। उस चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा अपना रूप मानने लगता है। अनात्म-विषय में इस आत्म-बुद्धि को ही अहंकार कहते हैं। यही अविद्या है।[4]

---

१ देखिए V. S. Ghate का The Vedanta (पृ० ३२)
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
महद्भार. । सूक्ष्मतया" १।१।१

कर्म और ज्ञान द्वारा भक्ति का उदय होता है जिससे मुक्ति मिलती है। कर्म से
मानुज का अभिप्राय है वेदोक्त कर्मकाड (अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक
र्) । इनका आजीवन कर्त्तव्य-बुद्धि से (बिना स्वर्गादि प्राप्ति की कामना से) आचरण
ना चाहिए। इस तरह का निष्काम कर्म पूर्वजन्मार्जित उन संस्कारो को दूर कर देता
जो ज्ञान की प्राप्ति मे बाधास्वरूप होते हैं। इन कर्मों के विधिवत् संपादन के लिए
मीमांसा दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। रामानुज वेदांत के अध्ययन
क्ष का साधन से पहले मीमांसा का अध्ययन आवश्यक समझते हैं। मीमांसा के
अध्ययन तथा कर्मकांड के विधिवत् अनुष्ठान के अनंतर यह ज्ञान हो
ता है कि इन कर्मों से स्थायी कल्याण या मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। तब
धक को वेदांत की ओर प्रवृत्ति होती है। वेदांत उसे जगत् का वास्तविक तत्त्व
लाता है। तब उसे बोध होता है कि वह शरीर से भिन्न (आत्मा) है और वस्तुतः
वर का अंश है जो उसके अंतर्यामी हैं। यही ईश्वर या परमात्मा जगत् की सृष्टि,
नन और संहार करनेवाले हैं। तब उसे यह भी अनुभव होता है कि मुक्ति केवल
ययन और तर्क से नहीं होती, किंतु ईश्वर की करुणा से होती है।

कोरा वेदांत का अध्ययन केवल पुस्तकीय विद्या है और उससे मुक्ति नहीं मिल
ती। उपनिषदों का ठीक कहना है कि ज्ञान से मुक्ति मिलती है। परंतु यहाँ ज्ञान
का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द-ज्ञान नही है। यदि सो होता तो वेदांत
वर-भक्ति पढ़ लेने के साथ ही लोग तुरत मुक्त हो जाते। यथार्थ ज्ञान ईश्वर
र प्रपत्ति की ध्रुव स्मृति या निरंतर स्मरण को कहते हैं। यही ध्यान उपासना
या भक्ति है।[1] ज्ञान के साधन को कर्त्तव्य कर्मो का आचरण करते
निरंतर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। ईश्वर में यह अनन्य भक्ति ही ईश्वर में
त्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण लाती है। भक्ति और प्रपत्ति को मोक्ष का साधन माना
ता है।[2] यही मुक्ति का चरम साधन है। इससे समस्त अविद्या और कर्मों का
जनके कारण शरीर की उत्पत्ति है) नाश हो जाता है। अतएव जिस आत्मा को
मात्मा का साक्षात्कार हो जाता है वह सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह फिर
जन्म के चक्र में नहीं पड़ता। साधक की भक्ति प्रपत्ति से संतुष्ट होकर ईश्वर ही उसके
ं से बाधाओं को हटा देते हैं और उसे मोक्ष देते है।[3] जो ईश्वर की शरण में अपना
त्मसमर्पण कर देता है और उन्ही का अविरत चिंतन करते-करते उनमें तल्लीन हो
ता है, वह भवसागर को पार कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

"अतो……ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यं ज्ञानम्।" "वेदनम् उपासनं स्यात्।"
"उपासनापर्यायत्वात् भक्तिशब्दस्य।"—श्रीभाष्य १।१।१

यतीन्द्र मतदीपिका (पृ० ४०) "भक्तिप्रपत्त्योरेव मोक्षसाधनत्वस्वीकारात्।"

तत्र (पृ०३८) "भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एव मोक्षं ददाति"

मुक्ति का स्वरूप

[illegible] (ब्रह्मप्रकार) हो जाता है। उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, उसका यही अर्थ है।[१]

जैसा हम पहले देख चुके हैं, शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव का भेद-भाव नष्ट होकर उसका ब्रह्म हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा अपने को पूर्णतः परमात्मा में लीन कर देता है, जिससे अंततः केवल ब्रह्म या परम तत्त्व ही रह जाता है। इस विचार से अद्वैतवादी की धार्मिक भावना को संतोष होता है। किंतु रामानुज जैसे सगुण ईश्वर के उपासक को इतने ही से संतोष नहीं होता। भक्त के ईश्वर-प्रेम की पूर्ण संतुष्टि के लिए आत्मशुद्धि और आत्मसमर्पण तो आवश्यक है, परंतु आत्म-लय नहीं। भक्त के लिए सबसे बड़ा आनंद है ईश्वर की अनंत महिमा का अनवरत ध्यान; और इसी आनंद के उपभोग के लिए उसका अपना अस्तित्व आवश्यक है। समस्त प्रकार के अज्ञान और बंधनों से मुक्त हो जाने पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म-चिंतन का असीम आनंद अनुभव करता है।[२]

उपसंहार

---

१ "ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारता उच्यते।" श्रीभाष्य (पृ० ७१)

२ देखिए, श्रीभाष्य, चतुर्थ अध्याय का चतुर्थपाद।

ग्रंथ-चयन

चार्वाक-दर्शन

दक्षिणारंजन शास्त्री ... A Short History of Indian Materialism (Book Company, Calcutta)

" " ... चार्वाक-षष्टि (Book Company)

माधवाचार्य ... सर्व-दर्शन-संग्रह (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना)—चार्वाक-प्रकरण

हरिभद्र ... षड्-दर्शन-समुच्चय

वात्स्यायन ... काम-सूत्र, अध्याय १–२

राधाकृष्णन ... Indian Philosophy खंड १, अध्याय ५

जैन-दर्शन

उमास्वामी ... तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (जैमिनीकृत अँगरेजी अनुवाद के सहित The Central Publishing House, Arrah India)

सिद्धसेन दिवाकर ... न्यायावतार (सतीश चंद्र विद्याभूषणकृत अँगरेजी अनुवाद और भूमिका के सहित; The Indian Research Society, Calcutta)

मल्लिसेन ... स्याद्वाद-मंजरी (हेमचंद्र की टीका के सहित; ... चौखंबा संस्कृत सिरीज, वाराणसी)

हरिभद्र ... षड्-दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका के सहित (Asiatic Society, Calcutta); मणिभद्र की टीका के सहित (चौखंबा)—जैन-प्रकरण।

Hermann Jacobi ... The Jaina Sutras (अँगरेजी अनुवाद, Sacred Books of the East Series)

नेमिचंद्र ... द्रव्य-संग्रह (घोषाल कृत अँग्रेजी अनुवाद सहित; Central Jaina Publishing House, Arrah)

S. Stevenson ... The Heart of Jainism (Oxford University Press)

बौद्ध-दर्शन

Rhys Davids ... Dialogues of the Buddha (दो भागों में अँगरेजी अनुवाद, Sacred Book of the Buddhists Series)

Mrs. Rhys Davids ... Buddhism (Home University Library)

H. C. Warren ... Buddhism in Translations (Harvard University Press)

Yamakami Sogen ... Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University)

D. T. Suzuki ... Outlines of Mahayana Buddhism (Luzac and Co.)

B. M. Barua ... A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy (Calcutta University)

S. Radhakrishnan ... The Dhammapada (अंगरेजी अनुवाद; George Allen And Unwin Ltd.)

न्याय-दर्शन

जीवानंद विद्यासागर ... न्याय-दर्शन, वात्स्यायन के 'भाष्य' विश्वनाथ की 'वृत्ति' सहित (कलकत्ता)

" " ... तर्कसंग्रह, तत्त्वदीपिका और विवृति सहित (कलकत्ता)

केशव मिश्र ... तर्क भाषा (मूल ग्रंथ, अंगरेजी अनुवाद सहित; Oriental Book Supplying Agency Poona)

जरे ... कारिकावली (भाषापरिच्छेद) सिद्धांत-मुक्तावली दिनकरी और रामरुद्री सहित (Nirnaya Sagar Press, Bombay)

माधवाचार्य ... सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय ११

उदयन ... न्यायकुसुमाञ्जलि (मूल ग्रंथ, चौखम्बा; Cowell कृत अंगरेजी अनुवाद के सहित)

धर्म राजाध्वरींद्र ... वेदांतपरिभाषा, अध्याय १—३ वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

ब्रजेंद्रनाथ शील ... The positive Sciences of the Ancient Hindus (Longmans)—अध्याय ७

गंगानाथ झा ... न्याय-सूत्र, भाष्य और वार्त्तिक सहित (अंगरेजी अनुवाद, Indian Thought Allahabad)

राधाकृष्णन ... Indian Philosophy खंड २ अध्याय २

हरिमोहन झा ... न्याय-दर्शन, पुस्तकभंडार, पटना

वैशेषिक-दर्शन

प्रशस्तपाद ... पदार्थधर्मसंग्रह (चौखम्बा, बनारस)

श्रीधर ... न्यायकंदली (विजयनगरम् संस्कृत सिरीज मेजेरस एंड कंपनी, बनारस)

गंगानाथ झा ... पदार्थधर्मसंग्रह तथा न्यायकंदली का अंगरेजी अनुवाद (लेजेरस एंड कंपनी बनारस)

जगदीश तर्कालंकार ... तर्कामृत (कलकत्ता)

वल्लभाचार्य ... न्यायलीलावती (निर्णयसागर, बंबई)

लौगाक्षि भास्कर ... तर्क-कौमुदी (निर्णयसागर, बंबई)

माधवाचार्य ... सर्वदर्शनसंग्रह (वैशेषिकवाला अध्याय)

नंदलाल सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का अंगरेजी अनुवाद (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

प्रभुनाथ सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का हिंदी अनुवाद (बंबई)

J. C. Chatterjee ... The Hindu Realism (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद),

A. B. Keith	... Indian Logic and Atomism
हरिमोहन झा	... वैशेषिक दर्शन, पुस्तकभंडार, पटना
बलदेव उपाध्याय	... भारतीय दर्शन

सांख्य-दर्शन

कृष्णनाथ न्यायपंचानन	... तत्त्व कौमुदी (कलकत्ता)
कालीवर वेदांत वागीश	... सांख्य सूत्र (अनिरुद्ध वृत्तिसहित, कलकत्ता)
सूर्य नारायण शास्त्री	... ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका का अँगरेजी अनुवाद (मद्रास युनिवर्सिटी)
R. C. Bhatta	... सांख्य प्रवचन भाष्य (चौखम्बा, बनारस)
माधवाचार्य	... सर्वदर्शन संग्रह (सांख्य प्रकरण)
नंदलाल सिंह	... The Samkhya Philosophy, Indian Press
सर्वपल्ली राधाकृष्णन	... Indian Philosophy Vol. I, Chap. IV
सुरेंद्रनाथ दास गुप्त	... History of Indian Philosophy, Vol. I, Chap. VII
A. B. Keith	... The samkhya System
A. K. Majumdar	... The Samkhya Conception of Personality (Calcutta University)
रामगोविंद त्रिवेदी	... दर्शनपरिचय (सांख्यवाला अध्याय)
बलदेव उपाध्याय	... भारतीय दर्शन

योग-दर्शन

पूर्णचंद्र वेदांतचंचु	... योगसूत्र, भाष्य सहित (कलकत्ता)
कालीवर वेदांत वागीश	... पातंजल सूत्र, भोजवृत्ति सहित (कलकत्ता)
माधवाचार्य	... सर्वदर्शन संग्रह (योगवाला अध्याय)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन	... Indian Philosophy, Vol. II, Chap. V
सुरेंद्रनाथ दास गुप्त	... The Study of Patanjala Yoga as Philosophy and Religion (Kegan Paul)
G. Coster	... Yoga and Western Psychology (Oxford University Press)
N. K. Brahma	... The Philosphy of Hindu Sadhana (Kegan Paul)
हरिहरानंद आरण्य	... पातंजल योगदर्शन
रामगोविंद त्रिवेदी	... दर्शनपरिचय (योगवाला अध्याय)
बलदेव उपाध्याय	... भारतीय दर्शन (योगवाला अध्याय)
कल्याण	... योगांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)

मीमांसा-दर्शन

जैमिनी	... मीमांसासा सूत्र (सावर भाष्य सहित)
कुमारिल भट्ट	... श्लोक वार्तिक
गंगानाथ झा	... जैमिनी के मीमासा सूत्र का अँगरेजी अनुवाद (प्रयाग)

गंगानाथ झा ... श्लोकवार्त्तिक का अंगरेजी अनुवाद (प्रयाग)
" ... Prabhakar School of Purva Mimamsa (Allahabad)
पार्थसारथि ... शास्त्रदीपिका, तर्कपाद (निर्णयसागर, बम्बई)
शालिकनाथ ... प्रकरणपंजिका (चौखम्बा, बनारस)
पशुपतिनाथ शास्त्री ... Introduction to the Purva Mimamsa (Calcutta)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosphy, Vol. II, Chap. VI
A. K. Keith ... Karma Mimamsa
बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन (मीमांसा प्रकरण)

वेदांत-दर्शन

V. L. Sastri ... One Hundred and Eight Upanishads (Nirnaya Sagar, Bombay)
Hume ... The Thirteen Principal Upanishads (English Translation)
R. D. Ranade ... A Constructive survey of Upanishads Philosophy (Poona)
Deussen ... The Philosophy of The Upanishads
शंकर ... ब्रह्मसूत्रभाष्य (निर्णयसागर, बंबई)
रामानुज ... " " (श्रार० वेंकटेश्वर कं०)
G. Thibut ... The Vedanta Sutras (With the Commentaries of Sankara and Ramanuja English Translation S. B. E. Series)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy, Vol. II, Chap. VII-IX
M. N. Sarkar ... The System of Vedantic Thought and Culture (Calcutta)
कोकिलेश्वर शास्त्री ... The Introduction to Advaita Philosopy (Calcutta)
S. K. Das ... A study of Vedanta (Calcutta)
W. S. Urquhart ... The Vedanta and Modern Thought (Oxford University Press)
R. Das ... The Essentials of Advaitism (Lahore)
V. S. Ghate ... The Vedanta (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona)
M. Hiryanna ... Outlines of Indian Philosophy
बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन (वेदांतवाला अध्याय)
सूरजमल मिमाणी ... ज्ञानरत्नाकर
" ... दर्शनतत्त्वरत्नाकर (२ भाग)
गंगाप्रसाद उपाध्याय ... अद्वैतवाद
कल्याण ... वेदांतांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)